

भीमम्—मल्लभाचार्य—बृहस्पति—विश्वामित्र—वोदसा—अन्त्यात्मर्षी—द्राक्षसा—जमीरुती—अन्धी—

जलभेदः

पतसुभिष्योक्ताभिः समस्तैस्तुतः

- | | |
|----------------------|-----------------------|
| १. भीमपापराज्यात्मम् | ३. भीमात्मभाताम् |
| २. भीमुरभीसमानात् | ४. भीमात्मकृष्णा नाम् |

परिशिष्टव्रीकैः

१. 'पूर्णा मयव्रीक' इत्यत्र श्रीहूरिरायाणा स्वतन्त्रव्रीक
२. 'द्वीप व्यास' इत्यत्र श्रीकाणा स्वतन्त्रव्रीक

पञ्चपद्यानि

च

54805

टीकाद्वयसमल्लुप्तानि

- | | |
|----------------|-------------------|
| श्रीहूरिरायाणा | २. भीमुरभीसमानात् |
|----------------|-------------------|

भीमम्—मल्लभाचार्य—बृहस्पति—विश्वामित्र—वोदसा—अन्त्यात्मर्षी—मियरु—जमीरुती—अन्धी—

१००८ श्रीमल्लभाचार्य—बृहस्पति—श्रीमन्मिया—मयूरी—टीका—श्रीमती

—रत्नप्रसा—मयूरी—महाराजश्रीलेखाभि—मन्मन्मिती.



गोस्वामिजी १००८ श्री-सुन्दरलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमहाचार्यधरणीकमलैश्वर्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

अलभेद तथा पञ्चपद्यानि इत्येव एव कदा और विधाने लिप् लिखे गये इत्यादि विवरण कही मिलना नहीं है।

अलभेदमे अक्षरपद्यानि पद्याके उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं, तथा पञ्चपद्यानिमे श्रीगुरुके उत्तम मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं। यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका श्री मन्थे-विषय मद्धी है फिरभी सर्वज्ञमे होना इत्ये प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करने में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

भागवतके प्रथम स्कन्धमे स्वयम् भागवतके पद्या तथा श्रीगुरु के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारीका निरूपण किया गया है। जयवि इव अलभेद और पञ्चपद्यानि मे भागवतोक्त धर्म धारणानि तथा निर्गुना धर्मि के अवकृत, भगवान्‌के स्वयम् गुण एवम् श्रीगुरु के स्वयम्-स्वरूप-श्रीगुरुके अर्पित, भगवान्‌ तथा श्रीगुरु के उत्तम मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विशेषण किया गया है। महा भागवतपुराणके प्रवचन वा स्वयम् का प्रश्न नहीं है। अविष्ट भागवतानुसार ही भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् श्रीगुरु के स्वयम्-स्वरूप-श्रीगुरुके एक व्यापक सम्बन्धमे ही श्रीमहाप्रभु अलभेद तथा पञ्चपद्यानि प्रवचना उपदेश दिया है। अतएव भागवतके लिप् श्रीमहाप्रभु आता करते हैं—

पदीपनिषद गाल श्रीभागवतमेव वा।

कनिष्ठमेव कश्चि स्वात्मश्रीगुरुग्राह्य ततोऽप्यथ ॥

(भाग नि ३।१७८)

अर्थ श्रीपनिषद तथा श्रीभागवतके ज्ञान का अधिकार उपनयन संस्कारवाले द्वितीयका ही होता है—अनुमनीत स्त्री वा सुद्री का नहीं।

आजकाल कल निकली कदा एकत्रित करनेके लिए होते मानवता सत्ताहरी हृदयवाचक रीतिसे विवरित भागवतके प्रवचन और स्वयम् के गुण सम्बोधन विषय श्रीमहाप्रभु श्रीगुरुके हैं। अतएव आता करते हैं कि 'भागवत प्रसन्नो न स्यात्कर्मविन्दु यत्कर्मविन्दु कर्मव्य निन्दु महाप्रभुकेव मह्य' सुद्धास्त्रीमेनिष्ठा प्रार्थक्यसुद्धास्त्री प्रवचन करनेवा एतादृशीनि श्रीगुरु न सहसा भागवत वक्तव्य निन्दु कदाप्रवचनवाह्येन रीतिरिष्य सदा' (भाग- नि १।१५२-१५५) अर्थ जैसे मनमे आये वैसे, महा मनमे आयेमे पड़ी, भागवतका प्रवचन छेद नहीं देना चाहिये निन्दु अनेक महाप्रभु श्रीगुरुगुरुनिष्ठ सुद्ध श्रीगुरु द्वारा आर्पण किये गयेपर ही भागवतका प्रवचन छेदना चाहिये फिर ऐसीके सम्मुख भी सहसा नहीं—सहसे श्रीगुरुके हृदिक उत्तरवा एवम् निन्दानुता की अन्धी तरह पहचान कर ही प्रवचन छेदना चाहिये अर्थात् प्रवचनकर्ताआती पड़ी रीति श्री और आता भी तथा सर्वदा पड़ी रीति हमे निम्नानी चाहिये श्रीगुरुवाचनकी कहते हैं कि इसके विवरण जब कश्चित्करी श्रीगुरुपदीतिष्ठा, पदनिष्ठा

या तर्पण के बर्णोन्मूत होकर एकत्रभूतो मानवसमूहमनने बोध अविचारो मान बैठते हैं और वन-जल-सर्वत्र प्रचलन करने लग जाते हैं जो मानवसमूहके प्रचलन वाहन या वाहन का अविचार तो दूर मानवजीवन धर्म शास्त्रके अधिकांश भी ने यह नहीं चाहे है— “ये पुनरेतानि मानवास्तु-भिरप्यवधारिता वास्तविकारथावादर्भन्ति तेषां भावस्योदितोपपत्तेन श्रीमान्मन्त्रमर्त्यैव्यवस्थि-कारं किं पुनः पाठे... ननु मानसोद्य या विषयभावात्” (भाष्यतः १.१.१२८)

यह अन्तमेर और मन्त्रशास्त्रि ने किन्तु जिस वस्तु या श्रोताको आदर्श माना गया है उसका जननीय या रिज होना अविचार्य नहीं है क्योंकि इस वस्तुका केवलि मानवीय प्रचलनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है केवलरि मानवसि अविचर भवकलमन्त्र-मूल-श्रोताके विषयसि अद्विज विमलमे सर्वत्र उत्तर होना ही यहा चर्चित है मानवसमूह माने है कि

सुदाम्भिरासौ मन्त्रावधारितासौ

श्रीमान्मन्त्रिणसीकमन्त्रकाराणि ।

मानात्मन्यन्तस्य मन्त्रीकितानि च—

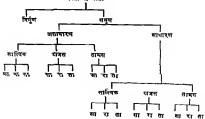
मनुष्यसि मादन्ति पुनरिति वाच्यम् ॥

जबे मन्त्रोके मुक्तते कि वन बायो, लौकिक भाषाके माने गये गीति-यद अथवा सगुण बापाने माने गये गीतिगोविन्द जैसे बालक, मानिसमूहके सभी शास्त्रोके मन्त्र कर बैठे हैं यह सम्भव है कि इनके साथ व्याकरणकी दृष्टिके कुछ मुटिमा ही अथवा मानेकी शक्तियाने भवक-भाषाके अक्षरोका मानकर मान करनेमे बरकर मनुष्यसि दृढ़ माना हो पर मन्त्रकीति मन्त्रकारो परोक्षित अन्तस नाम अस्मिन्मान् मन्त्राकीके मुक्तते कुछे मानेपर या अस्मिन्मान् श्रोताकीके सम्मुख माने मानेपर अथवा एकत्र भू भी एकत्रिजवात तिये मानेपर यदि मानवीकी दूर कर बैठे हैं (पृष्ठी १७, १११)

मन्त्रस्य मानवसमूहमे वनज और श्रोता के उदीय और माने गये है यथा

अधिकांश

मन्त्रा या श्रोता



इस वर्गीकरणमें निर्भूत अधिकारी उक्त माना गया है अर्थात् अधिकारीके सांत्विक-सांत्विक राजस्व-सांत्विक यदि भी भेद होते हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं, इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वीकट रीतिके अनुसार भी भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है यह उक्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा में स्थित वैराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभववर्षवशात्की अवेज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल आध्यात्मिक ज्ञान) की चारों कक्षाओंपर अर्धे उत्तरनेवाले को उक्तम, अनुभववर्षवशात्की अवेज्ञान तथा अस्थिर रहनेपर भी वैराग्यपरहित होनेपर मध्यम; तथा वैराग्यपरहित केवल सांत्विक ज्ञान एवम् अधिकृतवाले अधिकारीको कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है।

सबुद्धिमान ही उसके भेद भी सुबोधनीय उन्नीस ही माने गये हैं, जहां श्रीमद्भाग्यम् यह विवेचन करते हैं कि "उन्नीस भेद होनेपर भी बहुतों द्वारा जल और शिवर जल में ही सुप्त भेद है" (दृ. सु. १०।१।३) जबकि वहां जल और वस्तुमान दोनोंके बीच भेद स्वीकारे गये हैं इसमें भी वही सिद्ध होता है कि प्रथम स्थानमें नियतित अधिकारभेद केवल भाग-जलके सम्बन्ध ही विवक्षित है जबकि वहां भगवत्कृत्य भगवद्भुज या भगवद्भुजता का भागवत्कृत्याधी या भागवत्-अधिराधी होना अनिवार्य होनेके, वत्ताका भी भागवत्कृत्याधी या भागवत्-अधिराधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतद्वत् प्रत्येक वत्ताका भागवत्कृत्याधी या भागवत्-अधिराधी होना आवश्यक नहीं है वहां तो भुक्तिमार्गीय भोताकी भगवत्कृत्याधी अवस्था-स्मरण-कीर्तन की वत्ताके सत्त्विय द्वारा सम्पन्न करना चाहिये वही विवक्षित सम्बन्ध है अतएव भोताके भी उन्नीस भेद व विज्ञातकर केवल हीन या चार भेद ही विवक्षये गये हैं अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षात्रयुक्त मानना चाहिये।

काल उपाधवचनकी अनिवार्यता उक्त उपलक्षण-सम्भार या द्विजय अवस्था पुरुष होना भी वहां अनिवार्य नहीं लगता है, परन्तु इसके लिये अर्ध-पुरुष की भागवत्के वत्ताकी उक्तम-सत्त्विक परिचायक हैं तथा उक्तका स्वतन्त्रताकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके सुलक्ष्ण भगवद्भुजता एवम् सिद्धांत का अवलम्बि हूम् होता, स्वयम् भगवत्कृत्याधी हेतु भगवत्कृत्याधी सत्पुरुष व होता एवम् ज्ञान-स्थित-वैराग्य-सम्पन्न होता आदि, उन्हें इस सम्बन्ध की भागवत्कृत्याधी या लगता है— "भगवत्कृत्याधी सर्वत्र सम्पदायैव सम्पुण्यान् भुक्तयोगवती वत्ता...." (भाग. वि. १।२.३)।

जीवन की समष्टि वही उपलब्धि, श्रीमद्भाग्यम्के अनुसार, विवक्षा श्रीकृत्याधी सम्पदा ही जाना है इसमें ही सामान्य विवक्षये गये—

- १) उपाधय— भगवत्
- २) उपाधयता— भक्ति

विवेकसेवर्षवत् उपाधय उपाधयके उपाधय विवेक भेद एवम् अवस्थाय का निवृत्त विवक्षा गया है इसी तरह उपाधयके उपाधय वत्तावर्षवत् सर्ववर्षवत्, सर्ववर्षवत् सत्पुरुषता ही, भगवत्कृत्याधी अवस्था-स्मरण-कीर्तन आदि सिद्धांतपरान्त नवरत्न सत्पुरुषकी

समुद्र (२०) अन्य भी इनकी से भरे पने जगवा बिरे हुए जल

स्वभावतः एकलम भी जल अपने इन आकारोंके गुण-गणोंके अनुसार अनेकव्यवस्था प्रकट करता है- इसी तरह भगवान्‌के एकलम गुण भी भगवत्‌कृपाके वक्तव्यकी योग्यता एवं भावों के अनुसार अनेकव्यवस्था प्रकट कर लेते हैं, यथाः

(१) भगवद्-गुणोंका स्वर-रास-रसार्थित नाम ब्रह्मेवाते विभूत भगवत्‌की जैसे तीव्र कुण्डी तरह होते हैं कुछ हुए मोठे न-लके होते हैं जो कुछ लारे जलके कुछ धनिम वातवीम माहात्म्यवाले होते हैं तथा स्वधीम वृत्तों वृत्तरत्नी विज्ञाने स्थित रूप जगत्‌का द्वारकाका दानोदररूप या दलका गोपकूप कुछ हुए अवविम-वसित जलवाले होते हैं ऐसे ही सभी भेद वाचकोने भी होते हैं कुछ वाचक स्वर जलके अन्तरमे भगवद्-गर्भमात्मक प्रमोदका मोहन करते हैं, तो कुछ वाचक भगवद्-गर्भमात्मक प्रमोदके अन्तरमे स्वर जलका मोहन करते हैं, प्रथम प्रकारके वाचकोकी लारे जलवाले कुण्डी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके वाचकोकी मोठे जलके कुण्डी तरह वहीरे कुण्डी जल ठहीमे गरम और गरमी ठहा लगता है- इसी तरह भावार्थमात्मके नामकी द्वारा किया गया भगवद्-गुणमान सांसारिक लक्ष्मी कला भीताकी साध्यात्मिक-आधिदैविक नीतलता प्रदान करता है, और साधारण मोहमे लकीभूत-डिडुले हरनाकी भगवद्-वाचकी कुछ लम्बा भी इन नामकी द्वारा किये गये भगवद्-कुण्डगात्रोंके विम समझी है

(२) गौरात्मिक - पुराणकथा गुनावेवाके नहरकी तरह होते हैं नहरका जल भगवान्-स्वप्नका नहीं होता किन्तु किसी नदी या सरोवर से गुना हुआ होता है- इसी तरह पुराणकथा गुनावेवाके वस्तुका मान स्वप्न जलका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथाविशेष प्रयुक्त होता है अतएव अभुवन्त वस्तु-भरोष या कलाक केवल कथाकथने ही प्रकट होते हैं सर्वथा नहीं

(३) अपने कुटुम्बपरिवार कल या गल की कालवाते जो कथा करते हैं वे लक्षकी जल बहुमानेवाली मातृमोकी तरह होते हैं लक्षकी मातृकी जलका मुक्त प्रमोदन साम्योत्पादन है इसी तरह इन वस्तुवाकी भक्तकलाका भी मुख्य प्रमोदन प्रकार वस्तुवा ही होता है अत वही कल लोकाकी भी मिलता है

(४) वेसा या खैरिणी विमोले बिरे, वृत्त और मधमान भदि आलनीके प्रकट वस्तु लक्षके जलसे बने गन्दे जलके गह्वरी तरह होते हैं एवं वेदमे 'प्रवर' कहा गया है तथा इनका भावमान भी निमित्त माना गया है

(५) भगवान्‌क गुणमानकी आजीविका बनाकर स्वर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गावक या भोरालिनी के गाव, गरकी पत्नी भोरिणीय से निकलनेवाला मलिन जल पारो और फल न जाये दूधके लिए जो गह्वे लीने जाते हैं जलमे भरे हुए जल जैसा अवविम होता है जैसे जल गन्दे जलका सभी समुचित होता है जैसे ही भगवद्गुणमानकी आजीविका बनानेवालाका प्रवचन भी

(६) बलिबोके उलझे जैसे बहो जलजल जलजा जाता है या कभी जैवजैव करते लज-
जैव भी बन जाता है इसी तरह बीडा भावनात सामान्यतादि भावन् भावनीके निरन्तर
अप्यापने भावितके रूप और बुद्धि में समान्-भावना एक विशाल जलजलता भर जाता है
जैसे जलजलता जल न तो पृथक् कारण बूझ सकता है और न उसे जैव जैसे पशु मलिन
ही क्या करते है और इसी तरह इन सामान्यभावितताका मान न तो सांसारिक तापीके
पृथक् होता है और न कुलीन या अत्यन्तभावना-विपरीतभावना में भिन्न ही.

(७) समान् निरन्तर जलजलभावना करता एक बात है और बीडाने समीहीकी निवारण
कर पाकेता सामान्य दुष्टही बात है अब समीह निवारण बलता भावने बीडे लजजक भावीभावे
कैसे जलजलानी तरह होते है ऐसे बलजक निमित्त जलजल कि जिनमें न तो पक और न
बीडता ही पैदा होते ही

(८) समान् भावन्-भावनीका निरन्तर अप्यापन तथा दुष्टहीके समीहोको भी निवारण
करनेकी बलता होवेपर भी कभी-कभी मजलमें समान् भविष्य-भाव नहीं होता. परन्तु वह भी
यदि मजह ही जाये तो ऐसे मजलानी दुष्टर सरीइवाके रूप सरीइवाकी तरह समीहता चाहिये

(९) कुछ मजलानी समान्भाव होना है पर वे समान् मजलजुह होते है ऐसेमजलानीकी
उल जलजानीकी तरह समानता चाहिये, जो समान् समान जलजल होवेपर भी बीड जैसे
पशुकी द्वारा मलिन कराये जा सकते है, अब मजलानीके कारण ही ऐसे ही मजलजुहकी
कारण इनके भाव दुष्टनीके दूषित हो सकते है.

(१०) जिन मजलानी समान् न तो सांसारिक विपरीत भवन मजलीभाति किसी समान्-
वके मुक्तके किया हो और न समान् भविष्य ही जिनमें मजलीन ही, फिर भी जिनकी निवारण
मजलीभाव-मजलीप्यापन निरन्तर हुए ही, ऐसाही यदि समान्-भाव-मजल करनेकी बुद्धि जैसे
जा करने मात्र भी छोटे समानकी तरह ही उपहन चाहिये छोटे समानका जल बीड ही
बूझ भी जाता है और बीड भविष्य भी ही बलता है

(११) जिन मजलीनीका मन जैवभाव भावितकी भविष्यमें लजा हुआ हो, उसके भाव
बलता वा निर्मल ही करते है, परन्तु बीडानीके बिना ही इनके भावीन दूषितनी भावे
मजली है बीडित सांसारिक निवारण एकजलमें जाता है अब मजलाने बिने दूषितकी बुद्धि-
भाव बीडित मजली बीडितभावना निरन्तर बलते जाती है मजल इनका मान मजलीभावनी
तथा होता है वा समान् मजल होवेपर भी बहुत निरा रहने मजलीन भविष्यता स्वीकार
लेता है.

(१२) मजल जली मज-मजलीकी सामान्य निरन्तर भविष्य जब मजल-भावना प्र-
धान करते हुए जिन ही जलने भावनी निरन्तरनी तरह मजलका चाहिये. निरन्तर-मजलीका
जिन जाता है पर उनके भविष्यता वा मजल होता है, परन्तु दुष्टनी मजली वह नहीं
होता इसी तरह मजलीकी मजलीन का भविष्यता मजल भावनी-मजली समान् भविष्यके
द्वारा निरन्तर मजलीन भविष्यकी भावना भी होती है, परन्तु अब बीडानीके जिन

ती व्यर्थ हो ।

(१३) सर्वप्रथम विद्ये जलप्रपात-जलसे का जल, निर्मल शीतल समुद्र सतत तमस भवन
सहीन सहीन स्थान आचमन पान आदिमें मनोहारी जलहारी समुद्र मुलकासे लगता है, इसी
तरह भगवत्कृपाके कारण भगवान् महान् भगवद्गीतोकी कृपाके कारण, जिन्हें स्वयम् श्रीहृदिके
दिग्गज समुद्र कृपाका भौतिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्-
गुणवान गुणना मिली मनोहारी झरोके सामने पहुँच जानेकी तरह एक सुखद प्रतीति होता है,
यह सर्वसर्वस्य सुख नही होता, जैसे झरोके सामने पहुँचनेसे पहले, कुछ दूरीपर से ही
जस जलप्रपातकी चरिते जलके ललितत्वका बोध हो जाता है, इसी तरह इन भगवद्गीतोके
वद-श्रव आदि करने वालोंके भगवत्कृपासे ही इनकी भौतिक अनुभूतिका निर्देश हो जाता है,

(१४) लक्षण जलप्रपातके संभवतः शीत या वीर्यशक्त, वरुण इन्द्र दुर्गा कल्पति भैरव
नवग्रह आदि, देवताओंके उपासक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हैं तो उनके मार्गोंकी ओरके
किन्तुओंकी तरह समझना चाहिये, ओरके चलतेकिन्तु जिस स्थानपर चरते हैं वहाँ उभरे हुए
विलासनी चरते हैं, पर वह वास्तविकता नही होती, इसी तरह मन्मथेकीपासक वक्ताके मुखसे
श्रीकृष्णकथा अर्थात्कीसी उपासकामुखिपर श्रीकृष्ण द्वारा चरते गये ओरके कुछ किन्तुओंकी
तरह होती है, ओरकी जेके केवल देवने भरीसी सीमा होती है, इसी तरह इन कृष्णकथाकी
केवल भगवत्कृपाकी ही सीमा होती है, स्थान-मानसे ओरके चलतेकिन्तु अनुपयोगी होने
हैं और ओड़ी की मूल निकलते ही शीतल हो जाते हैं इसी तरह इनके भाव भी ओरके
लिप्द लक्ष्मीकी नही होते, कथाकालमें ही केवल प्रसन्न होकर वाचाद् वे शीतल हो जाते हैं,

(१५) सर्वाभिमर्शकी निम्नसे हृद् श्रीकृष्णकी वक्ता चरितमें तत्पर वक्ताओंके वद-
कथा प्रेमाभिमर्शके कारण भगवद्गीत चर्चाका स्वरूप होता रहता है, इनके भावकी चरताती
नदीके प्रवाहकी तरह लयलता चाहिये,

(१६) कुछ भविष्य वाच्यमायी होती है, इनमें न तो पुर जाता है और न इनका जल
पड़ता है, इसी तरह भगवत्कृपासे न जिन्हें प्रेमाभिमर्श पुर जाता हो और न उनकी वधि
हो कभी होती होती हो ऐसे सर्वाभिमर्शकी वक्ताओंके भाव निरर प्रवाहवाली नदीके रूप
होते हैं,

(१७) कुछ भविष्यके उद्गममहात्मापर निरंतर पानी उभरता रहता है, जल-इनका प्रवाह
कभी रुकता नहीं, पर सर्वाभिमर्शके कारण इनके जलप्रवाहमें निरंतर वृद्धि- ह्रास होता रहता
है, इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनके जलप्रवाहके व्यक्तियोंकी चरितके कारण कभी
वृद्धित्व होता हो और कभी शीतल होता रहता हो परन्तु भगवत्कृपा कभी अनरुद्ध न होता
हो, तो प्रेमाभिमर्श काव भौतिक कृपासे कभी वा रही भावकावका कारण निरंतर उद्गम-
वाली नदीके समान होता है,

(१८) कुछ महानिर्गम अनुभूतियोंकी होती हैं जो वाच्यनके अनभिमर्श रहती हैं, इनमें
पुर जाता है पर जल कभी कम नहीं होता, जिन वक्ताओंके भाव सर्वसर्वसे अनभिमर्श रहते

हैं जहाँ सम्बन्धनात्मकता पर्यावरणियों के मुख्य मुद्दा बन चुके हैं।

(1१.) समुद्रोत्ते के अनेक भेद सामर्थ्य के अनुसार हैं, जथा (क) पारोय (ख) समुद्रागोच (ग) कुपोर (घ) चूकोर (ङ) सोरोर (च) सविमणोय (ज) समुद्रोद वा समुद्रोत्त, ये सब मत्स्यम एवम् कृषि-उद्यमरहित होते हैं इसी कारण, भौतिक कुपोर के विषय, भौतिक समुद्रोत्त के विषय तथा सोरोरसमिन्धित कुपोर के विषय में, मत्स्यसमुद्रोत्ते के समान करनेवाले समुद्रोत्तम जनताओं के माथ भी अनेकविध होते हैं-

(क) बीराम या बीरुण्य को साक्षात् करीवर न मन्त्रकर, केवल महाशुभ अर्थात् महान् शुभान् माननेवाले कल्याणोंके भाव व्यतीत करनेके ज्ञाती तात् परे होते हैं। इनमें मानकी शुभा मिट नहीं जाती। भयवद्वेषादीके शरीरकी मानयोग व्याख्या करीवाले कल्याणोंका भाव भविष्यार्थीय शीघ्रकीनके द्वारा अद्विकर तथा भय-अनिर्लक्ष होता है।

(ग) क्यापाकरो अक्षरानु गणनमंति दुनय कान्हेर नी अवकाशीनी माहव कुन-गर्न कुल मान्नेपाके वल्लकीका मान एतुराओरके मुख्य होता है गन्ना पन्हेर अक्षरमंति अक्षर चलता है किन्तु मन्धमे निरल हो जाता है.

[illegible]

(घ) भवनान्तर्गत हवाकुला आदि सुविधाएँ जो आवश्यक हों, प्रदान की जाएगी।

[illegible]

(બ) કેવલ વૈદિક અર્ચાદાહોત્રી સ્થાપનાથી લોકિય કમીશનને મનગુત થઈ, તે પાતા ધર્મ-સાધનાઓવૈદિકી સ્થાપના કરતી હું, એકે ધર્મ સમિતિમાંથી રાજી હોતી હે. સમિતિ-ગણ મુલાખ તથા સ્વાધિક્ષિત હોવેતર તે સમિતિને નિરુપ આપેલે સાર્વજનિક હોવા હે. વેદે હી પત્રાણી સ્થાપનાનુસંગે કારા પામના-તથા સાથ, તે અધ્યક્ષના મુખ્ય કમીશન હે. કાલી મનમદ-મુલાખથી વૈદિકી સ્થાપના કમિશન હે આદુર નિરુપ આવા હે. કાલ કમીશન કલ્યાણીય હી જાતી હે.

(੭) ਧੁਲੀਦ ਸਮੁਦਾਇ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਨਾਮ 'ਅਜੁਬੀਦ' ਕਰ ਲੈਣ ਦੀ ਸਲਾਹੀਦੀ ਅਨੁਮੋਦਿਤ।

पक्ष. निरूपणमें — “अनैश्वर्यान्वयत्वात् कृष्णमात्रैकवाक्ये साधुष्व कृष्णदेशेन कीदृशमेव ध्रुवम् कथम्” कारिकाके प्रकृतार्थमें — “एव देहवृत्तान्तवर्गीकृतं कुलैकमानकान् साधुष्व शीघ्रमेव भवति कथमावृत्तिरित्येतामात्रेणि एवमेतद्व्याख्येति कवीभाषयित्वा कीदृशमेव” कहकर प्रकृतिमार्थमें कीदृशके “अनैश्वर्यान्वय” होनेपर उसे उत्तमार्थिककारी माना है.

इन विभिन्न कुण्डलीभेदोंके अन्वयार्थिककारका विचार करनेपर पञ्चदशानिसे सात पद्योक्तें: विशिष्ट-अनैश्वर्य कहलाने पात्र अधिकारीयोकी पद्यों हैं — ‘सुखमार्थिकारी एकविध है और अनुसृत-धिकारी विविध जो कुछ चार प्रकारके अधिकारीयोकी पद्यों हैं — ‘सुख’ तथा ‘उत्थान’ को वर्णनवाची चार मानकर तथा उत्थान और उत्थाहार में एक ही अधिकारोक्तों व्यवहित मानकर कुछ विविध अधिकारीयोकी पद्यों हैं — इनमें से इदमित्यतया किसी एक व्याख्या-रीतिका सहयोग कर शीघ्र काम है. फिर भी कुछ और अनुसृत तथा भवित और प्रकृति के भेदकी अन्वयमें एककर आरम्भके प्रथम कालोक्तमें सुख भविष्यमार्थीय शीघ्रताक निरूपण तथा अवशिष्ट चार कालोक्तोंमें अधिकारीयों द्विविध अनुसृत शीघ्र तथा एक प्रकृतिमार्थीय शीघ्रता का वर्णन है ऐसा को-लेने कोई अवगति साधने नहीं जाती है. क्योंकि श्री सात श्री महाप्रभु कह रहे हैं पात्र कालोक्तोंमें यह एक तरह है.

(६) इसमें एकपक्षके सातवें अष्टावली “समुत्पन्नदीर्घपरिचित्तुत्वा तत्र न सुदृश्यन्ति येन दृष्टं भवितुंहीतं तत्पुरुषे न कथं लोके हार वर मयके चेत्” कारिकाकी सुवर्णितार्थमें श्रीमहाप्रभुने अष्टावलीका पात्र परिणाम किया है

(१) भववत्-परिणमं करीकी विवृति

(२) भवितुं मातृवत्

(३) ऐश्वर्यिक कृष्णकी विवृति

(४) तत्र-अत्र करणकी वृद्धि

(५) मयदीर्घीके अष्टावली मयकी वृद्धि

येनच परिणामजित् शीघ्रमेव प्रकट होने जा रहे हो उनके मयदीर्घकी अष्टावली सुवर्णित-वादी कालका चाहिये. अष्टावली शीघ्रताका जो माता करते हैं कि अक्षरगतके अष्टावली-परिणामक शीघ्रताके आभासक कालकी कथाअत्र-कालमें महत्प्रभुति तथा भवितुंमाके एवाभि-मानक (आहुताश्वत्थपुरुषेन सुदृष्ट कर्मेष्टीयिक कर्मेष्ट) एकी माता अनुसृष्टीके पद्यों कीदृशमेव पात्र कर्मेष्टे कालेन निरुक्त पात्रा विविधता साही जाता है. उनके सिद्ध मयदीर्घका कृष्ण ही जाती है अर्थात् ये चाहें या न चाहें उनकी जाती और वर्णनित्य निरुक्त अष्टावली जाती रहने और सुदृष्ट एकीके अष्टावली ही जाती है

ऐस कृष्णदीर्घपरिणामक शीघ्रताकी मयदीर्घपरिणम न करती विवृत ही जाती है मय उक्त “अवगतिना” कहा जाता है.

एकच चित्त न ती शीघ्रिक विवृतीकी और आह्वय हीता है और न भेदित शीघ्रादि पद्यारी और ही. आह्वय विवृतीमें कृष्णदीर्घकी दृष्ट कालमें रहें इन विवृतीमें विवृति

अर्थात् कुछ-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती।

मगधसूक्तकी प्रजापतीसे इनके सत्य-अन्तःकरणकी खुडि हुई होनेसे केवल जानी जा
निरखीं की तरह वेदिक काल स्वयं-सोता-अपवर्गकी सम्पत्ति भी इनके मनमें रहू नहीं जाती।
अतः इनके वेदमें भी अनिर्वृति हो जाती है।

ऐसे ओता मगधसीलाने अवनकी उल्लुखलके कारण निरन्तर मगधसीलका राज्य या
सत्ताप खोजते रहते हैं।

निरोधकी विविधके कारण इनके प्रतिपत्तिपूर्ण मुख्य अवनधिकारी सम्पत्ति चाहिये।

(ख) कुछ ओताओका मन भीरुत्वमयिके रससे इनका भाई-निष्ठ हो जाता है कि
कथाप्रवणकी केलासे ये मगधसूक्तिसे विच्छिन्न हो जाती है। मगधसूक्तके साम्प्रतिक प्रमाणपत्र-
में इनकी प्रति हीन नहीं होती। परन्तु लक्ष्मिपत्र-कथाके प्रमेय अर्थात् मगधसूक्त-
मुख्य-सीलाने अवनमें इनकी निष्ठता नहीं मगध होती है, इसी लक्ष्मिपत्रके कारण इनमें
मगधकी सत्ताप कम होकर भी प्रेमकी स्वयं निरन्तरताके कारण इनके प्रतिपत्तिपूर्ण
सम्पत्ति कथाके अवनधिकारी सम्पत्ति चाहिये।

(ग) कुछ अन्य ओताओसे ऐसी अर्धनिष्ठता नहीं होती पर लक्ष्मिपत्र हीन होती है।
कलाः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रिया द्वारा इनके विवेचन केलाके प्रतिपत्तिपूर्ण सत्ताप रहती है।
ऐसे ओताओकी सम्पत्ति की स्वयं होती है कि केवल भीरुत्व ही मगधसूक्तके मगधकी हीनपत्र
भाव निरन्तर अनुभूति नहीं होता रहता। कभी-कभी कथाप्रवणके अवनकी कारण मगध
प्रमाण-विस्मृतिपूर्ण मगधसूक्तकी साम्प्रतिक अविच्छिन्निके कारण ये अर्धनिष्ठता ही
पते है; अथवा साम्प्रतिक स्वयं ('') इनका मगध रहता है।

साम्प्रतिक दुर्ग भावोंके कारण यह पूर्व अर्धनिष्ठता भी इनकी साम्प्रतिक ही होती
है अतएव ये कथाप्रवणकाकी सम्पत्तिके बाद दुर्गः सम्पत्तिपत्र हो जाते हैं। ये प्रतिपत्तिपूर्ण
अर्धनिष्ठ प्रतिपत्ति प्रकारके अवनधिकारी है।

(घ) प्रतिपत्तिपूर्ण और अवनधिकारी ओताओकी अर्धनिष्ठ अवनधिकारी भावा या सत्ताप
है, पर मगध इनमें यह है कि वेद-कला-प्रमाण-कला-मगध-कला-प्रमाण-कला-प्रमाण-कला-प्रमाण-
के प्रतिपत्तिपूर्ण ओताओ भीरुत्वके स्वयं-मुख्य-सीलाने अवन-मगध-सीलाने अवन
उपके मगध अनुभवकी कला मगध यह प्रतिपत्तिपूर्ण अवनधिकारी अन्य कथाप्रवणकी
मगध-मगध-मगधके अवनधिकारी ही उत्तम हो होता है।

इस तरह कथा प्रमाण ओता के अवनधिकारी विवेचन मगध सम्पूर्ण होता है।

मगध मगध वि. सी. १९७६ में प्रकाशित मगधका साम्प्रतिक प्रमाणपत्र द्वारा पुनर्मुद्रित
कला है। उक्त मगधपत्रमें इन की मगध अवनिके और मगधपत्रपत्रपत्रके सत्ताप प्रतिपत्तिपूर्ण कला
मगधपत्रकी हीन हीनमें भी प्रकाशित हुई थी। उक्त मगधपत्र रसमेम अर्धनिष्ठ यह प्रकाशित
नहीं किया गया है। उक्त मगधपत्रके मगधपत्र ओतापत्र मगधपत्र मगधपत्र मगध

अनायास

[illegible][illegible][illegible][illegible]

૩. વાસ્તવશીલતાનું અભિપ્રાયઃ આથી નિષ્ફળ માન્યિયુએ સમજાવવામાં આવેલા કુખ્યાને ।

श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः । श्रीपुत्राभ्यां नमः । श्रीपुत्राभ्यां नमः । श्रीपुत्राभ्यां नमः ।

छण्णयल्लुः तैत्तिरीयशास्त्रासंहिता का. ७ प्र. ४ अ. १२.

कृष्याभ्यः साहा कृष्याभ्यः साहा विष्णुर्वाभ्यः साहा अश्व्याभ्यः साहा सन्याभ्यः
साहा इषाभ्यः साहा सूर्याभ्यः साहा सरस्वाभ्यः साहा वैष्णवीभ्यः साहा पशु-
र्याभ्यः साहा रप्याभ्यः साहाध्वर्याभ्यः साहा ह्राद्वनीभ्यः साहा वृषाभ्यः
साहा खन्दमानाभ्यः साहा स्वावराभ्यः साहा नाद्वेपीभ्यः साहा सैन्यवीभ्यः
साहा समुद्रिषाभ्यः साहा सर्वाभ्यः साहा ॥ १२ ॥

जलभेदः ।

नमस्कृत्य हरिं यत्प्रे तद्गुणानां विभेदकान् ।
भाषान् विंशतिषा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जटे मताः ।
गायकाः कृपसङ्काशा मन्त्रर्या इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कृपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुम्पाः पीराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता स्त्रिय ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वैश्यादिसहिता मत्ता गायका मर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्णमेव मर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सुदा मन्धीरमानसाः ।
सरङ्गमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः परुषलानि तथाल्पश्रुतिमत्तवः ॥ ७ ॥
योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभार्येभ्यः सोदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्कतः शब्दगम्भाः पतन्मूढाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवास्तुषासनोद्भूताः वृष्या शुमेरियोद्भूताः ।
साधनादिप्रकारेण मयथा भक्तिपार्श्वतः ॥ १० ॥
प्रेमवृत्त्या स्फुरद्दर्माः खन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
पादपास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिप्राप्त्यभिहितः ॥ ११ ॥
स्वावरास्ते सम्भारुपाता मर्षादेकप्रतिष्ठिताः ।
अनेकजन्मसंशिता जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सहादिगुणदोषान्ध्यां वृद्धिस्तयगुणा मुनि ।
 निरन्तरोग्रहमयुता मयस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
 एतादृशाः सतश्चाश्रित् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
 पूर्णा भगवदीया ये शेषज्यासाग्रिमास्त्राः ॥ १४ ॥
 जडनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
 लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
 वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षारायाः पद्म प्रकीर्तिताः ।
 गुणानीततया शुद्धान् सुविदानन्दरुचिणः ॥ १६ ॥
 सर्वानेव गुणान्निष्णोचैर्गोपयन्ति विचक्षाणाः ।
 तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वान्ध्यां सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
 तादृशानां कणिद्यान्यं वृत्तान्तामिव वर्णितम् ।
 जजामिलाकर्त्तनपट्टिन्दुषान् प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
 रागाज्ञानादिबन्धानां सर्वेषां नाशनं पदा ।
 तदा लेह्यमिन्दुसुखं स्थानन्दोग्रहमकारणम् ॥ १९ ॥
 वज्रतोदकयस्सर्वं पतितोदकयसथा ।
 उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
 इति श्रीवेङ्कटपद्मता नानाभाष्यं समाप्तं मुनि ।
 रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्भिरुचिताः ॥ २१ ॥
 इति श्रीमहात्मनोऽर्चनप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसविहितसमानसा रतिवर्जिताः ।
 अनिर्वृता लोकभेदे शुक्लास्ते अवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
 विहितमनसो ये तु भगवत्प्रसूतिविह्वलाः ।
 अर्धेऽग्निश्चाले चापि मज्जन्माः अवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
 भिःसन्निदग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
 ते स्वायेद्यास्तु विवल्वा निरोपादा न चान्यथा ॥ ३ ॥
 पूर्णभावेन पूर्णार्णोः कदाचित् तु सर्वदा ।
 अन्त्यासकारस्तु ये वैविध्यमताः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
 अनन्यमनसो मत्वा कस्तथाः अवणादिषु ।
 देवाद्यालङ्घ्यकृतैश्चकर्मैश्चकारतः ॥ ५ ॥

इति श्रीमहात्मनोऽर्चनप्रकटितो पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविश्वतिसमेतः ।

मावितं विविपैर्जनैः श्रेष्ठमावितया मुहुः । मानये रायया कृत्यं भवितुं मानवायुक्तः ॥ १ ॥

यद्वाक्यमीश्वरमावातां मानवादमनो यमः । मानये तात्रिनाचार्यपदो मावीरलम्भये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णे केवलमावेनासि 'केवलेन हि मानये'ति वाक्यात् तद्व्याप्तेः 'वीकर्ममप्यसु-
तमावर्जित'मित्यादिभिर्भाष्यहीनस्य ज्ञानदेवस्यसमर्थत्वात्स्येद्भनोऽनवनिध भावहीनं सर्वमिति
श्रीवक्ष्यमाचार्यचरणाः स्वीयानां मानयेवार्थं कृत्वा भावनिर्मुक्त्यर्थं प्रतिमानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं यक्षये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भाषान् विज्ञानिषा भिन्नान् सर्वसन्देहचारकान् ॥ १ ॥

नमो वतिसंज्ञकत्वात् गुणविज्ञादय इति समासादय रूपं विस्मयं सकारो 'नम-
स्युरक्षोर्भक्षो'रिति । 'यो भाषान् भक्तमात्रस्यैव ज्ञापितोऽनवनिधुः । अदरत्सर्वदुःखानि
वन्दिषोऽवीर्यशक्तुः' इत्याशयेनाहुः हरिं नमस्कृत्येति । भगवति नमनानिर्दिष्टस्य
कर्तुमशक्यत्वात् । यक्ष्य इति । निरुक्ता भावाः प्रभवत आत्मने कलन्तीत्यात्मनैपदम् ।
तद्गुणानां विभेदकानिति । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजसमासि तेषां विभेद-
कान् निरर्क्षकानित्यर्थः । यद्वा । नमक्तो ये गुणा धर्मोक्तेषां निपतेकान् । भगवतो
महार्थं सर्वसमत्वादेस्त्वात् । 'ये भक्तन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा
धर्मोक्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मोक्तानानीयाश्च दायकानि-
त्यर्थः । भाषान् विज्ञानिषा भिन्नानिति । 'भाषाशब्दसामेकार्थेरेष्वत्र स्येदाज्ञ-
न्याभावात्तानिषेवा भावा कल्पन्ते । 'रतिदेवादिनिषया फल इत्यपिबीजो' इत्यादिभिः
श्लेषानिषात् । गुणभेदेः कृत्वा विश्वविस्तारमिच्छाम् । सर्वसन्देहचारकानिति ।
विषेयविशेषभेदम् । नमस्कृत्ये सर्वेषां लक्षणानां स्वरूपतां कलन्त्य ये सन्देहाच्छिषा-
रकान् । यद्वा । मावैर्भगवति स्फुटिति सर्वे सन्देहाः सत एव निवर्तन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भाषानां स्त एवसकृत्येति गुणभेदेरेव वेदाज्ञानभेदकम् गुणभेदानेनाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो वादन्तो हि जले मत्ताः ।

वायवताः कृपसङ्काशा मन्धरा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले वायवतो मेदा केदेव सम्मता ज्ञाता वा तत्कलौ गुणभेदाच्छेदार्थः । केदेव-

यत्नमेदप्रदानाद्व्याघ्रापानां शुद्धतात्वीकिकलतापहारकलभोपकलान्वापकलानि ज्ञ-
नितानि । यत्र 'कुम्भान्मां स्नादे'त्यारम्भ 'सर्वान्मां स्नादे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुग्रहेण ।

तत्र त्रयम् गानधिवलाहोविन्दश्च गायकानां भावसाधुः गायकता इति । गन्धर्वा
इति श्रुतिज्ञाः गानधिवृत्ताः कृत्तुत्वाद्येष्टं मायाः कञ्जश्रुत्य इत्यर्थः । यथा कृत्तुत्वं
यावत्काले कोष्पराजाज्यनिर्गतकुम्भकण्डे श्रीतत्त्वसाधामनिर्गतं व्याहृतिपुष्पाणि पश्ये,
समीचीनं च भवति, तर्पणेष्टं चाभोतिवाज्ये श्रुति आत्मनिर्गता, संसारतले त्वनिव-
र्तते श्रीवगान्ते पश्ये, समीचीनम् भवति । यथा राजादिभिः कृत्यते गृह्यते तया गान-
द्विर्धेष्टं चाभो ज्ञातः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्य एव चेत्साधुः कृत्तुभेदादित्यति ।

कृत्तुभेदास्तु पावनस्तस्मादन्तस्तैषि शुग्मताः ।

कुम्भान्मां पौराणिकाः योक्ताः पारम्पर्यमुता श्रुति ॥ ३ ॥

यथा केचित् कृत्तुः स्नादुपरिवाप्तमुक्तकारिजला, केचिद्विन्दयला, केचित् धार-
यला, विभावला, परिणामदुःखयलाश्च, तथा गायक्य भवि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणाय-
ताराशदिहीलाभेदेन भगवन्ते वापन्तः सत्त्वगुणादिभिरवस्थिताश्चाकामा मोक्षसाक्षाः सा-
गीक्या लीकिकलानाभेति बहुल इति पुरातनकृत्यविधेयैस्तुल्य इति तेषां भावसाधकश्रुत्य
इत्यर्थः । अत एवोक्तं कनिष्ठदेवेदेवद्विं प्रति 'वक्तियोगो बहुविधो कार्योर्नामिनि
चाप्यते । साभावगुणसाधनैः पुंसां भावो विविधते । विविधगान् यो हिंसां दम्भमा-
त्सर्वमेव च । संरन्धी मित्रदम्भम् भवि कुर्वाणं च त्वयसाः । विवधानमिदम्भाय यम
देवमेव च । अर्थादावर्धयेवौ मां पयम्मायः स राजसः । कार्यमिहीस्तुदिव्य परमिन् च
तदर्धवन् । यनेयहम्विमिहि वा पुत्रम्भायः स सावित्रः । बहुलश्रुतिमात्रेण भवि सर्व-
गुदाद्ये । ज्योतिरतिविच्छिन्ना यथा यद्वाग्म्योस्तुषी । त्वयमे वक्तियोगस्त निर्वृत्तला-
पुष्टाद्वयम् । नदितुल्यप्रतिहता या भक्तिः पुत्रलोचने ।' इत्यादि । अत एव साक्षा-
पुष्टानां गुणानां सर्वेण श्रुतिभेदेन गुणमविवक्षो विधेते इति अलक्ष्यलक्ष्यभेदाद्वक्तियोगे
इति गुणानां विधयेन तत्त्वप्रतिपक्षितु ययक्षयः प्रकाश इति अवधारितु अनेक तत्त्वय
वेत्ता इति साधुम् भविष्येत्तत्त्वविच्छिन्नम्, निर्गुण्य वेत्तवर्धयेति दृष्टयोदित्यवयव पक्षि-
जगत्ताराम् । तदेव श्रीमद्भागवतप्रयोगेनेतिद्वि विरुचिक् । 'अन्त्यादिनामकमप्यभिज-
तिभेदेन विषयार्थं सत्त्वर्ज्यजनीयानामकिमान्नीयतैवगतेकविषं भवती'ति । द्वितीयं
भाषसाधुः कुम्भान्मां पौराणिका इति । कुम्भान्मां अस्या श्रुतिश्च सति । पुराणवर्धीयते
तिदन्ति वा पौराणिकाः पुत्रवेनिदासप्राप्तयः श्रुतिमात्त्ववदीतुत्वात्, तेषां भावसाधक-
श्रुत्य इत्यर्थः । यथा दृष्टी कुम्भा जलजमेन पारम्पर्यमुताः परम्परासम्पदात्मना एतेषि
इति गुणार्थमेवोक्तं पारम्पर्यमुताः सद्गुरुभेदादवयवश्रुत्यापत्तौ । सद्गुरुभेदेन विना

उत्तत्वादनापत्त्या नानापेन परादिभिष्य तापमिदं कलुषमिदं वा अन्वयमेवेषां नावोति
सांसारिकत्वेन कुतर्कादिभिष्य न तापमिदं कलुषमिदं वा अन्वय इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देश्वारकास्तथ सूत्रा वंभीरमानसाः ।

सुरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमसुखस्तथा युथाः ॥ ६ ॥

समर्थं भावमाहुः सन्देशेति । मन्वन्मन्त्रो सन्देश्वारकाः वंभीरं मानसं येषामित्यन्त-
र्निष्ठा एतच्छः परिष्ठाः । सुषु उदके येषां तात्त्वहृदविशेषतुल्यालोपां भावस्तत्तत्तुल्य इत्य-
र्थः । यथोत्तमोदकानां तत्र मन्त्राद्विद्वद्विद्वत्त्वेन वयमन्त्रास्तत्त्वहृदस्वरकावामन्तर्निष्ठानां ना-
वोति मन्त्रमन्त्रादेतुरपीति भावः । यन्मो वा सूत्रा उन्वन्ते । अष्टमं भावमाहुः सुरःकमलसम्-
पूर्णा इति । मन्वन्मन्त्रे संदेश्वारकाः वन्मन्त्रा वा श्रुताः प्रेमसुखाः सन्धः, सुरसंविधि-
कमलानि सम्पूर्णाणि यानि तात्त्व्य आर एतत्तुल्यमात्रा इत्यर्थः । नलस्य विहाय नल-
हृदस्वरकादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एवात्य भावः समन्तेन्द्रियसुखदेवक
कलुषीरूपबुद्धसुरादिस्त्रादित्यात् तथैतेषां भावा यथैति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमसुखा वेद्यन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मश्रुताः पल्पलानि तथाल्पश्रुतिमन्त्राः ॥ ७ ॥

मन्त्रं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं क्षुत्तमन्वयने येषां ते प्रेमश्रुताः श्रुतो वेद्यन्तोऽ-
नसरसश्रुतालोपां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । दक्षं भावमाहुः कर्मश्रुता इति । कर्मणि
श्रुताः, कर्मणि श्रुतेभ्यो वे सन्मन्त्राणि तेषां कर्म निचरोपकं यथाति कर्मश्रुताः ।
'पल्पलोपि ददधाति वन्त्रोपि ददाति पल्प । पल्पसति दीन्येव तत्तुल्य मदर्प'मिति
न्यायज्ञमयात् । सौ तत्तुल्यमन्त्रोपि वेद्यन्ताश्रुतालोपां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । अल्प
श्रुतिः श्रुतादिमन्त्रं मन्त्रोपि, नलश्रुत्या वा मन्त्रोपि मिति तेन तथा, पल्पस्तत्तुल्य
इत्यर्थः । यथा वेद्यन्तपल्पलोपस्तत्तुल्यमन्त्रात्तत्तुल्यं पूर्वं निवेद्यमपि यथाप्यथाहितं कलुषं
मपि, तथा 'अन्त्रोपि ददधाति' 'अर्पेताम अपिरोमेव, सन्मन्त्रो यथेते' 'सादिवाक्यात्
सकमानामेव सागावधिपत्त्यात् कलुषमपि विनिविष्टायेन कलुषमन्त्रोपि मन्त्रोपि कर्म
कर्मन्त्रम्, किन्तु पल्पमेव, यथावधिपत्त्यायेन मन्त्रोपि मन्त्र इत्यर्थे कर्ममन्त्रम्-
सन्देशेति भावः कलुषे मपि । तेषां 'मन्त्रोपि मन्त्रो मपि, मदर्पेति कर्मोपि कलुषं
मिदमन्त्रम्, मन्त्रम् अर्पे' 'सादिवाक्यान्मन्त्रानादित्यर्थः । वेद्यन्ताप्यलोपेति
यथाप्यलोपि वेद्यन्ताः श्रुता, पल्पलान्यः सादेति श्रुत्या तथोपलोपेति मन्त्रोपि ।
सादुपलोपेति मन्त्रानाम् वा वेद्यो वेद्यः ॥ ७ ॥

योग्यानादिसंयुक्ता श्रुता यथैतः प्रकीर्तिताः ।

तथोपानादिभावेन वेद्यन्तास्तु मन्त्रोपि ॥ ८ ॥

एवाद्यन्ताप्यलोपः योग्यानादीति । योगशास्त्रं, ध्यान आदेशनापदे,

कदाचिदुपा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिनम्पानो युष्माः दुरात्
 र्वैतारेवीराकृतेन पतायां कलानां ये शब्दास्तत्प्रशङ्गाः प्रतीतिताः कथिता इत्यर्थः ।
 यथा धारावत्प्रशङ्गाः (पर्वतपथि) धारावत्तानां जलप्रवाहप्रवृत्तौ नमाना मग्नद्वया नमि
 कर्तृणां धारावत्प्रशङ्गावत्प्रवृत्तौ इत्यर्थः । यथा धारावत् नैवेद्यप्रीत्यवापुर्वाप्रीत्येवयो-
 क्तार्थस्त्वर्चनश्रुतानाचनपानादिभिर्मनोहारी जलहारी सीदितस्तुष्टकारी, तथैतेषां काम्या-
 दिषु प्रतीयमानो भानोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवास्तुभासनीकृताः पूज्या भूमेरिषोक्तताः ।

स्थापनादिप्रकारेण नयमानकिमभ्यर्चिताः ॥ १० ॥

मेघपृष्ठां स्फुरद्दर्शनीः स्वप्नदमानाः प्रतीतिताः ।

चतुर्वर्गं भागमाहुः देवा इति । श्रीपुरुषोत्तमपण्डितिराणां देवाणादिरप्यहं
 सिद्धान्तपुण्डितेन्द्रावाद्य उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, सर्व
 परमेश्वरकमेव कुर्वन् । शिवस्यात्मकमीश्वरः, विदुषेणां विष्णुमन्त्रमेव कुर्वन् इत्येवमादयो
 येऽहंता भावास्तैः, यत् य देवाः विराट्पद्मादिश्चन्द्राश्चन्द्रावर्णाश्चन्द्रादयः । तेषां देवा-
 दीनामुपासनेन पुष्टास्तुष्टौ तेषु भवनशेषेषु ते भावा देवास्तुभासनेन सद् बोद्धव्या मग्नप्रवाहो
 य भूमेरुक्ताः पूज्या इव । 'नयन्ता नयन्ताः पूज्या' इति वेदशब्दे । पूज्या नमस्कृति-
 कस्तुष्टकारिताः नमस्तुष्टौ या न इत्येवार्थः । तेषां प्राप्ता मय्यास्तुष्टतमैव सर्वमजन्तय ।
 महापुरुषाणां भवनश्रुतानां भवन्तं तु भाग्यशिविपण्डितस्तुष्टादिसाधकतादित्तरूपमेव ।
 अत एव श्रीभागवते 'महापुरुषाश्चक्रिणः । तुल्यमाय त्वेनापि न क्षर्णं तापुर्मयम् ।
 मयाप्राप्तिप्रशस्त मत्तन्नां किमुतापिचः । प्रसन्नमयं पादमात्मनः कल्पो विदुः । स एव
 साधुः कुतो बोधश्चात्मज्ञपुत्रम् । सतो कथञ्चानम वीर्यविदः । न तथा साधवान् साधुः पूजेत
 तन्मादिभिः । यथा कृष्णार्चितमात्रसाधुस्तुष्टमिवेव । तिराततुष्टान्मे'त्यादि । विराट्प्रे-
 चायाः स्वर्गादिसाधकत्वात् भगवत्कृतसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतायां 'विष्णु-
 देवतामयता' इत्यत्र, स्वप्नमे विविपुर्लोकसाधव उच्यते, विष्णुभागे कथंवि कृतमात्मन-
 ज्ञानि नयन्तः न भवतीत्युच्यते । ('यान्ति मयाविज्ञेयि पाए । देवान् देवशयो यान्ति'
 शिवशब्देः पुरुषोत्तममन्त्रमद्वित्वं पुरुषोत्तममण्डितमैव भगवान् योगक्षेमं करोति
 'पुण्योत्तमशक्तिः पुण्योत्तममन्त्रमेव विभिन्नं केनचित् कर्तारिणात्मनमन्त्रितम् विष्णुसाधव
 कृतमात्रो युक्त इति भावः ।) यथा निन्दयस्तुष्टात्मनः तुष्टद्वयं वा न साधकत्वमात्म-
 दिभिः सुद्विपुष्टादिसाधकं तथैतेषां भावोति न तुष्टादिसाधक इत्यर्थः । यत्पदं नाममाहुः
 स्थापनादिप्रकारेणेति । स्थापनादिः कृत्यत् नमिषत् प्रकारे तेन प्रकारेण नयना
 भित्तेन भावो नयन्तादिसाधनं कृत्यत् नमिषत् स्फुरन्तो पर्वो वेत्तां त्वमादयो

प्राप्तसमाप्तिभिः सम्पत्सिद्धिः तदन्तारम्भ सदा भुवि आचारमूर्ते पातमनि सद्यः
सत्सद्यः आदिपदादध्वनयिषेदेद्विनिषेपाः दुष्टसाक्षादवश्यं तेषां यी गुणदोषी तत्त्वां क्लेश
वृद्धिप्रसङ्गात्, निस्तार उद्गम उद्भवो गमनं न तेन कृताः । एतादृशास्तौ भाषा नयः स्तोत्र-
समुद्रगामिनदीवत्तनुभ्याः परस्वीर्तिता इत्यर्थः । यथा नदीवत्तं वृष्ट्यातवाभ्यां वृद्धिप्रसङ्गवति,
भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, वृद्धिगुणादिहेतुभ्य भवति, तथैते भाषा नयि
स्तोत्रगामिनयविद्याभ्यामवधुवद्वारा भविष्य इति मुद्रादिहेतवः सत्सद्यःसिद्धिर्गुणकन्तो
भवन्ति, तथैते च, दुष्टसाक्षादिनिर्दोषकतः भवन्ति, दीप्तौ चेति भावः ॥ १२ ॥

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परिस्वीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाभिमारुताः ॥ १४ ॥

अन्तारद्भेद्याप्यस्तौ समुद्राः मदीर्तिताः ।

अत्रार्थं भाषयतुः एतादृशा इति । मध्यकपालेनोक्तं भाषाः सत्सद्यः निरु-
पयिकामेतरा ये सिन्धवः सत्समुद्रसामिन्वो महानयसमस्तनुभ्याः परिस्वीर्तिता
इत्यर्थः । सिन्धुश्च नदा नति पृथगे । यथा महानदीवत्तद्विद्याः समुद्रं त्रिविधम्,
तथैतद्व्यापारुणादिनोपि व्यापारमुद्रं भवन्तं प्रविशन्ति, महानदीवत्तपदेते भाषाः शुद्धा-
दिहेतवेति भवन्तीति भावः । श्लोकादिषु भाषयतुः पूर्णा भगवदीया इति ।
ये भगवदीया मन्त्रा येषां पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिष्ठासत्तर्थाधी' येषामाभा-
दिकं भगवत्समैवेक्षितं जलसामर्थ्यं भगवान् शेषस्ते समुद्राः रसाक्षरगुणैः प्रसी-
र्तितास्तेषां जलसमस्तनुभ्य इत्यर्थः । भगवदीयसन्दर्भु नामधेयस्य विस्तरेण वृद्ध्यान्ते-
कार्ये कदापी 'मृष्टं सन्दर्भु'ति क्लेशो निषायात् शिवाः, दुष्टावसिद्धौ, वाचस्तला-
दिवत्तेके ज्ञेयः । तान् त्रिविद्यान् भवन्ति तेष्वप्यव्यासाभिमारुता इति । अन्तारद्भे-
द्याप्या इति । तेषां भगवद्भुवनः सत्सद्विज्ञानेन भवन्तं तेषां निवृत्तिरूपम् । 'मन्-
त्राभ्यां नि नामाना'मिति वाक्यात् । स्यात्तः कलाभ्याम् तदा मन्त्रद्वयेनैव रूपवधौ दक्ष
पूर्वमप्यधर्मैरुपैतजगत्प्रादः । त्रिविधैकदास्यारूपाः स्वयमेव तेषां सर्वाणि सर्वकारूपाः
कल्प एव । आस्तौ हनुमान् श्रीरघुनयनरघुनयनः । अतो अन्तरे कोऽन्तर्द्वयमादित्तिव
इव मदीयते । नारायः सदा तुल्यैकस्युपमनिकल्पः । मैत्रो मैत्रेयः पराभरिन्वो भगवद्भवे-
यस्य । भाषयतुः सन्दर्भः । समुद्रप्राप्तेन यथा चन्द्रस्येनादम्पिरागुदालितवस्तो
भवति, तथा मन्त्रकमुद्राचन्द्रस्येनादेतेषां भवत्येवान्नाम भवन्तीति भावः । अपमेव
नोक्तं कथितदेवैकतः 'सातोऽपमोदिसाधोऽवकाशयैकतम'मुत्र । दीपमानं न पृथुनि
विना मलोपमं नक्तः । स एव चक्षिषोमास्य आलम्बितः उदाहर' इति ॥ १४ ॥

पूर्णमान् सरूपज्ञानमेवेव निवृत्त्यतिरूपवन्ति लोकादेष्टुमैरिति ।

तादृशानां कथिदावयं दृष्टान्तामिव वर्णितम् ।

अजाभिषाकर्मनचद्दिन्नुषानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

रागाश्रमादिभावानां सर्वेषां नाशानं यदा ।

तदा सेहन्मिस्त्युक्तं सानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये जगन्मोक्षः 'तनु स्रोताः' 'वसन्तधरमहीतोद्ग' 'मयिष्ठं निर्गुणं सत्यम्' 'स्येनवदु' 'सीता कैवल्य' 'मित्रादिभुविस्मृतिपुत्राकर्मवैर्मगवज्ञानरूपवर्गीनां गुणातीतत्वं' 'निमित्तं भगवन्नाम सविदानन्दस्वयं भगवान् कदाचरणीतः पुष्पकोचस्य भावविष्ठं सर्वं निर्गुणं स्वयतो स्येनवदमि वा सीता येन कैवल्यं मोक्षः कलरूपा गुणातीता स्वस्यादिनान्येषां मोक्षसाधिका' 'चेत्येवं निरुक्तमेव निम्नोः पुष्पकोचमस्य सर्वमेव गुणाद्वयनोद्गतिर्बोधोदात्त-
वैद्युदादवयोपर्यनोद्गमादीनमि गुह्यगुणातीतत्वेन साधारणव्यवहितमिदं निमित्तमविदानन्द-
रूपवत्तौ वर्णयन्ति तेषामुक्ताः मुखासमुद्गुत्वाः समासवाताः कथितास्तेषां नाकं गुणाद्वय-
इत्यर्थः । ते भगवद्दीर्घादिस्वयं वनज्ञाताः, यतो निरुक्तवाः, तत्त्वज्ञानस्यानं तेषां भगवा-
नस्य पानवन्तानिर्वचनं तत् तदेवमहं साधारणवयं च सुदुर्लभं सुखं दुःसाधम् । अत-
एव नामरूपरूपज्ञानपर्येताग्राह्यगुप्तेरुपायमितिः कार्येण्यस्येवाह भुक्तिः 'महत्ते निम्नो-
गुणमि नवान्ते' इति । ते स्वस्वपरिचयं गुणमि निर्दोषार्तगुणत्वेन साधयन् साधनं व-
पानज्ञादिवर्णः । अत एव तत्त्वसाधनेषुक्तं 'दुर्लभं गच्छरूपां तु साधयन्त उप-
मिष्टे । तददृष्टा यदा कथा च दीक्षान्तरो यदाति'ति । अत एव मित्राकन्दमपुष्पो-
त्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मवैकं व्यवहित्वाह भगवा'वगजानमि मां यदा'
इत्यारम्भ 'महति मोहिनीं धिता' इत्यन्तेन । मित्रानन्दमपुष्पोत्तमत्वेन भगवत्ज्ञाने
सर्वमित्यं सर्वेगणैव साधयन् योक्तं भगवन्त 'सो मामेकमर्मम्' इति स्तोत्रेन ।
तदाभौ गतिज्ञानमहाः तादृशानामिति । सर्ववपन्दीयानां नाकं कथिद् यत्र
प्रमथतया शेषस्या यदस्ति, नावसुतेनेन केवला वा, तत्र दृष्टानं सन्देहादृशामिव
वर्णितं ज्ञेयं, यथा दृष्टुमेव रात्रि वदति, तथा जगत्वेन भगवानमि दृष्टानामिव वन्-
तत्वेनैव तेषां न जहा 'चेति भावः । अतो भगवत्पुत्रा पते वकिन्वेतादृशानां एता-
गमो भवति । अत एव श्रीमद्भगवते 'वज्ञानमर्थे प्रमत्तो यदा मवेदन्त तद्वन्मुक्त-
रुपायम् । सत्ताज्ञो यदि ज्ञेयं सज्जो पश्येति त्वमि जायते वतिः । महद्भिषयं तुषा'-
मित्रादि । अत एव गजवनाद्विदुषागमेष्व उपदेष्टव्यं कोकमात्रमवयं मिथा
वाच्यमितिजाकर्तव्यम् । अर्थात्मता यदाकर्मनं मि-गुद्वेन्यो नववद्वर्गवत्त्वमवयं मिथा वा
तद्वद् प्रकीर्तितम् । यथावामित्तत्वं तद्वन्तं न सुवर्णकमव्यन्तो स्यादवयोपर्येनोक्त-
वत्त्वमितिजावित्तिगुणमवयुर्पीति भावः । यदा । अर्थात्मताकर्मनं वदितम् तद्वन्मि-
थेयवयनं येन यथा भगवद्भवन्तानिजाद्वयं ज्ञां भवति, त्वेतिद्विगुणमेवमि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किंवात्तुह्यन्धे'ति 'यत्पादपद्मे'ति । एतद्दिन्दोः पानार्थेन वा
 रसास्वादोपिक इति तत्परिचायकमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति । राग श्रेष्ठो
 यद्वादिषु, अज्ञानं भावस्वरूपस्य, आदिष्वदन्तं पृथ्वायासक्तिः, एतन्मेव भावाः । यद्वा ।
 अज्ञानमविद्या आदिर्देषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वेषां नाशनं, तदास्यानि
 न तिष्ठति, तदा तेषां रसास्वादनं पूर्वमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वेषां
 नाशनमसङ्गतिरिति । इदमेव दिन्दोः पानं तेषां रसास्वादनमुक्तम् । यदवादी व्यसने
 सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानमज्ञानं भवतीत्यर्थः । उत्थानन्दोद्भवमभरणं सस्य यो भागवानन्दसो-
 द्रमभ्यास नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'एवं देवानं हृन्मनन्दी भवती'ति धृतिः । सस्य
 तिरोहितानन्दस्य य उद्भवः प्राकृत्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यवेति च । यद्यप्यज्ञानान्तरं
 भक्तिमाप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेक्षातत्किमसनेः प्रापयिक्तासूक्ष्मं च क्रियदवशिष्यते । अत
 एवोक्तमेतद्वदे 'नक्ति हृन्मनन्तः साधोः किमन्वदवशिष्यते । नम्यनन्तधुने मस्यमानन्दा-
 नुभवास्तुति । एवं धर्मैर्मुक्त्यापासुमुत्पाद्यन्निवेदिता'मित्यादिना च । तयोक्तं भक्तिव-
 र्गिण्यां श्रीवत्समाचारपरमैः 'श्रेष्ठद्वयनिष्ठाः स्वादात्मनः स्वाद्विद्वदभिः । यदा
 स्वादात्मनं कृत्वा कृतार्थः स्वात् तदैव हि' ॥ १९-१९ ॥

उच्यतेऽप्यन्तर्ध्वं पतितोदकवत्तथा ।

वस्तुतस्तिरिक्तभावपानि फलं भावि तथा ततः ॥ २० ॥

विश्वं भावमाहुः उच्यतेऽप्यन्तर्ध्वं पतितोदकवदिति । अन्यपानेनोकावृत्तौदुःखव्यतिरिक्तानां
 भावपानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववत्तामस्यदशापामादरेण पृथीतानि
 भावपानि भावावृत्तौदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यदा कथमिहृताति पतितोदकवत्तथा-
 वात् एतद्वा तिलोदकवत् । यदा, आसादतिरिक्तः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यदा ।
 भाववदफलवदशायां सर्वे भावाः वस्तुतस्तिरिक्तानुदौदकवत्फलं साधयन्ति ।
 भावपानि च पतितोदकवत् फलं प्रापयन्तीत्यर्थः । तत्तत्तन्मो भावेभ्यो भावैर्भ्यः फ-
 लमपि तथा तदनुभवेवेत्यर्थः । यमोदुत्तमस्तुति स्मभगवत्पदज्ञानेन गुणान् विद-
 पये, न तु भावेन, तथा तदज्ञानं यमि तदनुभवात्तदज्ञानं गुणान् विदपते । गुणा तु तदै-
 करूपेण गुणं विपद्य इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं मता मुनि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहारं हतीति । इतीति समाप्ते । यनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा
 इन्द्रियाणि च तेषु मताः आद्याः । अत एव मुनि भावते नानाभावं यनेनैव वा-
 लिकादिभावं मताः आद्याः, नानात्वं वा प्रकृता, एतद्व्या विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां
 मयदीपत्वात् तद्वत्त्वात् । रूपतः सत्त्वतः ईश्वरमिति अन्तरूपमिति । फलतः

मगदत्तादिकथन, एकादशस्कन्धे च मगधराज कणाध्वन्यायस्य सत्सङ्गस्यैव कथनं च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणधर्मातुरूपमगधराजमोक्षारविद्या निष्ठाश्रमाद्येभ्यः कथं निवृत्तत्वं, गुण-
नातुरूपमगधराजस्य च कथं विश्वस्यमानं । किञ्चैव भावभेदेन नामाश्रयारविद्या
गुणनातुरूपभूतीनां च स्वरूपभेदे कलभेदे भावगम्यमाने कथं द्विविधानान्पानामविरोध
इति सन्देहे स्वीयानां ज्ञाने तदप्रमाण्यं 'तदभिप्रेत्याकारेण तु तत्तिद्यात् त' इति न्यायेन
मगधानांकाशादिभूतेष्वाधारेषु तत्तत्क्षणेन सिद्धत्वं तत्तत्कार्यं करोति, तथा मगधद्वया अपि
मगधपञ्चवासीतिरेषु तत्तद्व्यापक्येष्वाधारेषु तत्तद्व्यापक्येन सिद्धत्वं तत्तद्व्यापक्येन कार्यं
कुर्वन्तीति मगधद्वयानामाधारेष्वेन कथं स्वरूपतया नामाप्रकारात् तदभिप्रेत्याकार-
वारविरूपतया प्रतिज्ञातत्वे नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं पश्येत्तद्गुणानां विभेदकान् ।

भाषान्विशेषाया भिन्नान्तर्गमनेहकारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'ह्रान्' च कस्मिन्ना 'मिति' भारकवाक्यात्कस्मिन्नामपहर्तारं भगवन्तं नम-
स्तुतुम्, तदुक्तानां तत्पदस्य सतिष्ठितपरामर्शित्वात्तस्य हरे गुणानामुत्कृष्टीयापकानाम्
पदोपा विभेदकान् विह्वयो नामार्थे नामान्नेदजनकान् विभक्तिवशेन भिज्जान्,
सर्वसन्नेहवारकान् गुणस्वरूपफलविषयका सर्वे पूर्णोत्पन्नकारका सन्त्ये च ये
तादृशा सन्नेहसौका नियतजन्य भावान् जीवना बन्नेनिकारान् वत्ये कथयिष्यामि । अत्र
सर्वसन्नेहवारकानि विभेदयेन सन्नेहनिष्ठितरूपकलसुचनत्वात्तर्धं गुणाधारमज्ञान् भावान्
नक्ष्यादीत्यर्थः । न चान् गुणेषु तदभिष्वानन्यावातीकारे किं मानमिति शङ्क्य, उक्त
ह्रान्तान्ने, 'इति जीवेन्द्रियमता नानामात्रं यथा भुवी त्यत्र जीवेन्द्रियमताया नानामात्रमिति-
कथयेन तदभिष्वानमृदोक्तन्यापक्षेण सुधिकर्यादिति ॥ १ ॥

मन्त्राधारमा जीवेन्द्रियपरमेश्वरानन्तरात्मा विमलविभक्तलमेव प्रतिज्ञात्त इत्याश्रयाया
 नोपसीरुर्गर्भं श्रोतवासनमा दान्तेन तथा विमल मोक्षनन्तर्धेन शुभाभेदा इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि ज्ञेयं मताः ॥ २६ ॥

तु यद्वानिषादे, उक्तसत्त्वाविनिर्णीयं यद्वा न स्यात्, हि यतो हेतोः शुभाभेदा-
स्तावन्तः पापवन्तः परस्परान्तरं जले यदा भुवि सपत्ता । तथा चाधारावन्त्येव यदा
जलस्य विक्षतिभेदादप्य शुभानामपि । ननु हि सैवजुषक सन्तु बन्धकमधुरस स-
र्वशोषक सख्यन्त्येन द्रव्यान्तरस्य बन्धस्तत्कारकमाध्यायक च समासत इदं पादमापते
पतति तादृश्यस्यात्र लोकैः भवति, शुभयोर्पि च जनवति, तथा शुभा अपि समासत एक-
विधा मानन्दरूपा मलय सख्यस्यान्धकारावध्यायकमित्यादिना अन्धमेकस्वभाववत्त्वा-
न्नेकशुभदोषवत्ता चापद्यन्ते इति तद्व्युत्पत्त्येन जयोन्ते । श्रीतद्व्युत्पत्त्येव शोभाश्रमजी-

अवदित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सत्यमन्त्रे 'कृन्वाभ्यः स्वाहा, कृन्वाभ्यः स्वाहा, विस्वभ्यः स्वाहा, अथर्वभ्यः स्वाहा, सन्वाभ्यः स्वाहा, इषाभ्यः स्वाहा, रुद्राभ्यः स्वाहा, सरसाभ्यः स्वाहा, वैश्वन्तीभ्यः स्वाहा, पत्न्याभ्यः स्वाहा, अथर्वभ्यः स्वाहा, आदुनीभ्यः स्वाहा, इन्द्राभ्यः स्वाहा, सन्दमानाभ्यः स्वाहा, सावराभ्यः स्वाहा, कदेवीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, सुवृद्धिभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मध्येषु विंशतिविधा वायु अर्वा ह्येव उच्यते ॥ १६ ॥

तत्र मयं कृन्वा उच्यते इतीहानि कृतमन्त्रानि सुष्माभ्यः अथर्वभ्योऽनाहुः मायका इत्यादि ।

मायकाः कृपसंकाशा मन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

कृपभेदास्तु पापघ्नस्तथाघ्नस्तथेति संमताः ।

मायका नामाकारैः कृपसंकाशाः कृपोपमा, कृपाय केचिदुच्यताः यथा स्कान्दे दुस्कोत्तममहात्मने, 'अथोपादुसो कृताः सर्वतीर्थमर्षोति वै,' यथा च द्वापरकथान-
मन्त्रां च दामोदरकृतः, केचिन् कृपाविदुतकाः, यथा मये गोपकृतः, 'गोपकृतमामावाभेव सर्वतीर्थमर्षो नामकः', एवं साधारणा अथर्वोक्तमथ द्वापरमथ, तथा नामका अग्नि, तेन न साधारणा, किन्तु मन्धर्वा इति पुराणे मेदे च श्रुताः विशेषेण प्रतिज्ञाः । तु पुनः पादन्तः कृपभेदापापघ्नस्तथे मन्धर्वा अग्नि संमताः सम्पत्तिवर्धनतः । तथा च कृते यथाः कृन्वाश्चा यथा कृत्वाकृतमर्षेदेव कृततः पततथ नामविधा अपन्नि, एवं मन्धर्वीर्षवि-
धाना कृन्वा अग्नि मन्धर्वस्त अथर्वकृतानि तद्वदन्ते साधारणानि तन्मन्त्रादिदोषविशि-
ष्टानि च तद्वदन्तमन्त्राकारा यन्मन्त्रस्तदनुकूपमेव कृतं जनयन्ति । एतेनोपचर्चयत्वा कृ-
पोऽन्तेषां मन्धर्वीणां वापामावः 'विधायाव ये यद्वन्तीतिवाक्यं च समर्पितं होयम् ।
तेन 'पुनराने सुष्माभ्यः' इत्यादिना विशेषलक्षणमन्त्रे सुष्माभ्यां स्वरूपसंज्ञोक्तमौ मा-
तुली यावति 'मिदुलर्विसमपीपमन्त्र' इति श्रीसौमतीलिनेभ्येव स्पष्टमस्ति इति चेपितम् ।
इदं 'एतां भगवदीया व' इत्यत्र स्पष्टमिति ॥ २६ ॥

कृन्वाभ्यः स्वाहेति श्रुतिननुकूल द्वितीयं अथवाहुः कृन्वा इत्यादि ।

कृन्वाः पौराणिकाः मोक्षाः पारंपर्येणुना सुप्ति ॥ ३ ॥

श्रुती कृन्वा इति दीर्घः आन्दक्षो वर्धनिकृतकः । पौराणिकाः कृन्वाः
मोक्षाः 'कृन्वा सात् कृमिना अग्नि' इति श्वेताम्बरीयसंस्कृतसंस्कृतमन्त्रार्थ-
वा कृमिना वदी कर्मणे सा कृन्वा । ग्रीकणिकाः पुनस्तथापविचारलाः मोक्षाः । अथर्व-
मायापकृतमामावादुर्गं होयम् । 'अथर्व विरोधुमेदा रूपमिम्योते' इति काव्यादर्थे
समवायवर्तीत्यपि वन्मन्त्रमोक्षकृन्वाइत्युक्तमौक्तिकरूपं होयम् । केचमिदं कृन्वाभ्यां
विमिश्रितमन्त्रं पारोक्षीकृतमामावादिभ्यः तद्विषयश्रुती च दण्डादिति । एवमेति
होयम् । पौराणिकानां कृन्वातीन्ते हेतुवर्धनं विधिवन्माहुः पारंपर्येणुना सुप्ति । तथा

च मुनिहस्तासंस्कारा नृत्तगम्यन्त्यान् ये कुत्सातुल्या इत्यर्थः । तेन यादव आभः कु-
त्सायां भवन्ति तादृशेषां भवः । यः यथा नवादिरीदृशे देशे कुत्रिनोपायेन नीताः
श्रवदन्त्यः पानशान्तचमनादिरूपचरोचकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोति । पाप्मे मायमा-
हात्म्ये वैश्वं प्रति देवदूतवाच्यमात्रे 'विचारयन्ति ये ज्ञातं वेदाभ्यासरताश्च ये ।
पुराणसंदिग्धा ये च व्यापयन्ति पठन्ति च । म्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिनोषकाः ।
वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरिदंनयती पृथा । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते दूतकिन्त्रिणः ।
पच्यन्ति यक्ष्मणो त्येकं यम नोद्धो न विपत्ते । ज्ञानमज्ञाय यो दशादेदशास्त्रमुद्धवं । अग्नि-
देवास्तमर्चन्ति मययन्विदमक'मिति पौराणिकानामुत्पत्त्यन्वयमात् । अथ सुवी-
तिकयमात् पूर्वोक्तोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम् । अन्यथा तद्वैश्वर्षीपात्रादिति ॥ ३ ॥
अतः परं 'विकर्माभ्यः स्वादे'ति शुक्तिमनुष्ठुय सुतीर्थं मायमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रमविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अधिगन्दादन्वयोः क्षेत्रमविष्टाः, क्षेत्रज्ञत्वेन यथा
केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पञ्जीकरीत्यो'ति स्मि क्षेत्रात् 'पतेः क्षेत्रे महीभुज' इति
'इदं शरीरं बीजत्वेन क्षेत्रमित्यभिधीयत' इत्यादिवाच्यत्वात् शरीरपञ्चावन्त्युच्यते ।
एवं सति शुक्तिमन्त्रमार्गे कृते तद्वारा केदारमविष्टाः कृत्वाया काचो यथा उच्यते
वीजश्च पृथक् वा याः संसारः अमिदुहिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका
वन्दनीय स्वदेहे पद्मां वामिनिविष्टाः संसारसाहज्याममलात्मकसोत्पत्तिहेतवो भवन्ति ।
अतस्तेषां चाप्ये विकर्मातुल्याः । कु भिक्षेने, स्वदेहप, भिक्षेनेच विविधं वा कीर्यते निक्षिप्यते
यसी विकरा, केदारे कृत्वाकृत्वाकमार्गे कृती मार्गस्थाय भवः विकर्माः, ता यथा क्षेत्र-
मिभिः स्वाहविष्कृत्यै पतस्ततो नीयन्ते तथा तद्वत्वा भवति । ताभ्यां वन्दनीयपौराणिकाः
विकरातुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्वरूपमुपेयिण्यां कावकाकृत्वातुल्या 'वतुकामो यस्मिन्
देवा'नित्यस्य द्वितीयस्याप्याने बहुकम् । 'एवं धनस्यानि, मयवद्वेष्ट्यान्तर्यं रूप-
पादितिद्वयं उपदेशमार्गं वा देवमपेक्षते, सात्वतरूपमव्यादिकं तादृशेव भवती'ति ।
उत्पापि पनदाहुः सत्कथं प्रतिगृहीतुम् संसारोत्पत्तिः । 'विद्यायमे'ति वाच्यम् । यदि तु
तत्राविषातर्गपुराणस्योपयोग्यत्वमात्रं पृथग्वि, तथा तु क्षेत्रपर्वद्विद्वयं दोष इति पौ-
ष्यम् । एतदपि तथा यदा पौराणिकानां चारंपर्वमुक्तं भवति । तदभावे तु वन्दनीयो-
जोक्तयोरपि संसार एव । सप्तदशम्यान्वाच्यमानायापोषयोः संवनापेति क्षेत्रम् ।
ननु वन्दनीयं श्रीकृष्णवन्दनमात्रे 'कृत्वाकृत्वाकृताभ्यानि द्वेनर्गैकमहत्त्वम् । कुर्वन्ति वि-
कर्मा ये ये क्षेत्रं गारेण पीक्ये'ति मन्त्रार्थं प्रति प्रविधीयमानम्, 'मत्तानविकारी भिन्नो न
कर्म ये ये क्षेत्रं गारेण पीक्ये'ति मन्त्रार्थं प्रति प्रविधीयमानम्, 'मत्तानविकारी भिन्नो न
दि कुर्वन्ति भवेत् धुवं । सप्तदशमे च मत्तानविकारी न विपत्ते' इति श्रीनन्दं प्रति मया-
वद्वत्वाच, नामविकारस्य दोषत्वे विज्ञेय्यो मयवद्वत्त्वोपदेशस्यापि बोधत्वात् । तत्र

शिवोत्पत्तीकृतमहमेव नामनिकलसंभवादिति चेत् । कलम् । तत्रापि गुरुत्वस्य साहचरि-
भास्वरवृत्तिलेनान्तराग्न्यत्वात्, 'सह्यं कर्म कीन्तेव सदोपमसि न त्वमेत् । सर्वारम्भा हि
दोषेण धूमेनाग्निरिवाकृता' इति मय्यज्ञापनात् । अत्रापि पञ्चाचार्यमाश्रयाग्नौ जनक-
समिधि पाञ्चपल्यस्य आगते जनकेन, 'पाञ्चपल्यस्य । किमर्गमवतीः पशुनिष्कल'
'एते ता'निति गोर्षं पशुसम्पत्तिविषयिकवधान्मयः स्मरन्ति पशुतोसी'ति ह्ये वा-
ङ्मन्त्रमेव 'उपममेव सता'दित्युक्तम्, राजपक्षे जननी'न्म उदहः शील्यायन' इत्यादिना
पानमन्त्रविधौपदिष्टम्, ततो जनकेन हस्तपुष्पसदृशं दद्यामीत्युक्ते पाञ्चपल्यमेव 'पिता मे-
मन्त गानतुशिव्य इत्ये'त्युक्तम् । पूर्वा मन्त्रविधौपदिष्टम्, ततो जनकेन विदेदाः स्वत्वा
न पाञ्चपल्यपानं समर्पितम्, तदा पाञ्चपल्यस्यदत्तोक्तमिति आनिकलेन मन्त्रविधौन-
देशोक्तं शिवोत्पत्तीकृतमहमेव श्रावयता तज्जापमन्त्राणि वक्तुं जनपदवाच । किम्,
गीतापामेव सह्यकनोत्तमानुक्तम्, 'असक्तयुक्तिः सर्वत्र शिवस्य निवतरदहः । निष्कर्म-
सिद्धिः परमां संस्पृष्टेनाभिवन्धनी'त्यत्र असक्तयुक्तिरिति शिवस्यैकमेवाग्रेण नैष्कर्म्यसि-
द्धिरिति कथयता जगता तदौपसर्गित्वावस्थोक्तत्वाच्च तथा करणे दौषतावादिति ।
एवम् अत्युपचारितः 'विचार्यैव सदा देवं कृण्वन्मम विज्ञेयतः । अविचारितदानेन सर्वं
दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिवस्य चोदार्थं विचार्यैव देयम् । लोभादविचा-
रितदाने तु नामनिकलपस्या दाता स्वयन्वराधनागमनशीलस्यो ज्ञेयः । बहुलसमुत्तरायः ।
तेन सम्पर्कोणां वीरगिकानां न सज्जस्यत्वरूपं विचार्य कर्तव्यं इति बोधितम् ॥ ३३ ॥

वक्तुः परं 'अवधान्याः साहे'ति सुविमनुजस्य वक्तुर्मे भावनादुः चेष्टादीत्यादि ।

चेष्टादिसहिता मया मायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

साहिच्चेन सिरिणीउदहः । हृष्यात् गानका गर्तसंज्ञिताः । गर्तस्य तु कात्यायन-
स्मृतौ 'वस्तुसदृशत्वस्यैव तु लोपं चाद्यां न नियते । न ता नदीसन्धयश्च गर्तस्ये परि-
कीर्तिता' इति । आका नदीसम्पन्निभोति नदीसन्धयश्च न, किन्तु ते वत्साङ्गा वतीः
शारीरु शरीर कीर्तिता इत्यर्थः । अत्रापि 'नया नव परित्यक्त'मित्यादिकवधानात् तत्रैव
पदसमिति न शिष्टानां खल्वननदियेभ्यम् । तथा वाद्यां भाषोपीत्यर्थः । यदा, 'यद्वाहो
द वै कलपायः विरोधदधस्तुनमुदायस्य, स मदोदभवत्, सभास्यदस्य ताचामे'दिति
श्रुत्यापमन्त्रमन्त्रादी न न वर्णनासाचाधेयत्वा न मदोदह इति तत्रत्यनवकविज्ञेयम् ।
तत्र 'मदो गर्त' इति सायनीयादी व्याख्यानालोचनप्रसङ्गात्, न उच्यते इत्यवयाः पूर्वो-
क्तसुविमनुजिन्यां वदपामनिन्दया ताचमि निन्दा इत्यर्थः । ताद्यां भावस्तु दृष्टतापदोक्त
युता न समीचीनफलदाः अदृष्टां सोदृष्टां चेति ताद्यां मदो न कर्मन्व इति शङ्कः ॥ ४ ॥

वक्तुः परं 'अवधान्याः साहे'ति सुविमनुजस्य वक्तुर्मे भावं वाङ्मन्यवानिति ततो
दीपनादुः जलार्थमित्यादि ।

जलार्थमेव गतास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

इत्थञ्चादप्रक्षालनगण्डूचादिद्रव्यलक्ष सर्वत्र प्रक्षारणाकार्यं ये यतोः कृतास्तद्व्याख्याः । तथा च वदन्तं न समीचां बोध्यम् । अत्रही नीचाः गानोपजीविनेनैव ये उदरंवाचक्षे यथा तथा तेषां भवोपीति तद्वत्तु गुण्य अपि तादृश इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः । श्रुतौ 'नवयाम्यः सादे'त्यन्तरं 'चान्याम्यः सादे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना मायः चान्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्गद्वार्यमपानि प्रक्षारणत्वेन पुनर्व्यवस्थेयम् । तुल्येन तथा सूचयत् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गताः । तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गता इति । एतस्मिन् पक्षे चापमर्त्यः । जलार्थं नलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये यतोः जलार्थमेव यतोःशोध्यपीति यावत् । नीचा गानोपजीविनस्तद्व्याख्याः तेषु नीचत्वं चास्तिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्वनन्तं पुनः खननात्प्रसूतं निर्मलमपि संस्कारं निजं नातावाहीयवतोऽभिष्टातं सर्वदोषाच्च यथा शिष्टोपेत्य, तथा कदाचननिविष्टा गुण्य अपि स्वरूपतः फलतश्च ह्युपजीविनि नादयान्ति सतो न कार्य इति चोपेतम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एकमत्र गानुनिष्यन्तः सन्देहा निवारिताः ॥३६॥

अतः परं कीर्तयितुमिष्यसंस्तान् निवारयितुं 'दृष्टव्यं सादे'ति श्रुतिगदुसलोचनं पक्षं भाषमाहुः हृदादिस्त्वत्तादि ।

हृदास्तु पण्डिताः श्रोता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

सन्देहपारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा शुभाः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता येनान्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मश्रुताः पल्पशानि तथाल्पश्रुतमक्षयः ॥ ७ ॥

अत्र तुल्यः प्रकरणं भिन्नति । पञ्च शास्त्रज्ञाया श्रुतिः सामीप्यमादिस्य च वदन्तः पण्डिताः प्रकरोन्तं दुराणदिग्गताः । आसदक्षिणेति विधेयमाहुः 'भगवच्छास्त्रतत्परा इति । नवयता श्रोतं आर्थं नीतापीनामराजपरायणशुभानादि तस्मिन्ना ये ते हृदाः । 'जलशयो कटाशालाश्रमश्रमजलो हृद' इति श्लोकर् नृणां जलशयो हृदः, एवं च-
पेकदेराग्लो नदीशततः । 'शस्त्रिण्यां काशीयश्रीत् हृद' इति 'हृद'शब्दः कृततया यत् 'स्त्रियुष्य' इत्यादी तादृशैवैव हृदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भाषे निविष्टा भगवद्भवा अपि हृदयवस्तुन्याः । त्वया सर्वकर्मेषु स्वरूपतः प्रवृत्तं फलतःशोचनं, तथा तेनिचार्य-
मायाशोभ्यः श्रुतमात्रं गुण्य स्वरूपतः फलतःशोचन इत्यर्थः । अत्रापि 'निवारयन्ति ये शान्तं वेदाम्नासताय ये' इति पूर्वोपन्यसयापवादश्रुत्योक्तं स्वरूपतः फलतःशोचनं चातुसन्धेयम् । हृदाम्ना सन्देहं श्रुतिगदुसल तस्मादुद्वृष्टं सत्यं भाषमाहुः सन्देहे-
त्तादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परे वेदज्ञानां श्रोतृणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं तार-

यन्ति, ते सूदाः, सुष्ठु सनीषीने स्वाहु सट्ठपे उदसुदके येषां ते सूदाः । तत्र हेतु-
 नाहुः गन्भीरमानसा इति । अग्राधं दुःखनादे दृश्यं येषां तादृशाः । तथा च ओतुर्दृश्यं
 शुद्धा तदधिकरातासारेण उद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं ज्ञात्वायैवित्यर्थः । तेन पार्श्वं ज-
 न्मुक्तं तादृशलोपां नावः स्वरूपाः फलसंशोचन इति ज्ञात्वां सङ्गः कर्त्तव्य इति भावः ।
 यथापि 'पूर्वोक्तज्ञानवशाप यो दत्ता'दिति वाक्यं 'यन्ञन्ति मङ्गो लोक'दिति तत्फल-
 वाक्यं चाहुतान्धेषम् । एवमेव वर्षादगमासीने नावद्वयमुक्तम् । श्रीकृष्णानुरागाम्बु 'सुदा
 इत्यनेन बाणेश उन्मत्त' इति पञ्चान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निजालं स-
 न्देहवारकलं च तद सोपावसानात्तत्रं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतॄणां विशेषतस्तत्तादृशदिति ।
 अतः परं 'हरस्याम्बः स्यादे'ति शुभमुक्तारेण तत्र उत्कृष्टं सुखमुत्तमममं मान्यमाहुः सर-
 इत्यादि । नववति त्रेम्या सुखाः निवृत्तौकिन्दराणां, तथा पूर्वोक्तपत् सुधाः भगवन्मा-
 नावतयाः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरकमकलंस्तृतीः, सरति दानि कमलाणि तैः स-
 न्दृती सम्पदभरिता वा आनन्दरागाः । न च शुद्धी सरस्यान्देन सरोधिकामकलमात्रसङ्ग-
 नादय कलसन्तर्होत्सवा कृत उक्तिरिति संभवम् । सरस्यान्दस 'पार्श्वं सरसीरुद्र'दिति
 वान्तलानसमायेन तार्त्तनभार्थमेव लभ्यतेत्यात् । अन्यथा ह्यप्यमुषाणां निक्षेपमावाचद-
 न्नोक्तारोहेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलभासाणां दृष्टान्तानुवृत्त्याय पदान् एव दृष्टान्त-
 येन सुधितासौन तेषां भाष्यमात्रत्वं सूच्यते । तथाच यथा सा आकाः सौमन्यप्रम-
 ङ्कजसङ्कृतिभिः सर्वेन्द्रियसुखदिव्यसुखा तेषां भाषोति श्रोतुः ज्ञानमाली संस्रमयन्
 तेषां सर्वेन्द्रियसुखादीं लभति, फलतश्चोक्तुन्वत इति तदत्र सुवासयेत्यर्थः । अत एवैक-
 दशस्कन्धे संवादसमाप्ती भगवोक्तं 'न एतन्मम भवेत् सुखदमास्तुष्टुफलं, तत्ताद-
 रकदायस ददाम्यात्मानमात्मने'ति । तत्रपरं 'वैश्वन्तीम्बः स्यादे'ति शुभिसुखस्य लो-
 मूर्तं नयनं मान्यमाहुः अत्यशुभत इत्यादि । अल्पं शुक्तकल्पस्य अल्पं वा सत्युत्पदा-
 रपक्षमपि येषां ते अल्पमुक्तः मन्वद्विपनकमेवमुक्तम् । ते वैश्वन्ताः कल्पसारस्तुत्याः ।
 'वैश्वन्तः पत्तलं भातपले' इति श्लोकात् । 'नित्र प्रवेक्षणे विप्रन्तस्मिन् वेसदय' इति
 निरुक्तेः । अत्र चान्यशुभदेमस्तुतयद्वयोः शर्वाभिव्यादातकदापि स्वरूपं सूच्यते । तेन
 'वैश्वन्तीम्बः स्यादे'ति शुभमुक्तं वा भाषसाधन्यलोपां नाव इति बोधितम् । तथा च
 ज्ञेयपरत्वेन पूर्वोक्तनातीमलेप्यन्तत्वाद्यथा तद्वत् सद्विषादिभिरनवादे भटुर्न भवति, तथा
 तद्वतोपि शुभेभ्योऽन्तर्हद्विषादिभिरनवादिभिरनवादिभिरनवादिभिरनवादिभिरनवादिभिरनवादिभिरनवादि-
 इत्येत्यर्थः । अतः परं 'जन्मत्याम्बः स्यादे'ति शुभमुक्तं वैश्वन्तज्ज्वालीनं दृश्यं नावमाहुः
 कर्मेत्यादि । शुभं च भक्तिमं शुभनर्कं, तथा पूर्वोक्तदत्ते शुभमाली येषां ते तपारा-
 शुभनर्कः । पूर्वोक्तद्विषः कर्मशुद्धा इति । भगवद्विषेन फलमात्रादिवेन कर्म-
 विरोधेरेवमेव च शुभेन कर्मणा शुद्धा तदनुत्पत्तिविषयशुद्धाः परकलाणि । वैश्वन्त-
 ज्ज्वालीनं

तयोः उपपत्त्यन्वयेदकतौयमेति श्रुतौ 'पत्न्यत्यागः स्यादे'ति निर्देशमेवाह पठन्तौ पठति पत्नये वेति निरुक्तिरेवाह तयोः कथित् वेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिमेवाहव्याख्याः । तेनैव पूर्वस्तादात्मिकमेति वन्तृत्यागद्विप्रादियम्पत्तया कातृप्याह तत्तुल्यकृत्यत्वेन । तथा च तेषां भावसाधकतुल्य इति तत्तादोष्यप्रबोधक इत्येतार्यः । एवमेव भीतिपितृनिवपकाः सन्देशा निवारिताः । नीतिपितृषु च शोभनाद्युपपत्त्यस्य भाव एव प्राधान्यवत्साधय पदि-
तिन्द्रियतादाभावात्साधयत्वेदे प्राधान्येन उपपत्त्या एव जलापत्तसाधयेन निरुपिताः ।

यतः सः प्रायश्चित्तानि कृत्वा सन्निवृत्तौ तेषु विप्रसूतस्य कनस्य एव
प्राधान्यादुपपन्नं विशेषतो यद्विदं निर्गन्धनीति दुर्गन्धस्य दूषणमेव यत्तु न्यूनं निरूपयन्तो
“वन्ध्याः स्मरंति” इति श्रुतिप्रसङ्गस्य पूर्वस्यादित्युक्तमेवमर्थं तत्रैवाहुः योगेत्यादि ।

योगध्यानादिसंप्रज्ञा गुणा यत्नीः प्रकीर्तिताः ।

योचयिष्येतिविशेषो, यन्मपयत्तद्वसहितः । यथा द्वितीयस्तन्त्रे प्रवर्णाध्याये 'यद्वा-
 यमपिबो भीर' इत्यादिना स्फुटमपवद्विपयकशास्त्रानुसृतः । 'यतः सन्ध्यापर्वणाद्यां यो-
 गिनो भक्तिप्रसङ्गः । आद्यु संवसते योग आत्मनः मद्भीक्षा' इत्यनेन लक्ष्यानि भक्तिशा-
 सत्रलोकेऽः । त्वार्यं सम्यक्भक्त्यापन्नः । यथा 'केपिस्तदेतान्महर्षिपालकयोः श्रद्धेयपार्यं
 सुखं वसन्तम् । यत्तुमुत्तमं कलशपादप्रसङ्गमाधरं धारयथा स्मरन्तीत्यादिपूर्व, आदिपदेन
 चार्या, रक्षितिमिः सङ्गितैरेकैकेन वा संयुक्तं नववसते गुणा योगप्रसादादयो रक्तजी-
 तादयम् । कसिलेदेवैः 'स्वित्तं मन्त्रज्जापनेन यपार्यं वा तुरगशय'मिति स्थानविषये लीला-
 नामयुक्तत्वात् । तावता गुणा यपार्यो वृद्धिर्ब्रह्मसम्पन्निभ्य यतो यपार्यः, तत्र यथा
 दिव्याः मूली पान्थो जलाशयान् खलत्त एव धरति, तथा योगादिमुक्ता मयवहृणा
 यमि योगिनि पार्तायाः मूनी दुर्लभाः लभिस्यादिविशेषात् तुराग्यंयति, न लक्षित्यर्थः ।
 यमपि वृष्टिवर्षे शेखरी पतिते तत्तु संसारहेतुर्मयमि, यपारि सोतो नाम स्थानानल-
 मयामिधेतः । तेषां योगित्वादान्तर्विहतेन यपालक्ष यत्तुनयवयत्वात्, कुयोभिलषा-
 तेन निद्रकलमापन्नस्य, 'पैताम्वं सांख्यमोषी य जतो भक्तिम केतये, यमनकेति विशेषं
 यथा सिद्धान् दर्शिविरे'ति निरूपणे योगस्य विद्यमर्षीलेयोव्यक्त्यामोक्षपीयं तदाह्वय ।
 दार्ष्टान्तिकतमान गुणायामेनोक्तत्वात् । यन्मया तु भावकयनलोभमज्जत्तेन तद्विरोधत-
 येव । उपस्तत्त्वैकमेव यत्तन्मज्जं पाद्यम् । इता पूर्वं कर्मबुद्धान्मुक्तत्वादय तदव-
 तेन योगसम्पत्, योगस्यपि कर्मविशेषादिति ॥ ७३ ॥

उक्तान्तरं 'मनुष्यान्मा' इत्येति ध्वनिबहुफल कर्मसम्बन्धिनमेव शब्दो भाष्यकारः तत्र इत्यादि।

तपोऽभ्यासादिभायेन सौकुमार्यं प्रधीर्लिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रवरगणेश्वरः । 'तपः सन्ताने,' कठिनेनित्यदिकं जति वल्लभं कुम्भान्द्रा-
वान्द्रानादिरुपं कथनं, ज्ञानं केवलासास्यादिभिर्द्वै, आदिज्ञानेन स्यात्, तेषां मायेन नि-

यमानतया संयुक्ता ये गुणान्ते खेदवाः प्रकीर्तिताः । यत्र योग्यतानादिष्वनुक्तपदैकदेश-
मूर्तं संयुक्तं पदमनुपपद्यते । तथा च ताप्या गुणाः खेदवाः प्रकीर्तिताः, 'स्विदा नाप्रश-
रते,' धर्मवन्नादिना सन्ततद्राष्ट्राद्यवस्थं पश्यतं सः खेदस्य सत्तायाता नर्पनलभिन्नत्वेति
विन्दुरुक्तत्वाद्दर्शयित्वा अवर्ष्माः वा वातो यच्छादयेन्मृगलास्यतुल्याः । ता यथा न छा-
नी-
नीमध्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्व्याप्येव तापनिवारिणः, चान्पसा, एवं तद्वता गुणाः ख-
पीलवर्गः । तेन ताप्यामपि सज्जो न प्रकृज्जेयमीति । तप्यादिभ्येव विशेषाभिनिवेशेन
गुणानां गौणत्वात्कचिन्सुख्यत्वेति प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्मत्वं च कर्षमित्रत्वे
सति तत्तत्तामसं, तत्र मूः प्रशरत्वाद्योष्यम् ।

ताप्यपीने तु वर्ष्मैतेत्येकेन मृताववसिता अवर्ष्मा इति व्याख्यातव्यं, तच्छास्त्रकं
शेषे । चतुर्दशस्य सप्तमादित्येन मृताववसिते तत्तत्तत्तामसाद् । अतश्चार्थं तत्र
खेदवत्तमेव मातृ, मूः शब्दत्वादिति ॥ ८ ॥

यत्परं 'हृद्दीप्यः सादे'ति सुविमलकल कीर्तयितुमिष्टमुक्तं तपोरसं नावसाहुः
अलीकिरुमेत्यादि ।

अलीकिरुमेव ज्ञानेन ये तु मोक्षत हरेर्गुणाः ।

वादावधित्वाः शब्दमगम्याः यत्तच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्ततामसखेदकः । अलीकिरु मन्दाकुपाजनं बहुदुःखमहर्षं वा
कलीकिनार्षमकाशकृपातो कलितशब्दं यत् ज्ञानं, तेन यस्याप्रतिमूलेन मनसि तेषां माना-
द्यैरेव श्रोत्रादिकारणानि मानतु कर्षेव तदभिन्नानुसारिणीताः कादावधित्वाः श्रोत्राणां
कलिभित्तान्तविशेष एव सुदिनोचता शब्दमग्या आसत्तामसादेव ज्ञानमाला ईष्या ये हरेः
सर्वदुःखहर्तृगुणाः रूपलीलाविशेषाः कर्षेन कीर्तिताः । 'पश्य गती,' पश्य सर्वतो गच्छद्
शब्दो ह्यदो याज्ञावर्षा सः यत्तच्छब्दास्तत्तामसाः कर्षेव कीर्तिताः । तथा च मगकतो रहस्या
ये गुणान्ते कायेभ्य एव कीर्तयितव्यः श्रोत्राभिः प्राप्यन्ते, न तर्हि । यत्तच्छब्दाधिकारत-
म्येषां ताप्या कीर्तयित्वा सज्जः सर्वेषां कार्यं हरेति यावत् ॥ ९ ॥

गतं तं 'हृद्दीप्यः सादे'ति सुविमलकल चतुर्दशं वर्ष्मं नावसाहुः देवेत्यादि ।

देवाः शब्दमगमनोद्भूताः शब्दाः श्रुतेरिदोद्भूताः ।

हेतुः कीलक 'अप्रतिज्ञा' विधाति-
मात्रादवधेयाः तापानं भव्यविधानं हेतुं वा तेषां श्रुता उपादये उदताः सप्तम-
स्यैव अनुगम्यता इति वक्ष्यते । ईष्या ये गुणाः ज्ञानपल्लवमगम्योदपतो श्रुताः अवसाव-
न्यथा यावः श्रुता इति सप्तममगम्ये व्याख्यातं, तदुक्त्याः । ता यथा वाचनमपि पतितः,
ता उदता इव भाव्यन्ते, न तु वाचनीयाः, एवं तेजसि गुणा मन्दादीना एव, 'सप्तद्विगुणि-
मन्तलं श्रीमद्भुजिमेव वा, तच्छेदावयवस्य तत्र यत्र तेषां श्रुतमवधिमिति नीलजातवीर-
त-

न्याय्यात् । परन्तु तादृशस्यः शीघ्रमेव देवीपक्षादिना वा प्रमाणमन्वन्ते, तेन च उचितान्यन्ये साहचर्या भवन्तीति यावत् । अत्रोपेयां स्वरूपं फलं च जपन्यमेव । नोदारेण प्रादुरा इति श्रुतौ नोदारस्य ज्ञानतिरोधापकत्वेनोक्तत्वादिति तेषूक्त्यर्थबुद्धिसादृश्यां सङ्गम न कार्य इत्यर्थः ।

अतः परं 'खन्दमानाभ्यः सद्दे'ति श्रुतिगुणस्य प्रमदसं भावमाहुः साधनेत्यादि ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

मेघपुल्यां स्फुरद्दर्भाः खन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्षाप्रमाणान्तो नादयो यस्य तादृशे यः प्रकारो वर्षादानार्गाभो विष्णुमहत्कारणरूपमेव प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गः । 'जपनं कीर्तनं विष्णोः सारणं पादसेवनं । अर्चनं पन्दनं दास्यं सव्यमात्मनिर्देवम् । इति गुणार्पिता विष्णौ भक्तिवैद्यवक्तृत्वे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । कतो वा वेद्यः भगवद्भक्तिरूपस्य वृत्तिर्हृदये व्यापित्वा कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्दर्भा देवु ते खन्दमानाः प्रकीर्तिताः । खन्द प्रसवे, प्रसवणरूपा वा आपसादृश्याः । यथा यथा खानपानाद्यमनादीं प्रश्रव्याः सार्वभुक्तां मुनिं वीतरत्नं कुर्वन्ति, सर्वभुगकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुण्या भवि पूर्वोक्तमकारेण सर्वान् शोढन् द्रष्टव्यं सात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति तादृश्यां सङ्गः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परं 'स्वाध्यायः सद्दे'ति श्रुतिगुणस्य प्रमदसं भावमाहुः साधना इत्यादि ।

पादशास्त्रादृश्याः प्रोक्ता वृद्धिभयविचरिताः ॥ ११ ॥

स्थावररास्त्रे मया क्वाता सर्पादिकप्रतिष्ठिताः ।

वाक्याः साधनादीनामन्य पर्वा इत्यन्तेन यत्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तज्जगत्-रक्ता सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शब्दे उक्ता, ये गुणाधारा वृद्धिभयविचरिताः य पर्जन्यो, न वा क्षीपन्तो, विन्त्येकरूपप्रतिष्ठानि । नियम, सर्पादिकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्त्येक-वत्सः' सर्पादायामेव एके च ते प्रतिष्ठितान् प्रकथयित्वाः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा यथा सागरस्य एकम प्रतिष्ठितं वा आपयताः स्वायताः सत्पुत्राः क्वाताः प्रकथिताः । ता यथा एकैव विद्वन्ति स्वाध्यामेन च वीतरत्नं कुर्वन्ति, गुणवत्त्वा स्वाध्यायनि च । अतः सता उद्यमान्याहुः कुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुण्या भवि स्वसम्पन्नान् साधनं च स्वाध्यायनि । तेन तादृश्यां सङ्गसाधनमायुष्मकः, न तु विद्येयानुपहृत्तक इत्यर्थः । अप्य मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्प्रतिष्ठितिं ज्ञेयित्वा । अन्येषां सर्पादाप्रतिष्ठितत्वेन बुद्धि-स्वरूपसाधनान्यापार्थदिकवृत्तयुद्देशेति ॥ ११ ॥

अतः परं 'नादेदीन्यः सद्दे'ति श्रुतिगुणस्य सङ्गदसं भावं भावेनाहुः अनेकेत्यादि ।

अनेकाजन्मसंश्लिष्टा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्गादिगुणयोथान्तरां वृद्धिभयमुता मुनि ।

निरन्तरोद्गमयुता नव्यस्रो परिकीर्तिताः ॥ २३ ॥

अनेषु सम्पत्तु श्रेष्ठिदाः सम्पत्तिदाः पूर्णतुल्यताया सिद्धाः । जन्माप्रभृतीनि
क्रियाविशेषणम् । एतन्नान्तरम्, सर्वदा सर्वसिद्ध्यन्ते यदातदुपदेशाभ्यां, आदिशब्देन
कातकदिशब्दभाषाकातकी श्री गुणदेशी कम्प्यं कृता मुनि नवनं नृः उत्तमिदिवन्ता-
नता या तत्तां वृद्धिपक्षुताः सत्तादेन समीचीनदेशकालकर्मसमावेष्टिदिनताः हस्तता-
दसमीचीनकालकर्मदेशकालावैः धनं प्राप्नुवन्तः, ईश्याः सन्तोषि निरन्तरोद्गमयुता निर-
न्तरो वदुद्गमः प्रकाशेन युतप्रकाशः ये गुणास्ते आदिपीनाप्रकाशप्रभृता या नयन्ता-
हन्ताः कीर्तिताः । तथा च तयो नव्य नव्यविशेषाकाः गुणाः काभिदुष्टाः, यथा यथा-
इयः, कर्मनाशादयम्, काश्चन काशताः, यथा 'कली वेत्रपती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्वप-
त्त्यानन्तरिण कृते हरतीति, तथा देशतः, यथा-भाषीत्यो महानदी च प्रवाहदेशेदृशः ।
एवं संवादति श्रेयाः, यथा श्रीवसुनासङ्गेन वैया उत्कृष्टा काशः, तस्मां नतं च साध्यमेव,
तथा वद्वता अतीति तच्छिदा गुणा अति कालकृता इति तादृशां संयो न निश्चयेनीयव-
पलब्ध इत्यर्थः । अथ च नदीनामेतादृशिवेपनकर्म दाह्यन्तिहे एतेषामेव परीणां प्रत्य-
येम् । तेन कोनेषु गुणेषु तदाभितो पैत एव नमी अतिदेशकालः, नेतर इति स्थितम् ।
जन्मपैताप्रकाशमवैषम्यावैति ॥ २२ ॥ २३ ॥

अतस्तर् 'सैन्यपीम्पः सादे'ति शुक्तिप्रकृततादात्म्यं भावनाहुः एतादृशा इत्यादि ।

एतादृशाः एतन्नास्तेषु सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अवेतादृशा इत्येतापन्तविशेषणयोः संगतः । सत्तया इत्यनेन मध्यविशेषणमि-
त्याः क्रियते । तथा पैतादृशा श्लोकसम्पत्तिदा निरन्तरोद्गमयुताः एतायाः जन्माप्रभृति
सर्वदा संयुक्तोपाभ्यां वृद्धिप्रकाशितत्वात्पक्षुः तदा ये वीयाः सिन्धवः समुद्रसामिन्धो
महानदी महानदीय वस्तुतयाः परिकीर्तिताः । तेषां नातो महानदीनस्तुल्यः । तदथा
एवं सृष्टे सनीचीनन्वयहारेण गुणकृतं वृद्धिप्रकाशितमपि गुणम्, तथा एताया गुणा जनि
सकृत्तः कलमगीतया इति एतायां संगः कल्प इति यावः ॥ २३ ॥

अतस्तर् 'समुद्रिणाम्या सादे'ति शुक्तिप्रकृतता एव उत्तमवृत्तिविशं भावनाहुः पूर्णतुल्यतादि ।

दृष्टी भगवदीया ये शेषान्तरासातिमागताः ॥ २४ ॥

अतस्तर्दृष्टीयायास्तो समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्वः ज्ञानविज्ञानकिशकलपुताः भगवदीया भगवत्सम्पत्तिवः । भगवदीय-
कन्दो जन्तुल्लसो वैद्वीरिदिरान्तरद्वयो 'भगवदीयत्वेनैव परिप्रकाशप्रदीप' इति श्रीमान-
पल्लवमल्लयोः प्रयोगद्वयमन्तावः । य इति हुक्तमर्थं तेषां सृष्टिदे । तार् वदन्ति
शेषेत्यादि । शेषः संकर्मक कलकुमारोपदेशः । एतायो भगवन् कारणवः, भगवतो
ज्ञानाकारः, समीची भगवत्सम्पत्तिं लील्यं जानुमूर् श्रीमान्भगवत्सुतान्, श्रुते च पाणि-

न्याजकम्, निष्कोटिलस्य वा निक्षेपनं, तथा च कश्चिदानन्दरूपाणि निष्कोटौ तादृशान्
 सुदान् सर्वान् पुण्यन् स्वयं गुणातीतस्य निष्काशाः सर्वज्ञात्मः सन्त्यो ये वर्णयन्ति, ते
 असूतोराः सुखोदसमुद्रतुल्याः सम्पत्पुत्रपौत्रेण वास्तव्याः कथिताः । अतस्तस्यां मासो
 गुणातीत इति । तत्र कवचद्वारा बलि सप्त यथावत्स्यरुक्षता मन्त्रश्रवणा मवन्तीति
 तेषां संगो दुर्लभ इति तादृशानां तेषां वा नाचक्षासां स्वान्कार्येण सुतरां दुर्लभमि-
 त्यर्थः । अत्र सुखोदा इत्यनुवासा यदसूतोदा इत्युक्तं तेन श्रेयसीति परिश्रमाद्भावर-
 म्पास्यो 'भरम इ वेद्यभार्यो नमस्त्येके' इति अनुवाचो 'भरमासायां नोधिर्वनानामृता-
 सागर' इति वाणस्पृशयोर्वृष्टिर्वा समुद्रमिति संवृहीती तेषां । किञ्च, 'हृत्पास्य' इत्यादि-
 क्षुती 'सर्पान्यः स्नाहे'ति समासादुक्तम् । तत्र सर्वसम्पदस्य पूर्वोत्तमसादकत्वे अपां ऊनमि-
 ति वेदा एव मवन्तीत्यभिप्रेत सर्वसम्पदस्य समुद्रमन्त्र एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रा-
 येनैव 'तपः प्रपन्नसत्विता' इत्यस्य सुषोभिन्वा 'मासो बहुविधा एवमेव विवर्ति वेदा' इत्यु-
 क्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सयोगत्वा ततो लोकेश्वरि सर्वदेवेन समुद्रनिर्वाणस्सौकस्या-
 न्तेकदप एव सत्ताव प्राप्य, नेतर इति संभवम् । तत्र यथावत् कमेण सहने
 शेषस्याप्तयोः क्षात्रधिमन्त्रोद्यत्स्वलापस्या प्रतिशोभनस्यै च मैत्रेयवरादयोऽन्त्यात्वाप्त्या
 निकर्षात्तेः । अतस्तथाप्येन्दोका इतर एव विमिश्रदर्शनात्मेन पद्माद्याः । तेन प-
 र्योकाः सहास्योदेवैव प्रविशन्तीति मम प्रतिपाति ॥ १५-१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मितत्वात्तद्व्यापनानिदान्तेनानां कालादिरोषदु-
 र्गतामलम्बमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्काप्राप्त्यः तादृशानामित्यादि ।

तादृशानां कश्चिदाकर्षं दूतामाभिच वर्णितम् ।

अन्त्यामिष्टाकर्षणवद्विन्नुपार्णं मधीर्नितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामिति कश्चित्तत्त्वतोऽप्यर्थेन विचार्यते केनचिदपराधादिना कणद्विषुके
 दुर्गं भगवत्सदृशतोदीर्घायां पातयं सुविशोचरं वरुणीति केच । तत्र दमापनादुः
 दूतानामभिच वर्णितमिति । यथा कदाचन्ये भगवत्प्रायां वर्णितं वायव्यमन्त्रिलस्य
 क्षुत्तिशोचरमभूतमेदानीमपि कणद्विषुकेन विपत्त्या मन्त्रीति नात्मन्यम्, किन्तु तु
 दुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सर्वं कदापनकमेवेति च साधयित्वा श्रेयसापुदीर्घा-
 निक्षेपविषयायकत्वापत्ताय पाले निक्षेपसाहूः अन्त्यामिष्टेत्यादि । अन्त्यामिष्टेन यथा
 यथाद्वारं वसुध्मसानं भगवत्पुत्रस्यमाकर्षितं, तथा वेदाकर्षणेनराक्षसां विदुषाणं
 मधीर्नितम् । जलविन्दोर्जपा पाने न दुर्धिरं, किन्तु जीवसुखार्दं, तथा लोदेवेनाप्यान् मसु-
 धाचानं सुदुरेवैव वा तन् वसुध्मसानं स्वमाकर्षणेनरा तद्विदुषाणपुत्रं स्वदोषज्ञानेन
 नातिरिक्तमिति वक्तव्यं यथाऽन्त्यान्तरे मन्त्रस्यविपत्त्यर्थं वेत्यर्थः । यथा लोदेवेनेव

रूपतः फलदायकं भवेत्कामादेः फलान्, विष्णोर्व्यापकस्य भवकाले शुभस्य धर्मः निरुपिगतः, निवृत्ताय कथिताः । तथा च भववशित्वेनैककाल्येव्यापारभेदेन वृत्तिदायकद्रुपरूपकदायकं भव-
न्तीति तदाप्यस्मात्सर्वं विचार्य कञ्चनार्थं नीयमहो ममवद्वैविधियो, नतु क्वचित्
शुभराशयत्वेनेत्यर्थः । यद्यप्यसंशये शुभस्य निरुपिगत इति वक्तव्येन शुभनिरूपणमेव तु-
ल्यम् । मानसराशयनिरूपणं तु तदुपेक्ष्यतया भाववैविधियि योषितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्बहुभाचार्यचरणीकान्तानवीतान्मरात्मजमुकपोरामविरचिता

जलभेदविशुद्धिः सम्पूर्णः ॥

धीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवत्सभक्तविरचितसमेतः ।

श्रीमदाचार्यकान्तकोणे सत्यं वद । तेनैव तत्तु तद्व्यवसायाधीनपतिर्मन ॥ १ ॥

नामानामेषु निविशतयैते वेदविरचयिणः । प्रवृत्तास्तदेवाय मन्त्राले भवन्ति हरेः ॥ २ ॥

असक्तमूर्खभाक्किञ्चिन्नां साम्यरूपतः । फलस्य निराधार्योऽस्यैकविशुद्धये ॥ ३ ॥

वेदोपेक्षितकृपादिरुपपन्नमेवम् । विवेकं चमिरे कवकायाणो हि प्रकाशने ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'विशुद्धयैवधीनवाक्य'द्वित्यत्र ममवद्व्यापानुवादे 'व्यवसायाधीनपति' इत्येवमर्थो निविशतयैक सदा । पशुस्य 'य' एतद्विरचयिणो सर्वेषां प्रवृत्तिरस्य । ते च शुभद्रु-
द्रुविषयिनः । तत्र शुभानां 'आत्मदायक्यं शुभस्य' इत्युक्त्यकारेण प्रवृत्तिः । तदुपेक्षया वि-
दितव्यविज्ञानयोगतत्त्वकर्तृदिशास्त्रकालेण प्रवृत्तं सा भवति । विषयिणां तु तत्र फल-
दिनादुक्तं प्रवृत्तिं तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे सामास्ये यैव वारते' इत्यत्र 'द्विः कर्ण-
योषते' इत्युक्त्यात् कर्णस्य सर्वेषु धर्मेषु भववद्व्यापनेककालस्य सकल्प्यतया तेषां सर्वेषां
साधनफलवैविध्यरूपत्वं वा वाक्यवैविध्यि कवेदे तद्विचार्यकं शब्दं निरूपयितुं श्रीमदा-
चार्यचरणाः प्रतिपादये—

ममसकृता हरिं बभूव तद्व्यापारं विभेदकान् ।

आवागमिच्यतिभ्य विज्ञान्वाचसन्वेदपारकान् ॥ १ ॥

इति ममसकृता स्यात् वक्तव्ये । आवागम्यु 'इति बोधेन्द्रियगत' इत्युपेक्ष्यहो
वीचयस्य एतेषां इत्युक्त्येति न वा ज्ञेयाः । तेनैव भववद्व्यापानेककालस्य, अन्यथा
ममवद्व्यापः सर्वे तदाकारककालस्य इत्येककालस्येन, शुभप्रविशोभेदात् । आवागम्यु-
क्त्यप्येव तेषां भेद इति विवेकमाहः तद्व्यापारं विभेदकानिति । ममवद्व्यापारं

स्वरूपतः इयकारकान् मिश्रत्वेन ध्यायन्कामित्यर्थः । अथवा सासम्पादाशुखारेण कलसाप-
कान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं गायकानाम् । ते भेदाः कर्तव्यं प्रमाण-
माहः विद्यानिष्ठा भिद्यन्निति । तत्राति द्विविध्यम् । एकं वीर्याधिकाराशुसारिणः । एकं
तुल्यः कृपया भगवदानुगम्याः स्वरूपनिष्ठाः अतश्चासौ विज्ञाः, ते एवामे अशुखोदरान्तेन
गायकाः । एते सर्वेपि भेदा भेदे कृपयाः 'कृपाप्यः स्वाद्य' इत्यादिना । एतद्विषये
सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे समेदा विपर्यन्त इत्याहुः सर्वेसमेदेहकारकानिति । एतद-
र्थमेव वेदेष्टुकाः ॥ १ ॥

तनु कृपादिपक्षान्तेन भेदज्ञानं कथं गविष्यति तत्राहुः—

शुणभेदास्तु नाचन्तो याचन्तो हि जले मत्ताः ।

गायकाः कृपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

मध्यम कृपादिपक्षान्तः, किन्तु तत्परिक्तानुपदोषसहितमलपक्षान्तोभिमेतः । तेन
याचन्तो जले भेदास्त्राचन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति साधः । तत्र प्रपन्नं प्रथमाधिका-
रिणाद्विषयिणां चापमाहुः गायका इति । गायका गवपदुपगायकाः । ते तु गन्धर्वा नि-
श्रुताः प्रसिद्धाः । तेनाप्यनेन सहजो धर्मः परमासीत्प्रसक्तोक्तं भगवदयः प्रपन्नपरायणा-
पाकापकृशला रागादिमाधुर्यनिपयत्वेन गावन्ति, न तु भगवद्दर्शेच्छायां ज्ञात्वा, परन्तु
भृशकाम्यान्वयन गायन्ति, तादृशासौ कृपयद्वाशाः कृपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कृप-
जाले, न तु शुणदोषयुक्त इति । यथा कृपी महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव,
परन्तु इरे अयच्छलं, तेनेतरविषयप्रपन्नतामेव रम्यादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तज्जालं भवेत्,
तथा तेषां भगवदधीनानां तुल्यमेव, परन्तु तस्य परमाकलमन्दविषयकप्रपन्नतामे तदेक-
निष्ठशुणयानेन प्राप्तं भवेत्, नो भेद इह एवेति साधः सूचितः । वस्तुस्तथाप्यथा भेद-
पीति सामान्यपक्षान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तदेदम्माहुः—

कृपभेदास्तु याचन्तस्तानन्तराग्रेणि संमत्ताः ।

कृत्वाः पीराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्येयुता बुधिः ॥ ३ ॥

यथा कृपभेदा बहुवचसा गायका अपि बहुविधा भेदाः । तानेवामे 'प्रेमपादित-
द्विज' इत्यनेन कथ्यन्ति । मध्ये पीराणिकानिह्यन्ति कृत्वा इति । यदपि गायक-
प्रकरणमध्ये पीराणिकनिरूपणं न संगच्छति, तत्रापि यत्किरुति तत्वाध्यपीराणिकानां वा-
चकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापयामोक्तम् । अकार्यं साधः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं
रागातालरन्ध्रान्तरादिभेदेन । अन्तरं यत्तुप्रोक्तमद्वये कृतायाकयनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभ-
येति तत्तदुपजीवितम्, परन्तु मूलकाम्यान्वयन गायन्तीति सामान्यपक्षान्तेन ज्ञापते ।
वस्तुपजीवित्वायमे निन्दितत्वात् । एवं तपि सामान्यत उभयेषां समान्यत्वमिहाप्यकानां

मध्ये छायायन्तः पीठविभक्तानि निरूपयन्ति कुलम्बा इति । तेषां पुराणादिग्रन्थेन तु
 नरपराभाषन्, न तु कथमेवेतिव ते कथयन्ति, साध्यास्तो पुत्र्या अस्या कुनिमा सन्ति
 प्रगल्भशीलास्तुल्या इत्यर्थः । इत्येति ना अति आत्यर्थ्यमुता, यत् आनीय-ते तयावापता,
 तयापि स्वयं त्वन्ता कुनिमा, न तु सहजा । तेनोत्तरोपे कदा अपि भवन्तीति सूचि
 तम् । तथा तेष्वपि यत् पुराणार्थोपगतं स गुरुर्महान्, नन्तु स्वयं त्वन्तावापता ।
 साद्विदिकमन्त्रार्थप्रवृत्तिद्विता । सप्तास्तिका । उपरोपे कदा अपि भवन्ति जात्या ।
 यान्तु प्रगल्भशीलात् कुलानां वृद्धान्तेन पुराणकथनद्वारा कथाविभक्त धर्मोपदेशका
 इति कथयन्तस्तथादेवतान् विशेषः । अत एव द्वितीयमावलेन निरूपयन् ॥ ३ ॥

जात्या अपि केचन पुत्र्यमेव पुराणपाठका, तदा तयोपि द्वीनत्यमाहु —

क्षेत्रप्रविष्टास्तो चापि खसारास्त्यन्तिहेतवः ।

ते च पुन क्षेत्रप्रविष्टा 'क्षेत्रं कवीशरीरयो'रिति श्रीपुत्रादिमरणापेक्षया पुराणा-
 दिपाठे प्रविष्टास्तदा सप्तारोत्यन्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुलप्राप्तपत्न्येन वाप क्षेत्रे
 प्रविष्टा यदा तदा सप्तारोत्यन्तिहेतवो रजोगुणशुक्लमेव सौ वेपथुस्तथादकलाद्विपा-
 थयोपमेवोलादिक भवन्ति, न तु प्रगल्भशीलप्राप्तपत्न्येनतुल्यकारकत्वेन वा देवा, तथा
 तेपि साप्तारीकश्रीपुत्रादिभरणशेषकथनोपबोधितेन पुन पुनर्भवमरणादिमुक्ता एव
 भवन्ति, न परितोत्तरका स्वात्मशेषका वा भवन्ति । तदवश्यमवगाह्यत् प्रतिज्ञासौ पुन
 चार्था कदा न भव-तीति भावः । एतेन तेषां पत्नीवर्गान्येवो निरूपयन् ॥ ३ ॥

एव मेदहममुत्तमत् पर गावकमेवमाहु —

मेदपादिसंहिता मत्ता मायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

पुत्रोक्ता मायका भूतकथ्यमहतिता । तेषामन्वयमर्थविज्ञानमात्रात् गावे भूतकथ्य-
 राहित्यास्मैतौचमलम् । तादृशः पुनर्वैश्वदिसंहिता, आदिष्वेवमेति विषयो वाचा-
 दप सूचिता । अत एव मत्ता, स्वतत्पर्यर्थिभिरहितकथेतया गर्तमुत्पा । गर्तौ जल-
 दिगन्धवृष । स तथाप्यहस्तपर्यन्तगतः दुष्टनीचकृद्वाक्यदिपदान्पुत्रेनैता पतनहेतुव
 भवति, तथैवेति स्वयं लक्षणेन पान्थिभिरपि पाठहेतवो भवन्तीति भावः ॥ ४ ॥

एव चतुर्थं मातृमुत्तरां प्रथमं मातमाहु —

जलार्थमेव मातृस्तु नीचा मानोपजीविनः ।

पत्नी अपि चतुर्थीया इति ये जलार्थं जलद्वारावर्षेन विपन्ने, मानोपजीविनो भूत-
 ताप्यापनत् गन्धर्वस्तुत्या । यथा जलस्य प्रयोगस्तुपत्नीवर्गमेव, सन्धर्व, कर्मात्तु-
 १) योनिस्तथाभावादीर्यकृत्तत्तामप्याय । तथा क्षेत्रवर्गं तेन मानोपजीवनमेव भवति, न
 तु कथम् निश्चितो पत्नी भवति, यत्तुव चतुर्थी योनिविद्वत्तापलेति भावः । एव
 गन्धर्वोना प्रयो मेदा कदा ॥ ४ ॥

एवं निपदितां भाषाभुक्त्वा सुशुद्धां भाषाभिरूपयन्तः एवं भाषमाहुः—

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवन्महात्मतत्पराः ॥ ५ ॥

हृदास्त्विति । पूर्वं तु सम्प्रतिष्ठाभावादपण्डितः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविषे-
नितः कर्ममार्गीया ययपि गृह्यदिसेधकालायाणि निवृत्तिमुक्ताः । अत एव प्रोक्षेभ्यसा-
भगवन्महात्मे तत्परा यताः । तादृशास्ते हृदा हृदनुत्पा इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो हृद-
उक्तो, न तु कदापि विशेषः । तेन हृदो यथा प्रवादपरमरहितो निर्मलः, तथा तेनि प्रवा-
दधर्माभिवृत्ता निर्मलतया इति सूचितम् । तत्परत्वरूपमेव तद्वर्धविज्ञासेवाधि, न तु
निःशब्दिर्यं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञान्यते । एतेन तेषां प्रथमपटुतिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोऽपि मनसापिशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सर्वं भाषमाहुः—

सन्देहप्रारणास्तु सदा गन्तीरमानसताः ।

सरःकमलसंपूर्णाः प्रेममुक्तास्तथा युवाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवन्महात्मे तु सन्देहप्रारणाः, यदुनां यतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते,
तेषां ये निवारकास्ते सदा । शुद्धौ मनसुत्पत्ते रेषां तादृशा हृदासाध्याः । यौवनतरकप-
नेन शुभविशेष उक्तः । किम्, यन्मोहमलसा इति गन्तीर मानसं तेषां, भाषाधर्मज्ञाने-
नाल्पसाधनाविपरीतनापनारिता कतुविनं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गन्तीरत्वसुदन्ता-
दिमुक्ताभाषास्तानाम्बलमुक्तम् । तत्र निश्चिद्यधर्मलाभतो विशेष उक्तः, तथा दास्यन्ति-
केति सन्देहप्रारणकत्वविशेषः । यन्तु शालसेन विशेषो न क्रियाया इति पक्षान्तेन सूचितं
भवति । अतः परं पूर्वतो निश्चिद्यमहर्षं भाषमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वं तु युवाः
शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गन्तीरमानसत्वरूपमेव ज्ञानसौख्यमुक्तम् । एते तु युवाः
ज्ञानिनः युवः प्रेममुक्ता भक्तिमुक्ता इति सरःसंपत्तिभ्यः कमलैश्च संपूर्णाः आम्नादितः
सम्पत्तयः । तदुत्पत्तरूपमेव निहितमनितद्विज्ञेयपुत्तः ज्ञानेन च वासिवात्तारकात्
इति सूचितम् । तेनायं किमपि सूचिता । तस्य विदितपरासंपत्तिभ्यो निहितरूपत-
त्वायेव प्रेमापि जेष्विति सूचितम् । एवमेते येषोपि कमल उत्पद्येरविश्रित्यर्षसहितः
सामान्यतो विदितमधिकमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परमेष्ठेभ्यस्तत्पराभेदाभिरूपयन्ते सर्वं भाषमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेममुक्ता वेदान्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः परमत्मानि तथात्वश्रुतभवत्तथाः ॥ ७ ॥

पूर्वेषु च सरोवरादीनेषु केचान्यं श्रुतव्यक्तं येषमेतादृशाः, यन्तु भगवद्भनेषु
प्रेममुक्ताः, ते वेदान्ताः अल्पश्रुक्ता परिकीर्तिताः । प्रेममुक्तयेनि विदितत्वेन प्रश-
त्वात् संपूर्णमनवधर्मज्ञानं विना गतिर्यथा न भवतीत्यनवशोऽप्युक्तं उक्तः । यथासत्तो

नानि चोचयेतां भावा कथीति भावः । एतेन पूर्वमेवमा हीनभावस्तुक्तम् । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेति प्रेम्णा भवेति च यथ्यम्' इति । एवं सर्वमित्यत्र । अतोनि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मसुखदा इति । कर्मैवैव सुखः निष्कामकर्मदिना चित्तसु-
दिशुक्ताः, ननु तद्वद्वानवसमाधत्तः, ते तु पत्न्यस्तुत्याः । यद्यपि वेदान्तपत्न्यस्तयोर्न वेद-
स्यापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्याप्येवान्तपत्न्यस्तयोर्नि वेदन्तीत्यः साहा
पत्न्यस्यान्तः स्वादे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तन्मन्त्रेण स्पष्टम् । परं त्रयेकानाम् विशेषः ।
पत्न्यस्तमपि द्विविधम् । एकं कमलसद्विरहितम्, अन्यं कलसहितम् । पूर्वोक्तेषु भक्तिव्या(सत्ता)य्
कमलसद्विरहितवेद्यन्तपत्न्यान् उक्तः, कर्मसुखेषु विहितैकमिहेषु कलसहितपत्न्यान् इति, यथा प-
त्न्यं स्वयं सर्वदा विरज्यते न निवृत्ति, कर्मकले पुनः पूर्वं भवति, तदपि स्वरूपतः
सत्त्वं, तथा कर्मपूर्वं पूर्वम्, तस्य ध्वे प्रुम्भतेति कर्ममरणपरिहृता निरुपिताः ।
पूर्वोक्तेषु कमलसद्विरहितवेद्यन्तपत्न्यान् भक्तिमन्त्रेण कर्ममरणपरिहृता संभवति ।
यथा कमलसद्विरहितवेद्यन्तपत्न्यान् कदाचित्तस्य महत्त्वं राज्ञं च कर्मित्वाभवति तथे-
त्यर्थः । एतेषु तदभावात् तथेति भावः । कदाचित्तन्मान्तरे ताप्यो ज्ञानी भवतीति विषये
निरुक्तिम् । किम्, यथा कलाद्याः पत्रकल्पाः प्रोक्तमात्रा वेद्यन्तपत्न्यान्धीयानां पूर्वम-
न्यधुतत्वं प्रेमसुखत्वं च निरुक्तिम् । ते पुनस्तत्पुनर्मन्त्रो भवन्ति, तथा पत्न्यस्तुत्या
एवेति भावः । अतो नु पूर्वमन्यत्वेन केवलं प्रेमपुनस्तत्वेन कमलसद्विरहितवेद्यन्तपत्न्यान् उक्तः ।
तदभावात्पत्न्यस्तुत्यर्थं सुखमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपसुखस्या पीडादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुण्या चर्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन श्वेदज्ञानसु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽज्ञातः । तत्र ध्यानादिः कल्पिसृष्टौलेन शत्रुजा ये गुणानो चर्याः सर्वात्मव-
न्धितस्तुत्या इत्यर्थः । कर्त्तं यथा श्रुत्यावलम्बितः, न स्वरूपावधमिन्धितमात्राणि पत्न्य-
शास्त्रायात् ता अपि यमयोद्धता निरुताः पत्न्यावेव गुण्य भवन्ति, न तु कश्चिदार्थो
संचादयति, तथा ताप्यो अस्ति न भक्तिफलविकारिणः । किन्तु तत्ताप्यनुसारिपत्ता-
पिकारिण इति भावः । कतः परं ह्यस्तौ मानमाहुः तपोज्ञानादीति । केचन तत्र एव
परं मत्ता कुर्वन्ति, केचन ध्यानमेव केचन परं मन्थन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—तत्रः प-
थाधितान्मादीनि, धर्मं केचन, तत्र बहुधायां भावाः स्वेदस्य स्वेदस्तुत्याः यद्विना
इत्यर्थः । यथा यमेव स्वेदयते कथंति । जम्भया च । अपविशमपौनस्यं च भवति,
अथैते भावाः कर्मसंयुक्ताः, च सुखसंयुक्ताः । यथेति तत्पत्रकल्पाः प्रेमसंयुक्तादिनि
भावः । अत एव 'तद्विधैवपत्न्या न याति च वेद्यस्य निर्वचनादुदाहृतम् । न कन्द्या
नेव कलादिपूर्वेषु नदस्तादर्थ्योपिभेदमिच्छुम् ॥ ८ ॥

अत एव तावन्ति धर्मे वृद्धिश्चरद्विलज्जुक्तम् । तेन निरन्तरवृत्त्यवपादप्रतिताः सामर्थ्या-
दाधर्मस्तुकासाक्षात्ताः कर्ममरणादिरहिताः शेषधर्मैवसाधिनः सामर्थ्यादयेति श्रुति-
तम् । यथा तादर्थ्यो नभोमि परंपरया नवन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्पद्मावेति भावः । जल-
शयनये वृद्धिश्चरद्विलज्जयेन कर्ममरणाभावा इति तत्वात्तन् ॥ ११३ ॥

अथ भक्तिस्वाधीनयेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अथैकलभ्यार्थसिद्ध्या जन्मवभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्वादितुमदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मार्थ्योक्तजन्मसाधनीः भगवद् भक्तिः प्राप्ताः । सर्वदेति साधनैरन्तर्ध-
नुक्तम् । तेन 'जन्माप्तरसहस्रेषु तपोभ्यामनभ्यापिभिरिच्छुक्तंजापनसिद्धाः प्रावाहिकम-
क्षिमनो भक्ताः सामान्यतः श्रेयतः । ते कथं जापनदशायां सद्वादितुमदोषाभ्यां वृद्धि-
क्षययुता भवन्ति, यन्तु निरन्तरमुद्गम उद्वलेन युता भगवद्धर्ममयजन्तः सद्गतेन
क्षमेति कर्मनिर्झा न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः कवीरूपा कवीनल्लुप्त्या हसन्ते । यथा
नद्यः कवीनलेन वर्धन्ते, शीतलसङ्गेन शीला भवन्ति, यन्तु मृताः मवादस्य निरन्तरमुद्ग-
मसिद्धति, तेन परंपरया समुद्रगामिनी भवन्ति, तथा साधकमात्रा भवि सत्सङ्गेन
वर्धन्ते, भक्तसङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्माभावाद् कदाचिद्वप-
कमुद्गमिनी भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तोक्तया शीतलिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च सिद्धान्तिरूपवन्तोद्गमश्च भावमाहुः ।

एतादृशाः ह्यलन्त्रादेरिच्छुन्धयः परिकीर्तिताः ।

पूर्यते भगवदीया ये शेषव्यासाभिमाहताः ॥ १४ ॥

जलनारदमेजायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मयन्ताः प्रवादयायीषाः स्ववशात्तेन न केनचिदपि क्षयं वा प्रा-
प्नुवन्ति, ते समुद्रवर्मेन समुद्रफलदण्डासीतः किञ्चनः सदानयो नद्यः वा तद्वत्ता तेषाः ।
यथा तादर्थ्यो नद्यः स्वयममक्षिपद्वाः सतः क्षुद्रं प्रमिश्रित, तथा साधन भक्ता अपि
स्वमार्गोद्गमेन भगवत्त्वं आप्नन्तीति भावः । अतः परं केन भगवद्धर्ममयान्तिर् निरु-
पमन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्यते इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मनिष्ठाः ज्ञातारो
पकाराय सर्वदा तदेवजगत्प्रीति, न तु कदाचिदपि म्लान्तायुताः शेषादपः । अतः केनो
गुणगानतः कर्तव्य भगवद्धर्मवत्तः । प्यातः सक्तयुगावकली, तद्वत्ताय समस्तधर्मवत्तः ।
अभिः शयमेव । अर्थः भावः । शीतलधर्मवत्तये अत्रद्वयमिति, कवीशान्तापौनदेवत्वं
वृद्धिर्नवीनदेवत्वं च । तेन साधकमिति द्विवचम् । एतं धर्मि नवीनधर्माभावात् प्रति
साधकमेव शास्त्रं भवति, न स्वकीयवत्तः सद्गमाष्टकधर्मोपमाधुनयेति साधकस्य तन्व-

सोऽनुत्तमः, अथैकः सारस्वतो मन्त्रः, परन्तु परिणामविरसकमेवैतं यमां नति
परिणामे विरसत्वाद्दीकारात् पुनरर्थवैक्यत्वात् इति शङ्कः । पूर्वोक्त्या यन्मतेतेषां ही-
नफलत्वमुक्तम् । एवं स्थितिषा बोधविकारानुसारिणो माया निरूपिताः । साधनसाध्या
लोकेऽवशिष्टा इति ॥ १५३ ॥

अथः परं क्षेत्रवेदप्रतीकं साधनमाध्याम्ये कथयन्मैत्रेयस्तथा, साम्यमेवेताद्योनि कथयन् माधो रज्ज्वा इति स्फुटीयानां साधनार्थं कृत्वा नाट्यमापन्न यत्परिणतस्य च दत्त एकविंशति मासं लभ्यन्ति ।

गुणलीलतया शुद्धान्सिद्धानन्दरुपिणः ॥ १६ ॥

सर्वविषय सुप्रसन्नियमयोर्वैभवमिति विनाशनाः ।

तदनुनौदाः सामास्यतास्तद्व्याख्यानं सुवर्णं भवत् ॥ २७ ॥

ये गुणविशेषोन्मीलकस्य रसात्मकस्य च सम्यक् सर्वे गुणाः, शोकादुत्थारिणो वा-
क्यनिराहार्यो, वेदादुत्थारिणो माहुरन्त्यमनिकारकाः प्रवचनोः गुणादुत्थारिणः सिद्धसुख-
प्रलयकृताः, रसात्मकजीवाकृताश्च, गुणातीतास्तु शुद्धा दोषरहितानि निर्मलानि। एषि-
दामन्दरुचिणः सन्तीति कथ्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदुत्थानाः, यथा अमृतस्य यदुत्थास्यतेति
अमृतस्यैवैव भाग्यदसौद्यमि वक्ष्यमाणेति कविदामन्दरुचयमेव, न अन्यथा। यथा
साहस्यमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरुक्तम्। किञ्च, समुद्रस्याप्यन्य-
स्येनान्येभ्यो विज्ञेय बाधिवत् दूरतश्चमापत्तं बलमादिशोपनिबर्तकत्वं देवोत्थैरेव मो-
क्षत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मो न्येतेतत्पदस्यैव एतदधिकारिमित्य मोक्षा इति वृत्ति-
श्च। यत् एषाधिकारिनिज्ञेयत्वं निबध्ना इत्युक्तम्। तथा चोक्तं 'सुहृदो रक्षिता
पुत्रि मातुका' इति। यत् एव रक्षिकजनानुभवेननेपलभ्यते नात्राः सर्वोत्तमाः। साध्या-
वचनो मया अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमस्तु कलकलभयोः कथनेभ्योऽपि युक्तम्, न तु
एतेभ्यो वेदादिषु, सर्वसाधारणतात्। आत्मार्थमिष्टान्दत्तं तथा निरुक्तम् कृतम्। स-
पत्तिशब्दस्य कथनार्थोच्यते चेत्तदा न एतेभ्यः, आत्मात्तं यथाप्रदः। यथा विरोधो
न भवेत्तथा यन्मात्रं व्याख्येय इति शङ्कः। एवं सातत्यवधिकारवत्सत्वरतिदेशमपि युक्तं
तत्र दुर्लभतायाः तद्वत्त्वपानं सादुर्येभ्योति। यत् एव 'मर्तिह सातथा शुद्धा च
दुर्लभे'त्यात्मवत्त्वमपि ते नात्र बोध्यन्ते इति भावः। यत् एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदु-
र्लभा' इत्युक्तम्। ॥ १०॥

एवं दुर्लभता से ही प्रसिद्धावाहक ।

नारदशर्मा कविज्ञानम् दत्तानामिष वर्णितम् ।

अजामिहताकर्षणमद्विन्दुगमनं मणीर्लिख ॥ १६ ॥

राजशाखां वाक्पत्रं कविदेशं भवति । उद्योगाभिव्यक्तिर्येषां भवति, यथा, राजशाखी-

क्षितयोः । यथा वा 'अधाम्यता'मित्यादि । यथा वा 'अमर' इति उद्भवं प्रति श्रीकृष्णमिनी-
 वान्यानि । पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्भववान्यानि । तादृशं वान्यं दृष्टानामिषं वर्णितं म-
 नसि । दृष्टान्तु यथार्थवक्तारो यथास्तुष्टं कथयन्ति, तथा तेषां वान्यं स्वातन्त्र्यमेव
 तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवान्यस्यातिदुर्लभत्वेनास्तन्वोपदेशकत्वं व्यर्थमि-
 त्याद्यहं तत्राहुः अजामिलेति । यथा अजामिले सर्वेषामनिकारिण्यसि परमहृष्या ख-
 नामनाद्यात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःशयनेषु कृपया परमाहृष्येण तारु-
 यान्यं कदापिष्मकटीकरोति । अत एव कणिष्ठान्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वान्यम-
 पूतकूपविन्दुवानं प्रकीर्तितम् । यथासुतस्य विन्दुवानेवमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मान-
 यान्यमभवनेषु तादृशत्वं समस्तमवगन्त्याहृष्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥
 ननु गङ्गाज्यज्ञाने जलेष्वपिवाप्यर्माणां विषमज्ञानत्वात्कथं परमकटं रोषयतीति तत्राहुः ।

रामाज्ञानादिभाषानां सर्वथा नाशार्थं यद्वा ।

तदास्तेहन्मिन्पुच्छं स्थानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्विन्दुवानमावशमे सोऽनुमतिषु यो रागः क्षेपः, गङ्गानं गगनस्वरूपवर्णयोः,
 आदिपदेनासमायनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकरत्वं तद्वान्यं भवति, एतदपरा-
 भवेनदालेह्नं गगनस्वरूपमिष्टमात्रेणदात्वादर्शं जायते, तेन प्रतिपन्नमिच्छुषिः सुषिता ।
 इत्यस्मिन्माहुः स्थानन्दोद्गमकारणमिति । तदास्यादे पूर्वं तिरोहितान्तरस्य प्रादुर्भावः,
 यथाद्देवाभक्तिरुद्गमस्वरूपज्ञानोत्सादनेनात्मनःस्वरूपज्ञानमवगन्त्याविर्भावो भवतीति भावः ॥ १९ ॥

ननु पक्षोक्तं देवादयो पूर्वा उक्ता, तत्रान्येतरदेशेषु न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं
 पूर्वं कथयामकथं च तत्राहुः—

उद्भूतोद्भवान्यस्यैव पतितोदकवसथा ।

अन्यतातिरिक्तवत्त्वानि कलं व्याधि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तान्तिरिक्ता भक्तोद्भूत्यातिरिक्ता देवादयो तेषां वान्यानि उद्भूतोदकवत्, यथा
 गङ्गात उद्भूत एवैव समानं अल्पमि गङ्गाजलेव, तथापि सर्वादात्मनोविधिना सात्व-
 तादिकं च गङ्गाजलेव, एवमेवास्मिन्, तथा तेषां धर्मवान्यानि भवन्त्येवमप्यं पूर्वा-
 त्यादिकं च गङ्गाजलेव, एवमेव पुष्टिपत्त्यापकत्वं वेति भावः । पुष्टिकलं तु तादृशं विन्दु-
 वान्यमिति तस्माच्छब्देनैव ज्ञेयतामयेति सुषिताम् । एवं उक्तिं सर्वोदात्तार्थवदित्यप्युक्तं
 पुनरुक्तमप्युक्तमप्युक्तत्वं तेषां सम्प्रतिमिति ज्ञेयम् । किम्, कृत्योपकलेन क्षिति-
 यस्तत्त्वमाहुः पतितोदकवदिति । यथा सर्वोदकमप्युक्तं पतितं भवति सुदं निर्मलं,
 तथापि मध्ये पृथीतं चेत् निर्मलमिव न भवति, सूक्ष्मं पतितं चेत्कर्मादियोगं भवति,
 तथा तानि वान्यानि उद्भूतानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशवदित्यप्युक्तमप्युक्तत्वं कलं व्याधि तथा
 देवपत्तकस्वरूपवत्त्वमप्युक्तमप्युक्तं न भवतीति भावः । एतदेवोक्तं कलं व्याधि तथा

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकापदनपद्मसरन्दपानपूर्वाध्वाननयनः स्फुरत्प्रान्तराश्रीः ।

मन्दस्मितो रतिविज्ञासुखबोद्धिद्वन्द्वकान्तिः सदा स्फुरत् नन्ददि गोविन्देभ्यः ॥ १ ॥

नात्मानिपपनाचार्यचरणान् नीनि संततम् ।

गोपीशभाषभावातिर्पेक्षुपातो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीनदाचार्यचरणाः स्तीरानां भावशब्देन पूर्वविमलाबोलस्पर्धं भावनिरूपणं प्रति-
पाद्यते । यथा निर्दिष्टासिद्धार्थं महत्प्रचरणस्य शिराचारत्वं, तस्यां स्त्रीषु निर्दिष्टा-
बोलविशिष्टार्थं भगवत्प्रसरणारम्भं महत्प्रचरन्ति नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये बहुमानां विभेदकान् ।

भाषान् विज्ञातिषां भिन्नान् सर्वसन्देहधारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्त्रीं नमस्कृत्य बहुमानां तदीयवक्तृगुणानां विभेद-
कान् विज्ञेयं भेदोपकान् भाषान् वक्ष्ये इति सम्बन्धः । विज्ञातिवक्तृणं भिन्नान्
कान् वक्ष्ये इत्यर्थः । ननु कृतकपदे निगमोक्तकवित्वाकाङ्क्षापानाहुः सर्वसन्देहधा-
रकानिति । यन्मूल्यात् सर्वेषां सन्देहभावः सादित्वर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्ति-
सन्देहधारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदलैवाहुः गुणभेदा इति ।

गुणभेदास्तु साधन्तो पाषन्तो हि जले मताः ।

साधकाः शुभसङ्काशा मानवर्गा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

पाषन्तो जले वेदा वेदोक्तसाधन्तो शुभभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ 'कृष्णान्यः
साहे'त्यारम्भ 'सर्वान्यः सादित्वन्तां शुनिरुत्सन्धेयः । गुणानां जलसाम्योपलब्धं
सातः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आयः खमायतो मेत्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां सातशुद्धार्थं,
तस्यैव भगवत्सम्पन्निगताह्वानादिति भावः । यथा जलसम्बन्धेन तदात्मकतां वक्ष्ये, तस्य
च जलसकृपात्मकतां च कथेति, तथा मन्वावति भक्तभावभेदने समुपाह्वं तदात्मका-
न्यान् कथेति, तं च स्त्रीषु स्वतन्त्रं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यस्य कथयितुं चेदुच्यते । तदात्मकते भक्तत्वमेव न सात् ।
आ एवोक्तं 'देवो गृह्णा देवान् वक्षेत्' 'भो यन्मूल्या स एव सा' इत्यादि च । तस्मात्त-

कलेषि न हानिर्दत्ते तद्व्ययनस्यैव न पत्नौ, न त्वन्यथैव इति स्वधुत्तासद्वाक्यन्यलेखोनि
नेत्यतः । तत्र प्रथम भगवतो रसरूपत्वाद्भक्त्यस्यैव साधनत्वात् तत्र न मानसमुत्पत्ता शुभो-
त्पत्तेः 'यदा कष्टं वै पुनस्ते विपिनमुते तदा बीजासौ मान्यते' इत्यादि । तस्माद्भानविषो
भगवानिति भावकत्वात् भगवन्मातुः मान्यन्त इति । विश्रुताः प्रसिद्धा मानसतया ये
नापकासौ कृतसद्भावाद्येवा नाप कृतमन्त्राण्य इत्यर्थः । यथा कृतैरन्य शीतकाले यन्त
सर्वं, पर्यकाले वायान् शीत, तर्हिष्णामनि कालोपि अल्पमानन्दलेनेपदि शीतलकृदन्तर
रसोपे भगवत्प्राप्तये यन्तसाधकः । तथा सति यत्किंचनुरवासातौ सति भगवन्मूर्तगुण-
दत्तेनान्त शीतल इति मानः । ननु एतेषां भगवद्गुणसम्पन्पत्तेन भागानावात् कथं भग-
वद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादवशात्भक्त्यापयाक्षितानादस्वरूपज्ञाने
भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सद्भावाद्ये निरूपित 'बीजाभादनतत्त्वज्ञः शुक्तिरिति-
विश्वतः । तालकिपात्रादेव बोधुमार्गे लभेत हि' इति । यथा बीजं अत्र गुणेनैव
प्राप्तं, तथैतेषां कालो भगवत्प्राप्तयेनैव प्रकृत इति भावः ॥ १ ॥

ननु यापकायामनेकभेदजापान् कथं सर्वेषां तुल्योत्पादइत्याह कथंभेदास्तिथिति ।

कृत्यमेवमाहुः साधनमस्माद्व्यवहारेऽपि साधयताः ।

कृत्या पीडाभिरुक्ताः शोचन्ताः पार्श्ववर्त्येव ता भुवि ॥ ३ ॥

वायन्ता कुम्भेदा रक्षितं तत्रान्त एव गायकवेदा सम्भवा इत्यर्थः । यथा केचित् भूषा
निद्रासपरिचायकस्य सुरतस्य यथा, केचित् कुम्भसाद्वारिषाककारिण, केचित् क्षाया कुम्भा-
रहितेन, प्रथमेन कोदामतया तेति मगधपुत्रिक-पार्थिवसमुत्तम, केचित् नाद्विज्ञानक-
स्य कृत्वा, केचित् आनमशुर्वपरा यदुम्भेदा रक्षित इति पान्थलसे तान्त्रालेपायति वेदा
इत्या इति भावः । प्रथममान निकृष्य द्वितीयस्याह कुम्भसाः पौराणिका इति । पौरा
णिका पुराणज्ञा कुम्भा लोका । कुम्भसाद्विज्ञान उक्त इत्यर्थः । पतो भुवि पारम्पर्य-
हृता, परमा यथा परम्परया पुराण पुराण पर्यवस्यति, न तु स्मृतौ विचारयन्ति, तेषां
भाष्यज्ञानतुल्य इत्यर्थः । यथा भूमिमा भवी प्रत्यहं एतन्नादिचारिण प्रपदति, अनायाद-
प्यप्रपन्नतो वाहुयदिमि सुविज्ञा भवति, तथा तेषामपि विषय पुराणपरिदर्शन एव
भावे भवति, नाप्यहः । यथा स्वस्य पारम्पर्यज्ञा कुम्भेन तद्व्यापारिद्रु, न तु स्मृतं प्रपद-
द्वेनस्यत् स्मरितं यथुद्रमस्य 'उ, रक्षितेयानि पुराणपरिदर्शनवत् एवोत्तरितमप्येव च म-
गादिने तु दयाप्रसन्नमगच्छामि ॥ ३ ॥

कुलीपमाहः क्षेत्रज्ञप्रिया इति ।

क्षेत्रजगिष्यस्तौ न्यायि रामारौत्थनिर्गल्यः ।

पेदभ्याद्विपुलिता मल्ल मलयकता गर्लैवलिप्यताः ॥ ४ ॥

ते च पीयूषिणा । गन्धनिद्रुष्यान्मृत पीयूषनिद्रुष्येन पुनश्च वायुनि-

समं भावनाहुः सन्देशवारका इति ।

सन्देशवारकास्तत्र सुदा संभ्रीरमानसाः ।

सूरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमसुखस्तथा युधाः ॥ ६ ॥

एतत् पदसङ्घासङ्घदेशवारकाः सम्पत्तिरित्युक्त्यपुनरुक्तमवधारणस्यापरा गम्भीरं कृतं येषां ते सुदाः शुभं उदकं येषामेताव्या ददन्निषेधस्तुत्याः । तेषां भावस्तद्वदोदकस्य इत्यर्थः । यत्ने मुक्तिर्लभास्तथापरपरहितः सम्भ्रीरमानसीत्यस्या अन्तः कालुष्यान्वायसा-दिदोषादिना इति भावः । यथा हृदयतं गम्भीरत्वे धर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तस्य भवति; तथैतेषां सौख्यकर्मजनकसम्पत्त्यान्वीतलो बहिर्लोकनिवृत्त्यर्थं गन्ता इति भावः । अयं भावनाहुः सूरःकमलसम्पूर्णा इति । यथा कूर्वाकराकमन्देशवा-रकाः युधाः प्रेमसुखस्तत्र सक्तं सप्तसप्तमिपञ्चमश्रीचरैः, परन्तु नादप्यपस्तुत्याक्षेपं नावकास्तुत्य इत्यर्थः । यथा कृच्छं सूरमितीतल्लुक्त्यात् कश्चीनिवासमुक्तमवधारणे-बोधयोग्यं, तथैतेषां भावोति । सौख्यत्वं नमस्तत्त्वं परतः पाननो हृदयतं कश्चीनिनि-नीयासिद्धिद्वित्यवधारणेबोधयोग्यो भवत्परमात्मनस्तत्त्वावधारणमनुपाधितविभक्त-तादिभेदि भावः ॥ ६ ॥

नयनं भवनाहुः अस्वप्नुता इति ।

अस्वप्नुताः प्रेमसुखता वेदानताः परिशीर्णिताः ।

कर्मशुद्धाः पञ्चकानि तथास्वप्नुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्रं सुखरूपमयं तेषां ते प्रेमसुखाः सन्तो वेदान्ताः सत्त्वदत्तं परिशीर्णितः । तेषां भावस्तद्वदोदकस्य इत्यर्थः । यथा तद्वत् नवीश्वरकाते निर्गतं धर्मकाते दत्ताश्वत्थाय बलितं भवति, तथैतेषां भावोति भगवत्प्रेमादिषु प्रेमसुखताधिर्मलो भवति, परमस्वात्म-गत्यात् अस्तुहीकित्यापदिना कालुष्यादिकमाधोति इत्यर्थः । इयं भावनाहुः कर्म-शुद्धा इति । कर्मत्वेन ये भगवत्परिषर्वा कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवत्प्रेमं 'मत्कर्मपरतो भवे'त्यादि । अथवा कर्मणा न सुदलवधारणं स्यात् । अत एव 'पञ्च स्मृत्य'दि स्मरति । तस्यात् सर्वोक्तस्वपन्नकर्मजनकत्वेन सेवापदात्तं केन्द्रे, ते कर्मशुद्धासौ भावः स्वतन्त्रमपरोदिशेकस्तुत्य इत्यर्थः । स्वतन्त्रसरोजतं पाननोमं भवति, न तु भावनाहृतनोमं, तथैतेषां भावोति भगवत्स्वात्मन्यायकिधित्पददो, न तु मत्कर्मपरमाहृतनोम इति भावः । तथैकानशुद्धिभक्तयः अन्तं श्रुतिजननं भावनादिषु नयनमाहृतनय, तथा भक्तिर्नेषां तेषां तदुत्था एतेत्यर्थः । अस्वप्नुतप्रमत्तिनेवाह-तात् तथैत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावनाहुः योग्यप्यनादिना संयुक्ता इति ।

योग्यप्यनादिर्लस्युक्ता सुधा यस्याः प्रशीर्णिताः ।

ततोऽनादिभावेन सोदजास्तु प्रशीर्णिताः ॥ ८ ॥

दीर्घोऽप्यस्य, ज्ञानं प्रदेयाह्वयमायादेः । तत्संयुक्तः गुणाः भावाः वर्णाः तत्रल-
 तुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावसाधुत्वं इत्यर्थः । यथा वर्णोक्तेः अलं सर्वं तुल्यं परम-
 विरस्यति स्थितेषामपि योगादिसमय एव भव्यत्वात्, न सर्वेदेति भावः । इदं भाव-
 माहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तथा कृष्णदि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्या-
 विद्याभ्यस्यमोक्षज्ञानं योऽप्यस्यदार्ढ्यज्ञानं लीलितैः (कर्म)निर्णयं भावत्वेन संयुक्तः सोऽनारु-
 प्रकीर्तिताः सोऽनारुत्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः सोऽनारुत्य इत्यर्थः । केचित् तप-
 स्तेन भवमान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्यात्, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो
 भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव व्रतन्ते । केचित् योऽप्यस्यदार्ढ्य-
 ज्ञानेन मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्वे एतावता । यतो भगवत्प्रापितु
 मर्हति, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'भावं वेदेन तपसे'त्यारम्भ 'मत्स्या क्षनम्पया
 क्षय' इत्यन्तम् । 'रुह्यैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावसाधुत्वं इत्यर्थः । यथा
 सोऽनं यत् क्षान्तापयोग्यं, अस्मात्, तपकरम् । तपेतेषां भावोपि नात्मलोपका, नापि
 भगवत्प्राप्तिकरः, तपयोगादिकर एवेत्यर्थः । अतस्तान्मतेन हेतुमथ वर्णित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ययोदशं भावमाहुः अलीकितेन ज्ञानेनेति ।

अलीकितेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतञ्जलाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलीकितेन भगवत्तेन महत्तमभारतजोमिषेकत्वेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वज्ञ-
 पदार्थः कादाचित्काः कदापिदेव क्षीवार्था दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकीर्तताः प्रतीक्षमाणा गुणाः
 शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिकल्पवचनपूरुषैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतञ्जलाः सर्वत-
 क्षिकराज्यवचने ये शब्दाः तत्त्वगम्याः प्रकीर्तिताः विरचिताः इत्यर्थः । तेषां भावसाधुत्वं
 इत्यर्थः । यथा पारायणशब्दाः तव अलसिद्धिप्राप्तकास्तथा सर्वज्ञेनमपि तद्वदि भगवत्सिद्धि
 पोषयतीत्यर्थः । पात अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तद्विनेत्यर्थः ॥ ९ ॥

ययोदशं भावमाहुः देवाद्युपासनीयता इति ।

देवाद्युपासनीयताः शृण्या भूमेरिषोऽहताः ।

साधनादिप्रकारेण भगवता भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

ब्रह्मपूजा स्फुरद्ब्रह्माः स्वन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

पादपास्तपदाः प्रोक्ता वृद्धिभयविचरिताः ॥ ११ ॥

स्यापराधो समाकृपाता मर्षादेकवलिहिताः ।

देवाः विवादकः, आदिपदादुपाहुर्गोमिषादकः, तेषां उपासने प्रौढता तप भग-
 वत्तेन नदीभारतेन मोक्षसाधकत्वेन ये मन्त्रास्ते ग्रीः सकलशुभप्रदाः तुषारलक्षणा इत्ये-
 त्यर्थः । तेषां भावसाधुत्वं इत्यर्थः । तेषां वरत्वेन किमिच्छते, किन्तु भगवतो-

उभयस्य विनिर्गतत्वात्तरुः । अत एव 'सौम्यया वृन्ता'भिर्युक्तम् । यथा तज्जलं न स्यात्-
 दिव्योर्म्यं किन्तु स्यात्तदपि वीर्यं करोति, तथैतेषां भावोति न शुद्धादिकमुत्कर्षवति,
 नोक्षणापत्तेरिति भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाभिप्रायवशात् भवन्त्यनुकारवति इत्यर्थः ।
 यमदशं मानमाहुः । साधनादिप्रकारेणाविहीतप्रवृत्तिरुत्कर्षादित्यत्र अग्रादिप्रमाण-
 तिरूपो मार्गमेतेष्वेव प्रेषयित्वा ये स्फुरन्त्यमोमे इत्यन्द्मानास्ते प्रसन्नयुक्ताः प्रकीर्तिता
 इत्यर्थः । तेषां भावस्तद्वत्तुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्धतादिवृष्टिमाहुतपात् वर्धते, आत्मावियु
 च हीयते, तथैतेषां भावोति साधनस्त्वर्धवर्धते, दुःखहृदिमिव गोपतां प्रमोतीत्यर्थः ।
 अत एव कतिचिदैवैः साधनस्त्वैव देवहृतिं प्रति कल्पत उक्तः 'सद्ब्रह्मोपय मे मार्ग'इति ।
 यद्वा, नवधाधरणादिरूपभक्तिमयीरागादीदसाधनानादिकस्योपेय स्फुरत्वा धर्माः इत्यत्र तज्ज-
 लोदेनेत्यादिरुक्तः चेदु तेषां भावः सन्द्मानवत्तुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं घृष्ट्यादिकस्यैव
 तथैतेषां भावोति धर्मसाधिका इति भावः । योक्तं मानमाहुः वादृष्ट्याः पूर्वमुक्ताकारायाः
 सदादित्या वृद्धिभूयविवर्धितः सम्बद्ध इत्यत्रेव प्रविष्टा इत्यर्थः । निरूपिता क । यथा
 नवधाभक्तिमार्गमर्मादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताभ्येत् तदा ते स्वाधराः समाध्याताः
 सम्बद्ध प्रकरोय प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नागरादिभिर्हृदि व्रजोति, न वा
 घृष्ट्यादिभिर्वर्धते, न तज्जलेनावर्धयतिः शुभ्यं भवति तथैतेषां भावोति दुःखहृदिभिर्न
 वीर्यतां भवति, न वा भक्तत्वादेन वर्धते, तद्दृष्ट्येव न शुभ्यो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मसंसिद्धा इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मवधुति सर्वदा ॥ १२ ॥

सदादिवृणद्धोषाभ्यां वृद्धिभययुता भुवि ।

मिरन्तरोद्भवयुता मन्त्रस्य परिधीर्निताः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्बद्धकरोय सदाहृदिभिः भववत्तुलया वा सिद्धाः
 सदाहृत् सेवकयोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः जन्मवधुति आजन्मतो भववत्तुल्यवत्तुल्य सत्वेद्य
 सर्वजन्मसु सदाहृताः भववत्तुल्य सदाहृताभिरुत्कर्षः परिधीर्निता कथिता इत्यर्थः । तेषां
 भावस्तद्वत्तुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जन्मनां वर्षादिभक्तवृद्धिभावेकत्वं, स्वतन्त्र सदाहृता-
 मित्वं, तथैतेषां भावोति सत्वेद्ये भववद्भावी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति ।

एतादृशाः स्वतन्त्राभ्येतिस्त्वन्धः परिधीर्निताः ।

पूर्णा भगवदीया ये वीर्यव्यासादिभिरुत्कर्षाः ॥ १४ ॥

जन्मनारम्भेजायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्णतया स्वतन्त्राः भववत्तुल्यवत्तुल्यवत्तुल्य निरुत्कर्षिताः । सदाहृता
 एव भववत्तुल्यवत्तुल्यः शिन्धव्यः समुद्राभिरुत्कर्षा इत्यर्थः । तेषां भावस्तद्वत्तुल्य

तेषां भावः सुषोडशुत्प इत्यर्थः । यथा ह्यस्य स्वरूपविस्तरादिकं पानकर्तुमिन्द्रियदोषवर्जिकं, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्पन्निभवेति भावामोहमलकाराभिरुपकरणं कारयति, साध-
म्यन्वेष्टान्मासाति तेषां सन्नादकतीति भावः । इति सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्व-
वर्ति' इत्यादिभूमित्येवंपराद् परमपूतः सर्व स्वेच्छयैव करोतीति ये गुणान् दर्शयन्ति
ते क्षीणेदुःखत्वास्तेषां भावस्तदुत्पत्त्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे सादुलं क्षीरजनकत्वमधिक-
कले माधुर्योपिनयं, तथैतेषां भावसाति मनोहरत्वमधिकगुणानामपि शुद्धाभिनयं ता-
त्त्विकत्वं च साधारणकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तद्विरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः । भग-
वान्महीकिनमीयेषान् क्षीयान् साधनरहितान् अवि सार्वभौमैव मोचयतीति ये गुणान् व-
र्णयन्ति तेषां भावो पूतोदुत्पत्त्यः इत्यर्थः । यथा पूतं मन्वसम्पत्वं विनाशि सगानेन व-
त्तवन्तं दोषमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरव्यापारं योमन्देहं करोतीति भावः ।
भगवान् इति निवदुर्गन्धवृत्तिभिः प्रापस्तानलक्ष्मणसौमंदिरमिषाभ्यं परमोर्मुदिति चतुर्ग-
र्गस्य च एव शेष्य इति ये गुणज्ञानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथैष्टुरसो मधुतो-
न्मासावनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वेष्टेभ्यस्तदज्ञानेन मधुरं सेवनमपृष्टौ च त्रिविधतापविना-
रकमेति भावः । 'मन्वे चांधकलाः पुंसः कुम्भस्तु सगन्धान् सवन्' इत्यादिवाच्यैभ्यः पु-
राणमुक्तोपमो भगवान्-दयालाकपरहितोऽप्यी मन्मथं शेष्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते
सुषोडशुत्पत्तास्तेषां भावः सुषोडशुत्पत्त्य इत्यर्थः । यथा सुषोर्दं तृणादिविचरकं क्षानादिना
मरुनिवर्तकं तापाच्छरी च, तथैतेषां भावोपि तृणविविधारकः पापविवर्तकसारमिष-
रिक्त इति भावः ॥ १५६ ॥

इत्येवमावर्तितेषु द्रुवपातिरूप्यन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सविदाबन्धरुचिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽमृतादीनाः सत्माकपाताः तद्वाक्यपानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये गुणातीतभावस्तदुद्धाः केवलं सविदान्धरुचिणो भगवत्पाः गुणा इति ये सर्व-
ानेव गुणान् नृतापिस्तमायेन सर्वान् एव, वीरक्षेत्रापायाविर्जितमारभ्य एतोरुत्पत्त्य-
भूतामृतपर्यन्तं विष्णोर्वीरकला सर्वं तद्वत्तुल्यं ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवत्ती-
लादिकरत्नपञ्चाङ्गाः ते मरुतोदाः सत्माकपाताः सत्माश्च ब्रह्मणेव कथिताः । तेषां भावः
सुवाचन इति भावः । यथा सुवाचाः अष्टवक्त्रादमृतं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां
भावसाति भगवत्सेवयोन्मदेदुष्मात्तरकत्वं भगवत्सेव्यत्वं उदिताराभोग्यत्वं चेति भावः ।
एतादृशां तद्वत्तत्वं तेषां वचनसत्तत्वं पानं अथवा शार्दं मनसा मदनं कन्त-
मिषेणं सुदुर्लभं सुतर्पं दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभात्वेनस्ता तद्वत्तत्वा मरुत्वव्यापकत्वमुक्तमिति
भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्त्वज्ञेनैवेत्याम्य 'विद्या भारीमुत्तमो'लमतेन, 'अपति'

मानोदीतयोः । उद्गरोदकं यथा वानादिरक्षयामेव शुष्यद्यन्ति कथेति, स्रोतविमानसत्-
कान् शुष्यान् विदधति, स्वस्तिविषयाश्च शीतोष्णानां भवते, शुष्या तु सदैकरूपेति सदै-
करूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपलब्धरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्निद्रयमला नानामात्रं गता सुषि ।

कृपणः फलतश्चैव शुष्या विष्णोर्विरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति गन्तासी प्रसारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राज्ञाः सुषि नानामात्रं ता-
त्त्विकदिनान्नं फलः प्राज्ञाः एतारणा विष्णोर्मेगवतो शुष्याः स्वरूपतः फलतश्च विरू-
पिता विविचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीवासकृष्णकृतअलम्बेदविपुलिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि समाप्तरं पुष्टिमर्षीरामर्षीयोः पूर्णा ये
मर्षवदीयास्तु उच्यन्ते । अत्र एव विपुली मत्तया तेषां च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र म-
र्षीरामर्षीयास्तु मत्तया मातृलम्बज्ञानवहितत्वेन पूर्णाः सर्वदा शुष्यता मर्षद्वारेण धर्मि-
परा, पुष्टिनागीनास्तु धर्मिमात्रपरा, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरत्वं च । तद्विदे सार्व-
मिना सातुभवध्या तेषांस्तत्त्वात् । तत्र पुष्टि शुष्या अपि नीपवास्त धर्मिरुता एव । अत्र
एव 'तत्र कच्छतु'मित्यत्र कथाया अति गुणरूपाया भगवत्समत्वयोपनाय बहुमलमु-
क्तम् । केन सार्वजन्यकृत एव कम्पवति । अन्वयः शुने शुष्यानङ्गीकारेण तेषु बहुम-
लोक्तिर्विपदा सात् । तत्र दोषः पुष्टिमात्रीय एव, अन्वयः शीतलम्बमन्वितात् । व्या-
सस्तु मर्षीरामर्षीयः, समाधिकृतस्याप्येव मर्षपरत्वंवत्तात् । 'अत्रत्यत् पुष्टे पूर्ण'मिति
शान्त्यात् । अतिष्ठतु मत्तयात्वं पुष्टिमात्रीय एव, पुष्टिमितिरूपमुक्त्याविन्दरूपत्वात् ।
मातृलोति तथा, सर्वदाप्युपलभ्येति पुष्टिमर्षप्रसारेणान्तराहमकत्वात् । अत्र एव शीतो-
तामनःसमवर्तिन्ये तद्व्याप्ती दृष्टिभया एव तस्य भेदवत् । अत्रो मर्षीरामर्षीयः, पूजा-
परत्वाद्गुणसमत्वत्वात् देशसमानप्रतीक्यत्वाच्च । नारदीति तथा, सततं शुष्यतया
साकम्पयेन स्यात्तत्त्वात् । मित्रेणेति मर्षीरामर्षीय एव, भगवत्परोक्षेति विदुतेपदे-
पूलेन स्यात्तत्त्वात् । अन्वयौदन एव जितेनुग्रहान् निवस्तमिदुक्त्यानेन सत्तुनसत्तत्त्वात्
वदेत् । अत्र यदि पुष्टिमर्षीरामर्षीयत्वविशेषेण वदेत्तु पूर्वत्वमेकदश सत्तुनसत्त्वयोच्यते, न

[illegible]

सर्वं तु सामान्यतः समन्ति तमादाय समोक्तिरिति । अन्यधिकारयोः प्रत्युक्त्या स्वाभि-
नीभावनिरूपणे 'यथा सत्तापी पुनर्योग्योप' इति स्वाभिनीपु पुनरिष्टान्तरकथनं न श-
ङ्गयेत् । स्वाभिनीभाषणोपयोः शुभेकस्वर्गव्यवहारव्याप्तात् । अत एवात्र स्वस्त्य श्रीभाग-
वत्प्रकटकलेन सम्प्रमत्तया व्यासप्रणीत एव निरूपयम् । गैतानतानार्थोपपत्तौति तत्त्व-
रूपकान्वयापत्तिः । कल्याणतानुश्लोचमयोः साम्यसम्प्रत्ययानां व्यपदेश्यव्याप्तात् । अन्यथा
भवति दुस्वीचये दुस्परकालनतांवाचनान्तरकलेन 'पुनः शक्तिनिर्णये'लादिना दुस्परकाल-
नकथनं चाप्येत । अतो पर्येषैव केनचित् सर्वत्र समोक्तिरिति नात्र दोषलेखेति । अत
एव, भास्वरूपतया सहनशीले भवति नीलनीलरक्तान्तोति दुन्यते । विम्व, 'मही-
कृती समर्पद' इति सर्वोचये नामनिरूपणेन शङ्खानन्दभाषां सर्वोदपत्तिप्रदात् तत्त्व-
त्वमपि स्वस्तिन् प्रोपयितुं तत्पत्तिताले निरूपितः । गैतानता न्यूनत्ववापत्तिः । 'अधिकं
तमादुपपत्तिः, न तु तद्व्यापि' इति न्यापत्तात् । अत्रापि, यथा पुनैव सर्वोपतारणनतायां
श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भववान् स्व' इति तत्र विशेष उक्तः, सर्वोपतारणनता-
यां पुनरुपपत्तिप्रदात् । तथाचार्थोपपत्तिः यथादिपर्वोदाकार्यकारणात् सेवादितुष्टिकार्यकार-
णाद्यौपपत्तिप्रदात्तुल्यमस्तीति प्रोपयितुं प्रथमतस्तन्मये निरूपणं विधाय यथादा-
चार्याणां 'गुणलीलये'लादिना निरूपणं कृतमित्यस्तिप्रकटविदुषांन्यपामतयोऽभिज्ञा-
नसत्तत्र एवेति विद्विष्टाचार्यपर्यायधैरवधेयमिति हिम् ।

अभिज्ञानिदृतापक्षाः पूर्ववत् प्रकृतेः । अथपत्र अपि सुभास्तु विभजन्ति तदीरिति ॥ १ ॥
यन्मात्राद्यवयवप्रत्ययविभक्तं विदन्ति हि । समारपति ये सर्ववर्तिपूज्यनोरितम् ॥ २ ॥
गुरवः विदुषां मे कवितेन मुने बधि । दासीपूते प्रसीदन्तु वन्दन्तु विनतां वतिन् ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णं भगवद्गीता' इत्यस्य संहार-
विराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीतत्त्वैः 'पूर्णं भगवद्गीता ये दोषाभ्यासादिमा-
कृताः । जलमेरुद्वैषाचार्येण समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलमेरुनाथप्रत्यये
चतुर्दशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव येषां तां उक्तं भगवद्गीता (पुष्टिमन् ।)
अथ समुद्राण्डो योगिकोऽपि भाषः । तथा च गुह्यता सहितः समुद्राः । समुद्राण्डे
दिक्ताधिकविश्रमजनेभ्यःपर्यवर्तितकल्याणरूपा जलहीनकल्यादिचिद्व्यापाररूपाणि

प्राज्ञा । तेऽयं जलारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिश्रुतीनाः । तत्र शेषः श्रीमन्नारायणोपासनासुखरूपवैदिकधर्मवरायणमतसमुद्राद्विज्ज्ञानसिद्धयर्थेरागाशुवरूपः सं-
 गृह्यत उक्तः । व्यासः श्रीगोशंजनकज्ज्ञानोपासनासुखरूपवैदिकधर्मवरायणशीतलसमुद्राद्विज्ज्ञान-
 वसोपचाराचार्यविष्णुसामिन्नरूप उक्तः । अग्निः पुन उक्तस्य सत्यसम्प्रदाये पित्रश-
 वप्रकारतः सर्वपदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीनोपीजनकतमशेयनसुखरूपधर्म-
 रायणशीतलसमुद्राद्विज्ज्ञाननिर्गुणनक्तिमार्गाचार्यश्रीकलमरूपः उत्पन्न उक्तः । माकरो बाभुषो
 हनूनाम् नद्यानिष्कृतज्ज्ञानोपासनासुखरूपवैदिकज्ञानधर्मवरायणशीतलोमयविष्णुसमुद्राद्विज्ज्ञान-
 रायसत्तामसोपचाराचार्यमध्यात्मरूपः संगृह्यत उक्त इति जलारो मुखसम्प्रदायिन आ-
 चार्या उक्ताः ।

[illegible]

विषयदर्शयसुखीभिर्गितेऽदे मोदनामभि ।

विषयवर्धयसुखीभिर्मिलिअद् भादनामिलि
 केने मिले हुरी देने जीका काइगामदोअलिखत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं लोकेदे पूर्णलोकेविपरीता मित्रा वाक्यप्रसङ्गाच्च निरूपिता नतच्छब्देन,
तेषामप्यद्वयपदार्थैकतुल्यज्ञापनाय । तेषां च ध्रुवर्षाद्वयपदार्थविपरीतादिप्रमाणवद्-
व्यानामप्यद्वयविपरीतेन तन्मात्रप्रत्यया केवलवर्षाद्वयार्थविपरीतादरातिपत्त्यत्, पुष्टिमा-
र्गिणां विषयभुक्तभेदेन द्विविधत्वात्तदुपनिर्गुणभेदेन दशमिक्तार्थं वर्षादापुष्टिभेदेन द्वि-
विधत्वात् विपरीतिविपरीतम् । तन्मात्रानामपि यद्विपरीतेन तथा संस्पन्दत्वम् । अतः एवं त-
द्वयपदार्था तन्मात्रमाहवत्, औदार्यं पुष्टिर्षाद्वयभेदेन द्विविधम्, पुष्टिर्षाद्वयं एकविधा
एवमा एव, वर्षादामार्गीयस्तु तन्मात्रपक्षोक्तभेदेविपरीता इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं
शक्यं मुख्यत्वेन पुष्टिर्षाद्वयविरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णारक्षधिक्षिप्तमनसारनियर्जिताः ।

अनिर्हृता लोकभेदे मुख्यपक्षे भवन्तीत्युक्ताः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः मित्रा वरमयोक्त्य उक्त्या वा मुक्त उक्त्याः सदानन्दो निर्दोषवित्तगु-
णाष्टौ रक्तमिदमेवमिष्टस्य यो रक्तो वरमानन्दकृतः, वरदा स एव रक्तः साविभा-
वात्मा निरद्वयकृतः, तेन परीक्षे हृदयमन्तेन विहितं व्यानात् उपरिर्तं दन्त्यामप्यन्तज्ज्वरार्थं
तत्र वाज्यतिवदितभयविरपिणी तथा वर्जिता इत्यर्थः । अवयवकः । भगवत्सत्ताकर्मव-
निरपिनी करिषीत्या निषिद्धे, वर्षादापुष्टिर्षाद्वयभेदेन । अत्र वर्षादामार्गे 'हृत्पक्षो' अस्या-
नसो'ति वाक्यान्महत्त्वेवाष्टुपदीर्षेनिर्धेयादिकिः कथितेति, लोकेऽत्रतिदिशति । पुष्टि-
मार्गे तु तद्वयस्यार्थभेदेन 'द्वयस्यस्यार्थकमार्गे' इति शब्दाद्विपरीते । तथा च पूर्णोक्त्यु-
पुष्टिर्षाद्वयत्वाभावात् एवमुक्तम् । एवं चरित्रवत्त्वे केवलमप्यमार्गं निरूप्य तन्मात्रविषय-
कति निरूपयितुं लोकभेदाभिर्हृतिमाहुः अनिर्हृता लोकभेदे इति । लोकभुक्ते भेदे
पद्विधमार्गीयवर्षाद्वये सगदितरजननविषयके । अथवा लोके भेदे चाभिर्हृता निर्हृति-
पक्षिह भवन्ता इत्यर्थः । अथवाति लोकभेदेः 'ये लोकलोचनभेदेति' वाक्यान्म-
ज्ज्वलेन तुल्यतावैपन्याय समस्तं यदम् । अत एव लोकानिर्हृतिवैपन्याय 'पक्षिमुक्तदिनि-
र्यातिदे' निर्यातिदिनमवाप्तुमिति । केतनिर्हृतिवैपन्याय 'भयमुक्ता' केतिदे'त्युक्तम् ।
अथैव साक्षाद्विद्वत्प्रमाणेन निबद्धं भवमुद्धर, वस्तुकोन भेदेन वस्तुस्यार्थेना हृत्वा-
नेन । एवं वे पुष्टिर्षाद्वयलोकाद्वयमननिभावमुक्त्यो मुख्यः पुष्टिर्षाद्वयेन केतः ।

दुरयोः समानं बुद्धिसमेष्वफलमिदं । अत एव तीर्थादनसत्सङ्गान्मानेन विदुरे अयना-
भिलासः शिष्टः । परीक्षिति तु सप्त एव । अत एवास्वदाचार्यसङ्गं 'मर्षादासस्तु गतायां
श्रीमामवगतत्वा' इत्यन्येष्वपि तत्परिपात्रां निरुपायनानामवसाधनत्वमिदमेव ॥२॥

एवं मन्थनातिरूप्यापमानामवबोधकत्वेन मित्रायादतिरूप्यवीर्यादुत्पन्नविरूपय-
मण्य एव केनचिदर्थेन क्षातिरूपकित्तुमुत्पन्नेन प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्निदग्धं कृष्णालम्बं सर्वभावेन ये विदुः ।

ते त्वायेषास्तु विकला निरोधादा न भान्मथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदाबन्धस्य तत्वं वास्तवं पूर्वं रसात्मकं ज्ञापकत्वादतिमुक्तत्वेन सा-
कारं व्यापकं श्रेष्ठया भाषाप्रमाणेनाभिर्भावत्वं निःसन्निदग्धं शास्त्रस्यानुमत्तायां सन्दे-
हशितं यथैति सर्वभावेन 'कान्तां पश्चात्सी'ति क्षातिपादप्रालम्बः सत्कार एव सर्वरूप
इति भावेन सत्त्वैरेव विदुर्ज्ञानीतिवृत्तिरर्थः । नन्वेवं रसज्ञाने अयनावेष्टाडमाराधनं श्रीतु-
ल्यमुत्पन्न इत्याद्यद्वयदुः ते निषेधेति । ते पृथोक्ता रसज्ञाना अपि ज्ञानेन इदमेव मन्थ-
नानिज्ञानं तु विकला ज्ञानत्वेन सत्त्वार्तंरहिता इति ननुपपन्न इत्यर्थः । अत एवोक्तं
'इदं तु नाक्षिप्तमतिर्भवान् कारुण्यमि'ति । तुल्यत्वेन रसानेवमुक्तो व्यावर्तिताः । तेन
रसानेवस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानादुदयात् । ज्ञानस्य च लोदपप्रतिपत्त्यक-
त्वात् । अत एव सर्वम्यानकस्य सान्नाःक्षितस्यापि प्रयोजन्येवमादी प्रवृत्तिः । (सर्वदा
रसानेवस्यसमन्वयेवमादी प्रवृत्तिः । रसानकस्यरूपस्यात्कस्यरूपज्ञानोदये सति अन्येव-
मादी प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोविन्दानां तु सर्वदा रसानेवस्यसम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं
विदुषामेव श्रीतुल्येन 'मन्थदुष्टाप्रसन्नवन्दनं बदिर्भूतेषु क्लृप्तमिति प्रवृत्तिरेवमकथनेन ।
अत एवोक्तं प्रवृत्तिर्न 'न ज्ञानं न च वेदानं प्रायः येषो येष'दिति । ननु मन्थदुष्टैरे
अयन इव सर्वज्ञानमुचितं, लक्ष्मणेनैवं वैकल्पं, यतो हेतोर्गुणध्वने प्रवृत्तिरित्याशय
वक्ष्यान्तस्मादुः निरोधायेति । तेषां तुर्वैरेव निरोधात् । अयनिरसुतिपूर्वकं मन्थदा-
रहितस्याप्यदात् । तुल्यभावपि वास्तव्येन निरोधकत्वं सृष्टे 'महान्प्रवृत्तिमायेवे'त्यादी ।
कतो निरोधेन वा वैकल्पमित्यर्थः । नवान्वयेति स्वरूपनिरोधाल तपेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रीतुल्यमुत्पन्नय कदाचिन्मोक्षायवर्निहातेषामपि भविष्यतीत्याद्यपार्थक्य-
हलप्रसक्तं मन्थमलं नाप्यन्व जातु ।

पूर्णभावेन पूर्णोर्ध्वः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्वासाधकारस्तु ये वैचिद्यमाः परिधीर्निताः ॥ ४ ॥

एवं पूर्वं यो मन्थसक्तो ज्ञानेन मन्थनानेष्टाद् निरोधात् सर्वं मन्थसत्पुन-
रावेतिव पूर्वं अर्थः प्रवृत्तायां वेदादिभिः, न तेषामन्याः स्तव्य इति, लक्ष्मणेन मन्थमलं
न, किन्तु मन्थनान्धमित्येतेनैवमलमित्यर्थः । अन्येन पुष्टिसम्यग्निष्ठो न येद व्यापारी,
तेषामपेक्षितपरत्वादित्याद्यद्वयदुः कदाचिन्न तु सर्वदैवति । एतेषां मानवापत्ते गुण-

धीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीनारायणचरणः भक्तिविध्या पीयसावदाब्जोत्तरं भक्तिवृद्धयै अथगोक्षीये
साधनलेनोक्तवन्ताः, पीयसावर्धये च पूज्यं अथगोक्षीये च तथापि साधनलेनोक्तवन्तः ।
तत्र, अथर्षं गानं भगवद्वाचकप्रदत्तानवन्तां भक्तितात्पर्यनिर्णयः । कीर्तनं च तद्विपर्ययैकं
तुवाद्वाचारणम् । एते तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमानयोः कृतो भक्ति-
देष्टव्यम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कृतो पीयसावर्धमानः पुरुषोत्तमकृतगिताकांशायां
निरोपकृत्यै 'महतां कृपया यत्नः' 'महतां कृपया यद्' इति सोक्तव्यां यथा कीर्तने
विधेयं कृतम्, महत्कृत्यविधेयकमवतारकीर्तनसामान्यद्वयकृत्यमिति प्रथमाधिकारे म-
हतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्पत्तीर्तनं न सुखदं, किन्तु-
सधिमिषय इति, तत्र उक्त्याधिकारे विशेषः कीर्तनसाधिकायैतुमयमेवविचारणीयः ।
तथा अथमस्य कृपयि रोक्त इति तदर्थं प्रथमोक्त्यान् श्रीकृष्णरसविधितोत्पत्तिकान्
हरेर्भक्त्या इति निगमनान्तात्तदिति । प्रथमपुराणे भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भा-
वकाहुः श्रीकृष्णोत्पत्तिः । किञ्च, यत्नं यथा सात्त्विकमयप्रज्ञां सम्भवकृत्यं अथगोक्षीये-
कृत्यं अथगोक्षीयेकृत्यं च यत्नकृत्यान् परीक्ष्य तत्तद्वत् अथगोक्षीये विधेयं इति कृत-
मेवे प्रतिपादितम्, तथा कथयति भगवद्वाचकप्रदत्तानवन्तरूपकीर्तनकृत्यसिद्धयै श्रीकृष्णः परीक्ष-
णीयः, मृदीयकृत्ये विदुरमैवेयसंवादे विदुरमैवेयप्रज्ञासंक्रमस्य च वरस्वरासंवादेन प्रति-
पादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्धयै श्रीकृष्णरसविचारकतः श्रीकृष्णोत्पत्तिः ।

श्रीकृष्णरसविधितसमानस्ता इतिचर्जिताः ।

अभिरुचिता लोकेवेद ते सुखयाः अथगोक्षीयेकृत्याः ॥ १ ॥

अथ अभिरुचिता लोकेवेद इति विशेषणं त्यागवत्प्रयोजकम् । तत्राद्येन हि
लोके वेदे चानिर्दिष्टे । रतिचर्जिता इति विशेषणं तु रती रमयं यदिमैगपत्यकृत्येन
भगवता चतुर्धनसाधकं, अद्विष्टा कृत्येकम् । एतेन निरोपकृत्ये 'क्रियमानान्तरं य-
त्नः' इति सोक्तमेव यत्नोक्त्या उक्त्याद्विहितं प्रतिपातम् । तेन ततः पूर्वं यो सुख-
गानाधिकारः, यत्नोक्त्या कीर्तनसाधिकास्तदुक्त्यै चोदीकृतम् । तद्वत् बाहुः श्रीकृष्ण-
रसविधितसमानस्ताः अथगोक्षीयेकृत्या इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवत्प्रे-
मो लोको लोकावस्थविभक्त्यान्तरात्मकः, तेन विधित मानसं वेदां ते तथा, एतेन वेदां
यावत्तुमगन्तव्यं प्रतिपातम् । एते पुस्तिकायां उक्तवैयक्यवत्प्रयः । किञ्च, अथवे

पूर्वभावेन पूर्वोर्थाः पञ्चाभिः तु सर्वदा ।

अन्यासपञ्चास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

पुन्यकृतं यमकः सर्वकर्तृत्वं पशुपतत्वं शम्भुकृतं दीनपशुत्वं मत्तिका-
दिवनकत्वं पतितकाटनादिकलपनातोमिति निम्नदिग्धं यथा स्थापया सर्वभावेन यमक
सर्वलेखने विदुः जानन्ति, तु पुनरप्येकस्मिन्मन्त्रेऽप्येकविंशतिपादा ये विकलाः, य इति
न्यासा न । किम्, पूर्वभावेनेति स्तोत्रोक्तमन्त्रपरिच्छिन्नमन्त्रस्तोत्रे श्रान्तमानत्वा-
न्यासेन यमकस्यैवहित्वाय यमका इत्यर्थः । तेन तावत्तां तावत्तां सहे पातुरति ता-
वत्तावत्तावत्ता गिरिति यमकायमन्त्रकृतस्य एव यमकीयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

तु सर्वलेखने यथापीदानीं अन्तर्नामाभिः दुर्मिच्छात्कीर्तनशुद्धिप्रदायं चोदेति
तदन्तर्नामं यामान्तरा यमकादिवत्तलपिकारिण वादुः अनन्यमन्त्रस्य इत्यादि ।

अनन्यमन्त्रस्यो यत्त्वां यत्त्वाः अनन्तादिषु ।

देवाकालज्ञानकर्तृमन्त्रकर्तृमन्त्रातः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति स्वप्नोपे यमस्य । तथा च देवादीन् प्रकृतात् प्राप्य ये यम-
कदेवमन्त्रस्यो यमकादिषु कतिपु सदायं स्मृताः, यदि पूर्वोक्ता न भित्तिना । तिले ६
मेवाप्येव सद्यसीयमिति न कतिपयपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमहर्षभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तम-
विरचितं श्रीगुण्यारविशिक्षेस्वादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं
संपूर्णम् ॥

श्रीमद्-बालसाधार्य-सङ्ग्राहम्-विद्यमान-श्रीकृत-सम्पाद्य गत :- सङ्करीत :

संन्यासनिर्णयः

संन्यासनिर्णयः : समस्तकृत :

- | | |
|---------------------------|---------------------------|
| १. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् | ५. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् |
| २. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् | ६. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् |
| ३. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् | ७. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् |
| ४. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् | ८. श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम् |

श्रीमद्-बालसाधार्य-सङ्ग्राहम्-विद्यमान-श्रीकृत-सम्पाद्य गत :- सङ्करीत :-

श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम्-विद्यमान-श्रीकृत-सम्पाद्य गत :- सङ्करीत :-

(श्रीगोपबन्धनसङ्ग्राहम्-विद्यमान-श्रीकृत-सम्पाद्य गत :- सङ्करीत :-)

श्री गीतगोपबन्धनसङ्ग्राहम् :

संन्यासनिर्णयः :

प्रकाशक :

गोरवाविशी १००८ श्रीमितीरचन्द्रजी महापात्र
मोदी हवेली, मावली, जिल्हा, १००४१५ मावळ.

प्राथमिक संस्करण २००० इति

द्वितीय संस्करण १००० इति

पुनर्मुद्रण ५०३

प्राथमिक संस्करण : गोरवाविशी तयार मनीषा

मुद्रक :

मुद्रिणी मद्रास, २५-४, सेन्ट्रल बीनाटी विविध बीनाटी, मद्रास-४०० ००४



मोत्याविल्ली १००८ श्रीहनुमन्तळावली महाराज

ग्रंथ-परिचय

शंखाक्षनिर्णयकी रचना वि. सं. १५५१ में बहरिकाशमजी पाषाणके अक्षरपर मण्डूरि सम्प्रदायीके शिष्ट भी गढ़ी देवी एक किंवदन्ती मिलती है *

श्रीकृष्णायत्री-विरचित श्रीमत्सम्भ-शिविजयके अनुसार श्रीमदुग्रभुजे बहरिकाशमजी बाबा जीन बार की जी. द्वितीय माताजी कृष्णदास वैष्णवके मापके ताल हुलेल कलेल तथा ग्वालाशय प्यारदेका उल्लेख भी मिलता है इस प्रकरणकी शुरुवात यहाँके श्रीकैतुरीहिन-की दिने गढ़ी कुतियनमें भी मिलती है. इस कुतियनमें माथाबाबा "देवाम्मपतिम् (१४११) विजे" लभ्युत्तार वि. सं. १५६८ उल्लिखित है. नमः यदि वि. सं. १५५१ वाली किंवदन्ती प्रायोगिक हो तो उसे प्रथम माथाबाबा काक माताया पदेवा इसकी पुष्टि बीसवीं वैशाखकी रातमि भी होती है *

"श्री एक समय बरहूर सम्प्रदायी बहिरिकाशम फिली-फिली आये. तब श्रीमाचार्यजी महाभुज पयारे की बरहूर सम्प्रदायीके दरसन भये तब बरहूर सम्प्रदायी श्रीमाचार्यजी महा-प्रभुनकी पिनती किये- 'महाबाबा मे बहिरिक सम्प्रदाय बहुत किमो हती. पाछे आपकी कृपाके बलिगारपदे माओ की सम्प्रदायके प्रसार है की तो मैं जानन हो और बलिगारपदाकी कहा प्रचार है की मैं जानन बाढ़ि. तो मोकी कुछ करि कहिये' तब श्रीमाचार्यजी कहे— 'तोतो बहिरिकाशमने सम्प्रदायी प्रकार कहन हो, तब श्रीमाचार्यजी 'सम्प्रदाय निर्णय' रूप करि बरहूर सम्प्रदायीकी पञ्चम भाव कहि सुनायो तब बरहूर सम्प्रदायीके हृदयमें पुष्टिमादाकी द्विप्राप्त विद्य भयी, तब श्रीजहूरजीकी सीताकी लभ्यन भयी की माप होम भये. पाछे श्रीमाचार्यजी आये पयारे बरहूर सम्प्रदायी लभ्यनसम्भने माप होम फिरिके करी "

श्रीकृष्णभुजे बहिरिकर्षविके कर्षाधिक प्राचीन (वि. सं. १५१० में) लभ्यन दिनेही लिखित लभ्यदाय-उदीयके भी एक 'सम्प्रदायनिर्णय' का उल्लेख मिलता है *. श्रीमत्सम्भ निर्णय पमातीने कथयित्त तब विषयवर्धयित्त सम्प्रदायनिर्णय उक्त अथ विष्णुनकी तथा बलिभुल्लय-कायना मता " (चतुर्थे प्रकरण) विष्णु यज्ञ "सम्प्रदायनिर्णय" प्रकाशक है अथवा कायकलेन विषय न मिले गये किसी औचित्य उपदेशनय बाधक है. वह निर्दिष्ट नहीं हो पाता है इसके अन्तर्गत—'चिरम्भविनिष्ठा' पदार्थ भी उक्तन केव बाढ़िये बर्षाधिक पीछल-क-वास्तवीर अस्तुन सम्प्रदायनिर्णय सम्भने कही मो विषयवर्धयिके कथनात ग्रहण करने का न करने का कोई भी विचार उपलभ्य नहीं होता है

है—“एतत्प्रम प्रपञ्च संन्यासविर्णयकस्त्यादयन्यथाः”, बहुत प्रारम्भिक प्रतिस्पर्धा के मध्यम अज्ञाने अधिकारी के लिए आवश्यक सामान्यता का विचार इस अधिकारमय प्रमुख उद्देश्य है, ऐसा दिखता है—“अथ सविन्यासविन्यासव्यवस्थायाः, सविन्यासीति मध्यममय समापनं प्राप्तं विन्यासे”, भागवत के अज्ञान कल्पके अज्ञान के अन्तर्गत—“अथ सविन्यासेषु लीनेषु निर-मातृषु विरागो जायते सम्पत्, स्वस्तिनि प्रवर्तते”, “विन्यासे जायते कर मोक्ष स्वस्तिनीये प्रवर्तते अज्ञान के अज्ञान के विन्यास मन्त्रात्मक रूप में समझाया है, और इसके बाद—“मानविन्दो विरागो वा मनुष्यान् वृत्तवैरागः, सविन्यासमात्रमात्रमत्रा विरतिवि-न्यास”, “विन्यासे प्रवृत्ते आत्ममय समापनो विन्यास एव समापनो अज्ञान की गई है; यह समापन की आत्मा पुरीत भाव (भावार्थ) तथा समापनविर्णय रूप का आधारभूत भाव है, अज्ञान के यह समापन की आत्मा के बाद अज्ञान-विन्यास किता वा तथा यह विन्यास अज्ञान-विन्यास एव, यह विन्यास-मात्रा के—“अज्ञानविन्यासमात्रमत्रा विन्यास नम” के अज्ञान की है, ऐसा अज्ञान-विन्यास की स्वीकार है।

[illegible][illegible]

वृत्तिशास्त्रमें कलत्रवृत्तित्त इय मूलतत्त्व ही उत्तम जाती गई है—“सप्तमनेत्रे त्रि कल म कपा-
विषेष्टे वृत्ति” (शु प्र म.) जहाँ कलकर देखाकलने की वृत्तित्त कल म कल “मल्लिक
माकल” जल्लिहमने कलकानुकी रणल्लिकल वृत्तित्त इसी मूलतत्त्व रणीकारी गई है. वर वृत्त
जल कलकानुकी ल्लेकली वर देह-देह-रणाकली कलल वरल कल रल्ले वे. कललललललल

कर देना उचित होता है—'विद्युत्सुखदायकं तु यष्टिमात्रं प्रयोज्यम्'—

सोडसावने कुठ होवेपर मजगती मह वनवृक्ष समक्षीने आले लवंग हे वि-पुद्गलिके-
मनुष्यस्य न भवत्यदीत्यनवायेय विष्णु भगवता मह सिध्दाय भगवदाराधनें वा अवाया न
व्यावस्यम् (गुडी ३१११३)

[illegible][illegible]

आजम राजेन्द्रप्रसाद समूह के संस्थापकों की सु-साधन की धारा में अनुसूचितों की प्राथमिकता की व्याख्या करने की आवश्यकता है, और इसका मतलब है, कि वे भी वही सु-साधन ही हैं जो अन्य वर्गों के समूहों के लिए हैं। इसीलिए, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे भी वही सु-साधन ही हैं जो अन्य वर्गों के समूहों के लिए हैं।

अद्वितीय हो चुके ही सामान्य व कुछ बे औसत माध्यमता कृष्ण जायसवाल एक बार पढ़ावते बाद प्रयागमें केलेला आरक्षकविधि है, अत्यंत स-आगत पढ़ने अद्वितीय विचार-

पौलिके, तब जलदुग्ध पारमहृष्य सम्मान की जायमे बद्ध किया। "मन्त्रादिन देहतापे करोति स परमहृषो नाम स परमहृषो नाम।" (आश्वलायनब्रह्मसूत्र)

काव्य एवं कव्यशोधके- “जोहानि बुद्धि कव्यम् मोक्षाय प्रयोज्यते तथा वेदे न कवेः” तथा शर्मेतिर्भावः-“न्याये कवेरिच्छायां . तादृशाय बलादापि देहुरागो विमु-
नितः” इत्येवमवकाशो तुलना करणी जायते

कलत्र सन्धाननिर्णय, यह सत्य सत्य है कि, श्रीमद्भाग्यमुने नन्दिकाश्रमकी श्रम
यात्राके समय नन्दिकाश्रमकी श्रम ही बनाया हो

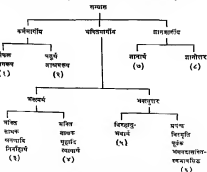
[illegible]

भगवान्‌को अन्तर्गत सब स्नेह उत्पन्न होता है सब साक्षात्कारित विषयों में अनुपपन्न रहता है। वाता है— भगवान्‌सक्ति बिना होनेपर भगवान्‌के लगे अनुपपन्नो गृह्य भगवती अर्थात् होता है— भगवन्‌के साथ उपलब्ध व आनन्दान्तर पर नीर परकी शरीर बहुत भगवन्‌की भक्ति में बाधक बनने लगती है—पीरे पीरे वा अन्तर्गत भगवन्‌के लगे बहुत बाधक है। सब नीर हवा ही वाता है। पूर्ण अन्तर्गतान्तर बहुत लगे लगे भक्ति के लिए भी भगवान्‌के लगे अनुपपन्नो परम साक्षात्कार कला, कभी अन्तर्गत भगवान्‌के लगे वन भगवन्‌ है। अन्तर्गत विषयान्तर ही भगवन्‌ है वन अन्तर्गत वृत्तान्त के लिए केवल अन्तर्गतान्तर ही वाता है। वाता ही वाता है वन अन्तर्गत वृत्तान्त के लिए केवल अन्तर्गतान्तर ही वाता है (भगवन्‌की)

इसने बाद सविनयविरोध की इस प्रकारका स्थापन नहीं कर पाये उनसे काफी दिला-
वाये गये है, परन्तु जो स्थापन करनेमें सक्षम हो उन्हें वह स्थापन नहीं मिल सकया, जिस
भावनाएं बाद और जिस प्रकारकी आर्थिक सिद्द करवा पाइये इसकी विषयोका निश्चयन
नहीं हो पाया जिसके अनुसारने सफलतावा न दिखती हो और जो सुलझाएन सिद्द की अपने-
आपकी समर्थ न पाये हो उन्हें वह मुझाया गया था कि उन्हें ऐसे मतवालीकोके समर्थ सक्षम
पाइये कि जो वेदा तथा परम्परा जीवनमाएन संरक्ष हा वे यदि कुछ देना करने द्वारा की
जाती सफलतावाये लक्ष्यको-संरक्षारक्ष भी सक्षम पाइये स-नया समर्थ सक्षम करने द्वारा
की जाती सफलतावाये पाएके समर्थ की सविनयि होना हो पाइये इसी प्रकारकी सक्षम-
तावाये सिद्द आवश्यक योग्य सक्षम एवं स्वीकृत का सक्षम को समर्थ सक्षम और सक्षमतावा
में समर्थतावा गया था जिन सक्षमतावा सक्षमतावा विचार भावनावा था ही, जिसे इस सक्षम-
तावाये समर्थ द्वारा सुख किया जा रहा है।

होते हैं वे चाहें तो वैयक्तिक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विचार हो सकती है, कर्मका संस्थापकहित अर्थात् पक्षक वाचकवाचकिके लिए चाहेंग्य ही होक रहता है, जो वेकोके संपादकित अथवाक करी के बाद, वाचकिक विधिके अनुसार विचार करके, वाचकजीवन अतिहीनवि कर्मके अनु-वाचके रहकर होना चाहिये . वाचक वाचकिककारके सभी वाचकिकी मुख्य जाना है. किसी भी वाचकके कर्मकोका संपादक रहकर करकेकर विधिक विचार है. कही-कही एक संपादक प्रकाश करकेके लिए अन्य वाचकिकी विचार भी विचारके देखी है. पर वाचकिक वाचकिक कर्मका किसी वाचक-विचारकी प्रकाशके कर्म ही केना चाहिये अथवा सुविचक-विचार वाचक विचारवाचक होके कर्मका, जबकि वाचककोका यह कर्मका है कि किसी भी सुवि-चककी प्रकाशकिक न माने.”

हमें ज्ञान और अन्तिके बीच प्रमुख भेद और तत्त्वगत अन्तर की उपेक्षणीय दृष्टिगत समझकर इस सन्दर्भ में सन्तुष्टिपूर्ण रूपसे कुछ महत्त्वपूर्ण बातों के सम्बन्धों के बारे में हमें निर्णय लेना है। बोधप्रदीपों के बिना कोई एक सन्तुष्टिपूर्ण ज्ञान सम्भव है या नहीं।



આચાર્યશ્રીએ કોનો હોવાનું કાનૂનીય જરૂર પડતાં કાયદા મુજબ તે સ્થાન-
રૂપ જરૂર પડતાં જાર કરાવે છે અને કાયદા મુજબ કાયદા મુજબ કાયદા મુજબ

तो स्वात्म ही ही "वर्णाधमवत्ता धर्म एव आचारलक्षणं न एव वदुमनित्तमुती नि यमतकर
पर (भाग. ११।१८।४७)।

(५) अनुर्वाधमवत्त कर्ममार्गोऽपि स्वयम्

जैसे वैदिक द्वाक साथ ब्रह्मकर्म गृह्य या वानप्रस्थ आश्रमीका विधान है, वैसे ही
कर्मम अनुर्वाधममे प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है यथा पूर्वोक्तं गृह्यसाम्यकके
वचनमे ही यह आता है कि "एतमेव ब्राह्मिणी जेवमिच्छन्तः प्रवर्जन्ति.. पुनैषायापाम
निर्वाधमपामात्र सोर्कवत्तायात्राव अनुवायाव विज्ञाचके वर्जन्ति येन कृताकृते तपत 'अर्वात्
वेदाध्ययन दान दक्ष तत्र कव कर्मवाके ब्रह्मकर्म गृह्य और वानप्रस्थ आश्रमीके द्वारा
ब्रह्मण निज ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, क-वास-आश्रम दाय भी उसी ब्रह्मकी
प्राप्ति चाही जाती है पुन धन वा लोभके कारणे ममी लच्छुभी कामनाओंकी छोडकर
भी विज्ञाचका करते है.. उन्हें कृतकृत्य कर्मोंके फल मुझसेका ज्ञात नहीं होता।

आचारमार्गविषयके भी— "ब्रह्मकर्म समस्त्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी
भूत्वा प्रवर्जेद्" यी कवदा एव आश्रमके अन्तर दूसरे आश्रममे प्रवेश करनेका समय
दिखाया ही गया है

मनुस्मृति (५।८५-८७) के भी— "ब्रह्मवापी गृह्यवत्त वानप्रस्थो वतिनया यावार
पुनयाधमा सर्वेति कमवसरेके यथायावद्विषयविज्ञा यथोपवर्णाधिर्नि निज नमन्ति वयमा एतिम्"
वचनमे कमवत्ताका उल्लेख मिलता है

भाष्यक (११।१८।११-२७) ने वानप्रस्थकी रीति समझकर अनुर्वाधमक समयात-
धर्मका निरूपण भी किया गया है इसके अन्तर्गत विद्वद-क-वासकी रीति भी समझापी
गयी है "यदा कर्मविषाकेषु लोकेषु विरक्षाकमु विरापी जायते सम्यद् व्यवसायि प्रवर्जन्त ' '
आदि वचनी द्वारा

इसके निज हीता है कि अनुर्वाधमक समयातधर्म की एक निवृत्त कर्मवत्ता है

यौ "तृतीयेऽध्यायमारणायावात्वेऽनुतेजसादयन्" वचनमे अनुसार वैदिक ब्रह्मकर्मका वत
धारण नहीं कर लेते, अथवा "यावज्जीवमग्निहोत्रं कुर्यात्" वचनके अनुसार वैदिक-
गार्हपत्यका वत धारण नहीं कर लेते, अथवा "अरण्यमिमांसां ततो न पुनरेवात्" वचन के अनु-
सार वैदिक वानप्रस्थका वत धारण नहीं कर लेते, उन्हें कववत्तके अनुसार तीन आश्रमीके
बाद अनुर्वाधमपामात्रमे भी प्रवेश अवसर करना चाहिये

इसका अन्वय भी यथापि आचारमार्गविषय दिखलानी देता है— "अदि वेतरथा ब्रह्म-
कर्मदिन प्रवर्जेद् गृह्यया वनाया अथ पुनरयाति का वती वा, स्यात्तकी वासप्रस्थकी वा,
जससाध्याग्निहोत्रिकी वा कववत्तके विरजेत् कववत्तके प्रवर्जेत् " किन्तु यह प्रकार सर्वसाधा-
रण नहीं है किन्तु अतिविपन्न ब्रह्मज्ञानियोंके लिए ही है— "एष वन्धा ब्रह्मणा हानवित्त-
स्तेरेति समयासी ब्रह्मविद् इति एकमेव एष" (गौड़ी) साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये
ब्रह्मज्ञानी की एक प्रकारका सम्मान अतिविपन्नक प्रकट होकर ही कर पाते हैं, अन्यथा

अतः स्नेहादिबन्धन बन्धितके साध्यक व्यवस्य-कीर्तन-स्मरण-यादोवन-प्रबन्ध-वन्दन-दास्य-
गान-आत्मनिवेदनरूप नो अंगोके निबिध्य अनुष्ठानके लिए सम्बन्ध लेनेके वाच्य विधि-
विधिदिवा है :

(१) क्योंकि सम्बन्धनके अनुसार स्थितिको निरपेक्ष और एककी विचारण करना
प्राप्तिये—“एक चरेणमहीमेता नि संका संवेतेन्द्रिय” (भा ११।१।८।२०)। जबकि भवितके
नवविध अथ व्यवसायिके अनुष्ठानके लिए किसी स्थितिसम्बन्ध लक्ष्योपीके सतर्कता अपेक्षा
पड़ती है

(२) क्योंकि व्यवस्यके लिए वक्ता, कीर्तन स्मरणके लिए वक्ता-कुलभीमाता-गीधुली, और
यादोवन-अपेक्ष आदिके लिए अथवद्विध, अर्थात् कामकी पुनः संवेदादि या अर्थात्वाच्य
आदि अनेक साधनोकी रक्षा करनेके चित्तके व्यव होनेकी सम्भावना रहती है, यह सम्भावनेके
अपरिवर्तके दिवकके दिनदीत है—“विद्युवाभ्येधुनिर्वाय कीर्तनाभ्युदाहर्त्त वर तवत् न दण्ड-
मात्राभ्यामभ्यस्तित्वनापि (भा ११।१।८।१५)

(३) क्योंकि सम्बन्धनके कारण स्वयम्के उचित आधरके अवस्थित होनेका अभिमान
वगया है— सभी सम्बन्धो “व्यापित्री” बन जाते हैं ! जबकि यचित्तमें दीप्त अपेक्षित होना है
“दास” बनने का स्वस्वमे स्वयन्निर्धारके लिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु
गम्यत्वमें यह वर्जित है—“वेदवाचकतो न स्वतः” (भाग ११।१।२।५५) सम्बन्धने जीवताया
और वरताया के बीच प्रवेदवृद्धिकर अभिमान—“कीहम्” अवस्था पड़ता है जबकि भक्ति
“दासोद्भू” की वेदवृद्धिमें यचित्त होती है भक्तिके प्रारम्भमें भवताके स्वामी होनेका और
स्वयम्के सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है

(४) क्योंकि भवितके व्यवसायिक भवितकी पुनः पुनः अनुक्ति सिद्धि है— “उत्सवाद्
भावात् सदात्मा भवताम् हरिदोवर शीतल्य कीर्तितस्मरण स्मर्तव्यस्मरणभवात्” (भाग.
२।१।५) इसकी सुबोधनीयमें कहा गया है कि “विहिते व्यवस्यकीर्तने तथा वक्ता ज्ञानात्
देहव्यवस्य-समाकूलानां विवर्तव्यव्यवस्य, उत्तरावर्तिवृद्धिना एव, पुनर्वाच्य संसारमवगमन्”,
यह किसी भवितके समीप दके चित्त साध्य रहते है, सम्बन्धके लिए जबकि निरन्तर एककी
परिचयण शीघ्र मात्रा गया है— “यत्ते बहुता कलहो नवेद वार्ता इधोरपि दक्षत् नवेद् धिगुः
(भा ११।१।१०)

(५) क्योंकि व्यवस्यवस्तु व्यवसायिक व्यवसायिक समीप अन्तिम प्रयोगन भावबलवान्
भाववत्ता सम्बन्धन करना है और व्यवसायिके साधककी सिद्धाभ्यासिमात देवाके स्वस्वके
अपेक्ष बना देने है,

अतः, वस्तुव्यवस्य सम्बन्धन या स्वस्व सम्बन्ध, वीध या अवेध, किसी की प्रकारका
संस्कार अधिकताधिक व्यवसायिके विवर्तव्यमें अनुसूचीय नहीं रह जाता है

तिरुना मध्यनुरनतिविता विपदाभावेन न मे विद्योपशोकापशोभेय ददुम् तुल्यम् । ताना-
विदन्मन्मनुष्यवद्विषयस्वभावात्मानमदत्तयेद, कथा सपापी मुक्तवीर्यतोये नय प्रविष्टा इव
नामरूपे तस्मात्तन्मुक्तवीर्यसुखं शोभता प्रविशोदता प्रभुत्वं न विदुत् न शीतस्य सुखेन न,
मामेकमेव परममादमान सर्वदेहिता माहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुलोभमम्” यदा प्रवृत्ति-
धर्मकी तरङ्ग निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विपश्य किंवा कथा है भक्तिगी व्यसनवशात् प्रवृ-
त्तये विनाशभाव या सर्वात्मभाव ने द्वारा चित्तभी विरमर भगवदेकताम इनामे रखने और
उत्तमे हीन विद्योपशोभ तापी की लक्षणक माननेकी इस अवयदनुरनितप्रधान वैराग्यमूलक
सम्भावनी रीतिका हो—“नद्वयपी, सतिमानाथमान्वात्मा परेद” है विद्यान विषा
कथा है.

गीता (१२।६-८)मे इसी भावतत्वा निरूपण है—“ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सम्पन्ना
मत्परा भज्यन्ते योमेव मा ध्यायन्त उपासन्ते तेषामहं समुद्धर्ता मुमुक्षुकारमागच्छात् भवानि न
विराड्वायं मय्यभेक्षितचेतसा, कथंश्च मन आकारय ममि बुद्धि निवेद्य, निश्चिन्त्यसि मध्येन
अतः सर्वं न तर्ह्यय ”

वेद

इस प्रकारके परिश्रम करने मय और धरिभारके लोचोका मोह अपने चारेमे दूझा न
हो तो सत्वाकीका वेद कारण कर लेना चाहिये अन्यथा वह अनिवार्य नहीं है

गुरु

परिश्रमके इस प्रकारम प्रयोगकार आदिके लिए किसी गुरुकी सल्लाह नहीं है, पूर्वी-
वाहुत लक्ष्मीवैशेष भगवान्ने गोपिकाओने भगवत्पुरुषमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे
लक्ष्मीकी भक्तिआर्गीस सम्बालकी प्रका टीतदनुसार इस प्रकारके सम्बालमे गुरु प्रकटी
गोपिकाओकी ही मानना चाहिये कीर्तिस्व श्रुतिके धरिय (महिम्नोत्तर) मे भी इस
प्रकारके परिश्रमका उपलक्षण मिलता है अतः ये भी मुक्तसुख है

साधन

पूर्वीवाहुत लक्ष्मीवैशेष जैसे भगवान्ने गोपिकाओके सर्वपरिश्रमके कारणभूत केवल
भावकी प्रकाश की है, तदनुसार इस विराट्पुरुषभाव सम्बालम वैशेषभाव ही साधन है

भाषाशुद्धीधनका उपाय

भगवान्ने मधुप गणारोवर जैसे गोपिकाओंकी तीव्र विराट्पुरुषवृत्तिके कारण चित्तकी
विरमर भगवदेकतामका सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने चरके वजन जब हुमे भग-
वतोपलब्ध मुख न चित पाछा हो, तब भगवान्ने मधुपधनकी भावना कराया चाहिये इस
भावनाके कारण भगवत्के हृदयमे गोपिकाओकी उपा हीन विराट्प्रकाश प्रवृत्त होने लगेकी
और पूर्वीज प्रकाशमा मय हुआ विकस हो जायेगा कि भगव चरके बाहुर विकस पड़ैगा
अपने भगवान्की गोपने ।

यह त्याग प्रदग्गके दोस्तदोस्तबुलक केवल बुलक दोषागले सेलि न होकर प्रमुके दिग्ग मयुर मुकोने प्रति कले सरस अनुधानले सेलि होला है. अतः परिधानक यह प्रकार अभिमानले प्रपन्नली है.

त्यागके द्ग प्रकारको कोरे अनुविष्ट न मान बैठे दुतीलि प्रपन्नानुदे—“नरेद् अविधि-
लोकर” कहकर उत्तमाविधिरिखीके लि प्र प्रकारके लगनकी अनुता तथा गन्धमा-
निरागिनेके लि आता दे दी है. अतएव वयसिकार “नरेद्” के “अनुता” और “आता”
दीनी ही अर्थ मनीकारनेके कोरे निरतिरिखि नहीं है. “पूर्व अरु हो रहा है” जैसे एक ही
वाक्यके दो अलार्थ; हाहाकके सामान्यार्थ प्रकट होनेके काले; और दुहिनीके सामान्यार्थके
आता गन्धमेके प्रकट होनेके काले, अविधिरिखेदले से आते हैं.

सोवालहाकिरी उन्निबद्धे—“नकिराय भवर्ष दिग्गमुकोपधिवीरारधेनीव अनुविन्
मन कल्पमम् एतेन न केरुम्भेम्” कह कर दुती वनिधारावीर सप्राप्तका द्ग “नैकामे”
पदले सेलि किता गया है

परिधान

इत विद्वाद्युक्तार्थ परिधानका परिधान किन्तु अच्छा नहीं होता । आचारिककले
इतके बारेमे एक गयेवार प्रल और उत्तर मिले है .

प्रल “दिग्गरे लेक ऐके दुकले गयो ?”

उत्तर “बरेले हूँ पर मारामे आये लाकी फल फल रहे हैं ।”

विद्वाद्युक्तार्थ की परिधान निरा आता है एतके तदनुक्य भावनाकी करेवर द्ग
विन विधुलेयनकी सेल बनने उठी, अथवा भावनाकी प्रवाह बहुते द्ग नहीं-किनी भावके
मानले केवललि दुका कि दुकले सेवका अरु मारामे लगेला । उतकी अर्थक कहरे
-एकमुद्रन मन मन कल्प निद्राम्भेद अनुता विधुलेयनलि मारामे कल्पन मूर्ती और
मरण २ उठ कर आता और देह के सेली तदवाकीकी लीह लेनी । देह इति अन्तरम
प्राग आता उभी कुछ प्रमेके पुरीके प्पाविष्ट ही आते ।

यह अगम्य विव्यता और भवनात्म्य वनिकी परमवलि का स्वभाव ही है. एके
लीकिक न प्रकट भावनात्मकी तदु गले कल्पना आलिमे यह ही परमानन्दम परमात्म-
का जीवात्मके साथ वनिष्ट सरसले है । एक प्रेमलेले मारे सेलीके प्पाविष्ट होनेपर भी
अता दुका विव्यता और उठी का—अगमाद् और अन्त न—एक मयुर है । एके
बहुकारी मुद्राईतलनकी, अथवा बहुके तलनकीव बुनी (वन्ध—बहुके लनकीनी होने,
लनक विव्यता होने, समेलेलेक भावनात्म होने, निराकर—व्यापक होने) की वनिमे
वन्धम् का कल्प कोरे विव्यता दे इतकी भावनाकी सरसकी आलिहने, वनिक यह जान तथा
परमात्मके सामानीय बुव वनिधारीन आनेके वाक्य होने है

तामनेताम-कल्पना आदि निरप्यताकी कारण सेम जानकीन साथ सापतीकले

तीर्थयात्रिनेकवृत्तसप्तमः सम्यक्प्रवृत्तिः समस्तोत्तराद्या यथा हृदिने भवत्यवस्थे" (भा. १.२.३।४५-४८)

स्वयम् भवन्तु भी गीता (१.३०-३१) में कहते हैं—“अनि चेत्सुदुष्टाचारो भवति चापराधमाह साधुर्देव सा भवत्यस्य स्वयम् स्वर्गलक्ष्मी इति च, तिर्यं भवति स्वर्गस्य उपरन्तर्गतं नियन्त्रति, कीर्त्येय प्रवृत्तिर्भावेति न भे भवत्य भवत्यसि” अर्थात् उपरान्तेष्टमे भी भवन्तुने कहा है—“आत्ममात्रेण वदन्वकी विषयैर्यतिरेन्द्रिय, मास प्रगाथया भवत्या विषयैर्न-चिन्तये” (भा. १.११।४।१२)।

अतः न भविते प्रारम्भमे और न उपरान्ते प्रारम्भमे कलिकात् अवस्था विपरीतचित्त भवितुमर्हते कोय उत्पन्न कर सकते हैं. पुण्योर्मे भी वपस्वी आदिकी तरह भविते भटक जानेके कोई दुष्प्रभाव दिखे नहीं पड़े है.

(१) जीवात्मके स्वभावके योगोत्पत्तिकी वृत्त एक सम्भावना भी ही उस अवस्था तक तो भवितुमर्हते भी तथा न कालेकी बात समझाती ही गयी है. चरितकी व्यवहारमात्रके एकबार विकसित होनेपर यदि बुद्ध्याय किंवा आत्मा है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता क्योंकि जैसे-जैसे भवितुमर्हती वीर्याय वृद्ध होने केनेना जैसे-जैसे लौकिक तथा वैदिक बुद्धिसे वृत्त उत्पन्न होने केनेना—“जैसे केनेना तथा जैसे हृदिष्ट न कल्पिते पुच्छितानिर्गन्तवी मन्त्रात्” (मन्त्र १) यह कहते कहा का गुण है. ऐसे अवस्था भवितुमे, लौकिक अवस्था वैदिक बुद्धिसे पुन उत्पन्न केनेनाके लौकिक कार्य का वैदिक कार्य का त्याग एकबार कर देनेपर, जीवके स्वभावका भी व्यवहारभवे याथा उपरिष्ठ होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है.

(२) गीताकाही जीवोत्पत्तिकी स्वयम् भवन्तुने विरह्यायिते उपायका बाह्य का. उपरान्तेकी वृत्ति हेतुमे वृत्त केना तथा वा. अतः इस अवस्थामें स्वयम् भवन्तु याथा पहुँचा सकते हैं पर ऐसी मात्तकाला निरन्तरन कहते ही कर दिया तथा है कि भवन्तुकी वृत्त वा कि उपरान्ते जीवोत्पत्तिके प्रारम्भके मात्तकाला होनेके वृत्त स्वयम् उपरान्ते काव्यायितान कल्पित हो जानेका अतः इस विरह्यायितुमर्हती मात्तकालाके वृत्तका तथा पहुँचाया है केना नहीं मानना चाहिये.

अतः जीवोत्पत्तिकी अवस्थामें योगित कर—उत्पत्तिके अवसर द्वारा वृत्त विनिर्गत कर—वेगारमात्रा अनुचित कर—मात्तकालाके कल्पे पत्तकित कर—व्यवस्थाके कल्पे अव काल विपरीत होने का पत्त हो कर इस काल—कालोत्पत्तिके कल्पिते कल्पदुमकी मात्त इका—स्वयम् हृदिने भी वपस्वी पाठ नहीं है ! फिर काल—कालोत्पत्तिकी तो क्या विज्ञात ?

अतः स्वयम् वृत्त निम्न-विज्ञातम् निम्न कल्पेकी मात्त-वृत्तिकर कहा किया ही वृत्त कोय का वृत्त होने केने !

अतः जातिभेदके वाक्यसे मन्वान् मन्वतोमे मोह उत्पन्न करते है ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि मागवत् (४।३।१।१२-१३) मे—“विजा योमेन क्षत्रियेन न्यायवाध्यामदीरधि, किञ्चा श्रेयोधिदरपेदन न मन्त्रमन्त्रो हरि, श्रेयसायमि सर्वेवाचारमा हावधिरयैत, सर्वेयममि भूताना हरिरात्मामद. त्रिय ” अर्थात् मोक्ष प्राप्त्य संन्यास स्वात्म्याय वा अन्य भी मारे श्रेयसाय-मोको करनेसे कोई लाभ नहीं, जिनसे करनेपर भी हरि आत्मक नही होने ही क्योंकि मारे श्रेयको अन्तिम आत्मा होती है और प्राणिमोके लिए हरि आत्मकन आत्मकद तथा त्रिय है ऐसी स्थितिमें सर्वथा मन्त्रमन्त्राधीन रहनेवाले प्रभु—“मह “मन्त्रमन्त्राधीन, तन्मन्त्रमन्त्र द्वा द्विज .. नाह्नाह्मनमायातो मद्भक्तः साधुचिन्तित” (भाग १।४।५३-५४), अपने भक्तोंको न तो स्वयम् मोहित करने और न प्राणिमोके मन्त्रसे मोहित होने देने

अतः श्रीकृष्णके दृढ़ होनेपर—मन्त्रिकी व्यसनदशाने—रघुहृदये मन्त्रमेवा को नमिज पाती हो — तो ऐसी स्थितिमें गृहका परिवर्तन कर देना चाहिये, कल्पना ऐसे करने रहनेसे कभी लाभका उपक्रमन भी हो सकता है, भक्त अपने स्वार्थ — अपने प्रभुके उत्तरमक अनु-मन्त्रके लक्ष्य—से नमिज हो सकता है, यह श्रीमहाप्रभुका दुखदर अधिप्राय है

मन्त्रहार

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीकृष्णभावात् द्वारा किया गया संन्यासनिर्णय कि वह मन्त्रिके दृढ़ होनेपर ही किया जा सकता है—कल्पना ज्ञानयोगीय वा कर्मयोगीय ऐतिह्ये पुण्ययोगीय सन्नास सेवा, पुण्ययोगीयानापर आरोहण करते हुए अब प्रति होनेका कारण बनेगा, पुनै हुआ

प्रस्तुत सरकारन वि. सं. १९७४ मे प्रकाशित सरकारनका लीकटेड प्रसिध द्वारा पुनर्मुद्रित कर है, उस सरकारनके सम्पादक ने श्रीमन्मन्त्र तुलसीदास लेखीवाला तथा श्रीबीरबल्लभ बल्लभ साहजिया. बीरबल्लभके बीरबली १००८ श्रीबीरबल्लभकी महाराजके आधिक सहयोगसे वह सरकारन प्रकाशित हुआ था इन सभी महामुखाय का इन इस पुन प्रकाशनके अनन्तरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है.

Editors' Note.

If the *Variorum Sacred Books of Sri Vallabhacharya*, *Sanjyoti Nitya* stands fourteenth. The circumstances under which Sanjyoti may be taken by the aspirant are discussed in this book. Sri Vallabhacharya says that in Karma-marga, it should not be taken, specially in Karm Yuga. In Bhakti-marga, it should not be taken up in the Siddhanta stage, for the convenience of *S-ravana* etc., it can only be taken up for experimenting—for the realization of the Separation of thousands of years from the Lord, viz., *apratyakhya* *aprasiddha* *aprasiddha* *aprasiddha*. This Sanjyoti is very difficult to obtain, it can only be had by love, the love of the Gopikas, who were the best among devotees, the dust of whose feet was received by Srimad Uddhava, and the obligation of whose self less love even the Lord of Love, Krishna Himself, could not recompense. In this *aprasiddha* Bhakti Marga, even in the beginning one can take Sanjyoti, if ordered by God, as taught by Sri Krishna to Uddhava, because we never hear of any devotee being ruined by Sanjyoti of this type. In Jñāna Marga, Sanjyoti is not desirable either in the beginning or in the final stage. To men of the present generation, the discussion is more or less of academic interest only, but it does give some consolation to those devotees, who find themselves in a world engrossed in trifling pursuits, and who are in search of a way to reach the *Abhaya-maya* Brahman. As in *Devadhā Lakshana*, we have added a Gujarati translation of *Variorum* *Prasiddhanta* like, for the benefit of those who do not know Sanskrit.

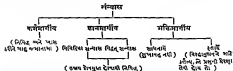
We have been able to publish eight Commentaries, viz., those of (1) Sri Vedāntanātha, (2) Sri Raghavanātha, (3) Sri Gokulānātha, (4) Sri Gopabandha, (5) Sri Goparāyaṇa, (6) Sri Parashotanātha, (7) Sri Vallabha and (8) Chakrācārya Gopabandha, son of Gokulānātha. The last is the same Chakrācārya Gopabandha whose commentaries on Śaṅkara and Nārada's Līlāsūtra have been published by us. We have tried to collect all the commentaries, but we are not sure whether we are successful in our attempt. If anyone is left out, and if it is sent to us, we shall consider it a great favour, and it will publish next time.

We have been able to collect more copies of all the commentaries except two—those of Chaitāṇya Goswami and Vallabhaṇḍa, of each of which we got only one copy from Pandita Ghatge's library at Vallabhalalaya respectively. Fortunately this latter copy turned out to be very old and very very correct. The Deccan College list of 3 rec Parashottamagya is also very old, and corrected and revised by 3 rec Parashottamagya himself. It is very unfortunate that attempts have been made at the interpolation of the word *aprasiddhi*, in the copy of this list, obtained from 3 rec Vallabhalalaya, with a view, as it seems, to take the origin of the homographs far beyond 3 rec Vallabhaṇḍagya. Of the four copies obtained by us, three, including the old one from the Deccan College collection, which seems to have been corrected by 3 rec Parashottamagya himself, have not got the interpolated word *aprasiddhi*.

We have typed no pages in comparison, making important readings, and making necessary corrections and the reader will find the printed text much better than the MS. It gives us great satisfaction to note that we have been getting this from all available sources. As before, we get a large number from Soviet historians.

संन्यासनिर्णयना सम्बन्धी कांङ्क

ସିଂହଭୂମି ଶାସନାଳୟର ସ୍ଥାନାନ୍ତରଣ ପ୍ରସ୍ତୁତି ପ୍ରତି ସମ୍ପୂର୍ଣ୍ଣ ସମର୍ଥନ ଦେବା ପାଇଁ ଏହି
 ଶାସନାଳୟର ସ୍ଥାନାନ୍ତରଣ ପ୍ରସ୍ତୁତି ପ୍ରତି ସମ୍ପୂର୍ଣ୍ଣ ସମର୍ଥନ ଦେବା ପାଇଁ ଏହି
 ଶାସନାଳୟର ସ୍ଥାନାନ୍ତରଣ ପ୍ରସ୍ତୁତି ପ୍ରତି ସମ୍ପୂର୍ଣ୍ଣ ସମର୍ଥନ ଦେବା ପାଇଁ ଏହି
 ଶାସନାଳୟର ସ୍ଥାନାନ୍ତରଣ ପ୍ରସ୍ତୁତି ପ୍ରତି ସମ୍ପୂର୍ଣ୍ଣ ସମର୍ଥନ ଦେବା ପାଇଁ ଏହି

[illegible][illegible][illegible][illegible]

1

भूतल-६, तेजीपुला,
पुणे-४११००४

अन्यसङ्गपरिचयः ।

१. सर्वविश्वव्यापारस्य सन्ध्यासुनिर्णयोऽपि सुविज्ञेयमिति, तस्य विद्यमाना वाचनेषु अपि दृष्टिता ।

५ श्रीमद्गीतारूपव्याख्यानस्य दशसुखानुपपन्नमिति । तत्र एकं भाष्यमहाशयनां प्रोक्तं
प्राचीनम् ॥ १७३५ भाष्यमनुसृत्य ग्रन्थः लिखितम् । द्वितीयं श्रीमज्जायानाम्, तृतीयम् । तृतीयं
श्रीमदीश्वरनाथनाम् नृत्यं प्राप्तं सुन्दम् । चतुर्थं श्रीमद्भक्तानन्दनरूपश्रीमदीश्वरनाथनाम् प्राचीनम्,
पाञ्च सुन्दम् । पञ्चमं गोवर्धनश्रीमद्भक्तानन्दनरूपश्रीमदीश्वरनाथनाम् प्राचीनम्,
पाञ्च सुन्दम् । षष्ठम् 'पुनरात्मनः' भक्तानन्दनरूपश्रीमदीश्वरनाथनाम् प्राचीनम् । सप्तमं
श्रीमद्भक्तानन्दनरूपश्रीमदीश्वरनाथनाम् प्राचीनम् । अष्टमं श्रीमद्भक्तानन्दनरूपश्रीमदीश्वरनाथनाम् प्राचीनम् ।

३. श्रीमद्भुवनवासमन्त्रिकविद्यालयका सुभारम्भसुखसम्पन्नम् । एक ५० गङ्गालालसङ्ग्रहण साम्न्, प्राचीन ज्ञान च । प्रिन्सिप श्री-रैकवलसालागाम्, मुख्य प्राध्यापक ।

१. अस्मिन्नुपलब्धसमस्तविधविषयस्य मुख्यतया भागम् । इयं च० महत्त्वपूर्णतया, इयं च० विविध विषयस्य च । अस्मिन् 'महत्त्वपूर्णतया' भागम्, मायं मुख्यम् ।

५. आचार्यीगेथेथारुल्लुकीकाम् । मुल्लककेथेथीयल्लम् । ग्रामं मुल्लम् । वल्लम् कल्लम् । सल्लम् ।
एव मुल्लकं वल्लकं कल्लकं । एतत् १०१० वर्षे लिखितं, ५० मल्लकल्लम् । निवेद्य रीत्या
कीकल्लकल्लम् आचार्यीगेथेथारुल्लुकीकाम् ।

५. श्रीमद्वैवेकचरणविष्णुदे
आश्रितामाश्रयाया विनितम्,
मूर्ध्नि श्रीमद्वैवेकचरणविष्णुदे
कृतम् ।

[illegible]

८ श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीगणेशाय नमः ।

[illegible][illegible]

नववल् विशेष.

[illegible]

श्री गुरुभ्यो नमः श्री गणेशाय नमः ॥

विभाजिता संपादयेवा पूर्वनिश्चितमार्गाना ॥ १ ॥

इति श्रीमते काश्यायिष्यपुराणप्रणेतारमहर्षिर्निवेद्यतु तैत्तिरीयसंहितायां ब्राह्मणं ॥

બીજા આ બીજાકેશવ મહાજનના અને એનિશીએવેશ્વરના (નવન) વિજય પદ
 વેપર હોય હશે, અને બીજાકેશવના આજીવન પુરુષો વેપરના દુષ્કામુદના જલ્દ હોય જ્યાં
 તે વેપરનો અને હવે જ્યાં તે કે કાચાપત્રોવેપરના કાપેલી થોડી ટીકા આજીવેશ્વરના
 નામથી કાપેલી તે એનિશીએવેશ્વરની છે જે મતિ વેપરની આ અર્થે ટીકા કાપી તેના
 ઉપર બીજાકેશવનામિદગ્ જેમ લખેલું હતું, તે અને "આજીવેશ્વરનીકુલકી" જેમ
 લખેલું હતું જે દસતાલના આ લખેલું હતું તે અને બીજાકેશવના દસતાલર મેડ ન હોવાથી,
 અને વેપરના મિત્ર જ્યાં એવાથી બીજાકેશવ એનિશીએવેશ્વરના ન જાણા બીએવેશ્વર
 હોવા હોય જેમ સમગ્ર એવાથી હજી ટીકા એનિશીએવેશ્વરની છે જેમ ને જાણી મતિ છે

www.aad-isa.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्विषये प्रोक्तो भक्तौ शान्ते विशेषतः ॥ १ ॥
कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥
अवघादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यक्षेत्रं स नेष्यते ।
सहायसहसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानास्रियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।
गृहादेशोपकथ्येन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अनेपि तादृशैरेव सहो भवति नान्यथा ।
सर्वं च विषयाक्रान्तः पापघ्नी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नाथेशः सर्वदेहं हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव श्यामः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
श्रीयथन्यनिवृत्त्यर्थं वेधः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्टिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यद्विष्णते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽव्यास्यं प्रकृतिः प्रकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तत्सर्वं वर्तमानस्य पापघ्नाः ॥ ९ ॥
सललोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र कलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सल्लोकादी तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
 यद्विद्येत् प्रकृतः स्वात्मा यद्विद्यत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
 तदैव सकलो बन्धो बाधमेति न पान्थथा ।
 गुणास्तु सद्गुरादिस्वास्तीयनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
 भगवान् कलरूपतवासाय बाधक इष्यते ।
 स्वास्थ्यावाप्त्या न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
 दुर्लभोपं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।
 ज्ञानमार्गे तु संन्यासो विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
 ज्ञानार्थमुत्तराहं च सिद्धिर्लभ्यमशतैः परम् ।
 ज्ञानं च साधनपेक्षं यज्ञादिभयणान्मतम् ॥ १५ ॥
 भूतः कलौ स संन्यासः पक्षात्तापाय नान्यथा ।
 पापविहर्षं भवेत्तापि तस्मादज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
 सुतरां कलिदोषाणां प्रकृतवादिति निश्चितम् ।
 भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
 अन्नारम्भे न नाशः स्वाद् दृष्टान्तस्याप्यभाषतः ।
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादयः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
 हरिरथ न ज्ञातोति कर्तुं बाधां कुतोपरे ।
 अन्यथा मातरो बालाञ्च स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
 ज्ञातिनामपि वाक्येन न भर्तुं मोहयिष्यति ।
 आत्मप्रदः विगत्यापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
 तस्मानुक्तप्रकारेण परित्यागो निधीयताम् ।
 अन्यथा अहयते स्वार्थोदिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
 इति कृष्णप्रसादेन बहूमेन विनिश्चितम् ।
 संन्यासवरणं भक्तान्यन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्भक्तिसाधनसंस्कृतप्रकृतिः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनचक्षुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नमामि शालभरणान् स्रग्धराणां सर्वकामदान् ।

यैः कृत- स्यान्निपातार्थ- प्रकटः कृपया नमि ॥ १ ॥

सन्तर्पावपरित्यागं यद्गुं परित्यागविचारं प्रतिबोधते, तदेतदुक्तं- पश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विगतये प्रोक्तो भक्तो ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

नेतिमार्गीवपरित्यागेतरत्तर्पणदार्थ्यं विचार्य त्यागविधायावन्नित्यस्य पश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीवपरित्यागविचारमारभते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उत्तमपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं यः परित्याग- स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विविधोपसमापद्येतेति
सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्तं विचार्यते । स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारो
परित्यागज्ञानान्दादन्यमार्गीवस्य सन्निचार्यमाणस्य च त्वरतम्यज्ञानदार्थ्यमन्यमार्गीवमन्यदु-
स्य मार्गद्विगतये इति । मार्गद्वयमेवाहुः भक्तो मर्षोदापुष्टिभेदमिदं भक्तिमार्गं ।
नर्षोदापयौ श्रीमद्भक्तवत्प्रेमं नमपत्त्या 'मदर्थैर्वपरित्यागो मोक्षस्य च सुखस्य च । इह
इव द्रुतं यत् मदर्थं यद्वा तपः' इति शागो विशेषतः श्लोकः । पुष्टिमक्तिमार्गे तत्त-
न्मद्वलममदनाभिरपि 'सन्त्यज्य सर्वविषया' इति । तत्प्रीत्यपामेव चतुर्थाध्याये वा
श्लोके 'एव मदर्थोन्निगते'त्यत्र विशेषतस्तत्त्वमं श्लोकः । (नन्दमयनाथविशेषेण साय-
कमनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेद्, अत्र नद्वयम् । यद्यपि मर्षोदाभक्तिपरित्याग-
कथनेति 'मदर्थैर्वपरित्याग' इति वाक्ये सप्रत्ययस्य परित्याग उक्तः, तद्वदेव फल-
प्रकरणचतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीवमकसाहस्यविरूपस्य 'एव मदर्थोन्निगतेत्येकमेवस्त्यागः'

१ पश्चात्तापशब्दमन्यदु मर्षोक्तिः । भक्तिमार्गे च नद्वयमस्तीत्यतिशयोक्त्यर्थेपक्षमात्रा परित्याग
इत्यर्थः । तथा च भक्तिमयमार्गीवपरित्यागो विचार्यते इति निमित्तम् । २ भक्तिमयमार्गं विशेषतः तत्त्व-
मिदं सायकमेवत्यर्थे तुनन्विद् ।

मित्युक्तं, तथापि मर्षादौर्ध्वमार्गे लावण्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्प्रमादप्रतिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितमिद्व्यभिप्रायेण, तन्मार्गे तस्यासम्भावितात्वात्, शुद्धिमार्गपि नक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मर्षोऽप्यिदं क्लेशोऽप्येदं दृष्ट्वा' इति लोकलेदस्वरूपरित्याय उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञातार्थोत्थान उच्यते, तथैवासां ज्ञातार्थपरित्यागस्य मत्र एव श्रित्वाऽसम्भावितात्वात् स्वपदसातमर्षवशादभिलषेण सम्भवति । यद्यपि नियमानभिलषेद्व्यन्यामानस्यागोऽसम्भाविताः, तथाश्वात्मसाधोक्तप्रमाणायः । यथा श्रुती 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती' इति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मीयाधिक्येन, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तत्र स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भव्यकः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदभिलषदशापामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न भगवतादियुरस्कारस्यासात्, उपयोगवत्तत्रैव स्वात्मपुरस्कार इति नारदनः स्वभाषतः प्रियत्वात्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्यनेवात्मनस्तत्त्वम इति शुद्धशुद्धिमार्गपरित्यागस्य मर्षादौर्ध्वमार्गपरित्यागस्य च मद्देन वैकल्याणमित्युक्तमस्मात् लापपदोपादानादुच्यते साम्यमस्ति तत्राशङ्क निरुक्ता वेदितव्या । > ज्ञाने ज्ञानमार्गेति विशेषतः प्रोक्तः । स च विशेषो 'यद्गृहेषु विरहेषु तद्गृहेषु प्रसवे' इति श्रुत्या विविदिषाविद्वेदोऽन्त्यां च तत्प्राप्ते निरूपित इति विशेषतः इत्युक्तम् ॥ १ ॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्ताः जातात् तथापि परित्यागश्रुतिमात्रेण निरूपयन्ति कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सूतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

तत्र 'पातशौचमपिदोषं कुदोती' इति विविना संन्यासप्रवृत्तसंन्यासपरिग्रहादित्यात् । यमप्यानुपपन्नधर्मो मायधनुर्धनत्वेन नैव इति कुत्रचिदुक्तं तथापि निषेधमाहुः सूतरा-
मिति । असाधमर्थः । कलिकालेन अनुन्यासात्मनसात्मन्यर्थवत्त्वादायुपपन्नधर्ममात्रस्यातिवरा-
न्यासादायमर्थस्य चानिच्छतात्पत्त्येवमनिर्वाहद्वितीयतत्त्वज्ञापकत्वं भवेदिति सूतरां
कलिकालतः इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गे परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्मै च कर्ममार्गे
लोपपन्निकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गे तस्य कर्तव्यप्रकारविचारवारमन्ते अत इति ।
यत्र प्रकारभेदेन पूर्व मार्गद्वयेन कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि
विचारमन्ते पूर्व भक्तिमार्गोऽपिद्विज्ञातः कारणादादौ अथगतः भक्तिमार्गेन परित्यागस्य
प्राप्तत्वावस्य विचारणा विचारः कियत् इत्यर्थः । विचारणा च कदा कर्तव्या, कथं
कर्तव्या, विषयं कर्तव्य इति ॥ २ ॥

भक्तिमार्गे भवत्वादिप्राप्तनिरूप्य कर्तव्यमर्थं निराकुर्वन्ति अथवादिप्राप्तनिरूप्यमर्थमिति ।

अवशादिप्रवृत्तयश्च कर्तव्यस्यैव नैष्यते ।

सहायसहसाध्यत्यात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अवगतादीलक्षणं नेष्यत इत्यन्तेन । स पतिलापो नेष्यते, इच्छापिपत्यतेनाति
नाहीकिमत इत्यर्थः । नवहीकोरे हेतुमाहुः सहायेति । 'एकही नियग्रहः शान्तः पाणिपापो
दियन्कर' इत्यादिवाक्यैस्त्वामिह एकहितेनेव स्थितेति कृतवान्छ्रवणादीनां सहायसङ्ग-
साध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां साकमज्ञानुसारिकव्यप्रेरकत्वात्तत्त्वानिर्णययथानां
पुष्टिमक्तिमार्गविरोधित्वात् भक्तिमार्गसाधकत्वम् । तद्वत् । मायावादिनां श्रुतीनामपि
कलितत्वात्तत्त्वप्रतिपादयमस्यार्थानामपि व्यवहारोपयोगित्वेनावारमार्गिकत्वाद्दृष्टयो निर्भयक-
त्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । नैवाधिकम्ते तु 'श्रोतव्यः श्रुतिवचनेभ्यो मन्त्रमन्त्रोपपत्तिभिः'
इति जगत्कर्तृकत्वेनेव रसिद्धापि ज्ञानेच्छाजन्यतातिरिक्तार्थसाधाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् ।
मीमांसकानां निरीश्वरादित्वादेव श्रोतव्यामवाप्त अवगतिप्रैरव्यम्, तत्त्वमार्गिप्रैरक-
द्रूपत्वात् तत्त्वमार्गीप्रैरेव सहाकर्ममार्गिप्रैरव्यम्पि च सिद्धेस्तन्मन्त्रवचस्य भक्तिमार्गविरोधित्वात्
भक्तिमार्गसाधकत्वम् । वाक्यान्तराव्यन्ताहुः साधनानां च रक्षणादिति । साध-
नानामाश्रयमसाधकधर्माणां स्वावर्हीचप्रपन्नपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रवृत्तानुष्ठानम् ।
तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गविषयव्यादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ॥ ३ ॥

अभिमानाक्षिपोषाण तदुभय विरोधतः ।

गृहाद्वैर्षाधिकृत्येन स्वाध्यायार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अस्येपि सादृश्येण सङ्गो भवति मान्यथा ।

श्वर्यं च विषयाकान्तपापणी स्यात्तु कातलः ॥ ६ ॥

[illegible]

कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यकृतसाधकत्वाद्भक्तिमार्गेविचारे प्राप्तिकृत्येनेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विवक्षाप्रवृत्तापन्दीत्यत्र कर्मपात्यः । तुल्यभेदाभावापत्तिरनिरासः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि दुःसंगो भवसिद्धिं साधकस्यापि भाषस्वित्यर्थमेवोक्तत्वाद् दुःसंगेपि कदापिज्ञापस्त्विति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाप्रवृत्तान्तदेहानामिति ।

विषयाप्रवृत्तान्तदेहानां नावेष्टाः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव रत्यागः सुखायहः ॥ ६ ॥

विषयाप्रवृत्तान्तदेहसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसस्पर्शसौख्यकान्तः प्यासः देहो येषां तेषां सर्वदा हरेरावेष्टो न भवति । यत् एते प्रकारा वापका अतः अत्र साधने भक्तौ साधकरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखायहो न, सुखार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । यच्चकरोष सर्वोत्तमा गुरुसार्थासाधकत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनान्नाद्यद्वैतवर्षवायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहात्तुभकार्यमिति ।

विरहात्तुभकार्यं तु परिहारागः प्रदास्यते ।

स्वीपयन्धनिवृत्त्यर्थं येषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

यत्तु विरहस्य संयोगवृत्तत्वात् साम्प्रतं तस्मान्मायात्वं कथं विरह इति चेत्, सत्यम्, यत्प्रमाणपरित्यागस्य पूर्वशुद्धिमागीचमयप्रज्ञावाननारथाविलोभं तरपूर्वदृष्टार्थं भगवत्सत्कृत-
सेवनस्यावश्यकत्वाच्च भावपूर्वकं गीतुमदर्थस्तत्तद्वत्सर्वजनितसहाभिक्षाया अपिप्रशु-
त्येन तन्मन्त्रमायजन्यस्यात् सङ्गवृत्तत्वं विरहस्य भवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं
तत्त्वसापत्तिद्वयं तत्तिष्ठत्यर्थमित्यर्थः । तेन ब्रह्मशुद्धिमागीचिपूर्वभावप्राप्तिकारीति ज्ञा-
तम् । तद्वत्स्य सर्वोत्तमायवृत्तकसम्पन्निपरासदितीत्यविचारसाधकत्वेन तस्याय वर-
कत्वेन सस्यापि तन्मागीचत्वेन तत्कत्वेनतद्विज्ञापस्य साध्यत्वं तरपूर्वभावप्राप्त्यु-
त्साहना दर्शनप्राप्ताद्विरहस्यावश्यकत्वं । एदमित्ये एदमित्यनां तत्त्ववैवाच्यात्
तत्त्ववैवाच्यात्तद्वत्तत्त्ववैवाच्यात् तदनुभवप्राप्ताद्विरहस्यावश्यकत्वं, तस्य परित्यागवृत्तप्राप्त्यर्थं
वेवकत्वनमाहुः स्वीयेति । स्वीयाः कार्यवृत्ताद्वत्तत्त्वतो मन्त्राः, त्यागे प्रतिपन्नाः,
तद्विपन्नार्थं वेवकत्वनम् । यत् येषः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिपन्ननिवृत्त्यर्थमेव । न
चान्यथा, अन्यप्रयोगवार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा नवोदमागीचतुर्थावपरिमहदेतुल्ये-
वावश्यकत्वाय वेवकत्वं तदास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेति मार्गभेदनिरूपणार्थं परित्यागविमितं वेवकत्वननिमित्तं
योरस्या गुरुत्वं साधने च निरूपयन्ति कीचिदन्वयो गोपिका इति ।

कीचिदन्वयो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधने च तत् ।

भाषो भाषनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

यथा गुणितान्मन्थेन निमयोयज्ज्ञापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाभ्यापनपूर्वकं च परमानन्दानुभवमेव
 स्यात्स्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यै-
 र्दत्तं गुणास्तु सङ्गराहितत्वादिति । सङ्गराहितं निषेधस्तूर्तिः । ननु कथं कृपयिष्ठीमं
 मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणस्यासौ भवदित्यत्र कृपयित्वेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र
 पूर्वाभिप्रेत्यानुभवहेतुः पुनः पुनर्पूर्ववत्कृपापक्षदात्म्यादिसर्वभाषानुमापनमेव सत्यं गुणेषु
 शीघ्रं पितृव्यासाहं कारमित्यत्र पञ्चादित्यन्तेन स्वास्तितित्यर्थं सत्तावस्थमादकार्यकथनम् ।
 ये पूर्ववैयानुक्तसर्वविषययोगमात्राभ्युपेक्षां सिद्धौ प्रबोधयोगावाचनकालमेव स्थितमात्र इति
 नानुपपत्तिः काचित् ॥ १२ ॥

ननु कर्तुं न कर्तुं सम्भवत्यनुत्तं समर्थस्य भवदित्यत्राभावेणापि स्यात्स्यसम्पादकत्वात्कथं
 न सम्पादयतीति चेत्, तत्राहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वाज्जाय भाषक इच्छते ।

स्यादध्ययमाकर्षणं न कर्तव्यं दद्यात्तुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

भगवत्पदेन बहुवैभवंसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मात्रे सखीय फलत्वा-
 त्साक्षात्प्रेतज्ञासौन फलसाधकत्वाज्जाय च तपिकसमाभवात्साधकभावे फलमाप्त्यभावाच्च
 सखीय तदभावात्सम्पादकत्वकथनेन सखीय फलज्ञाती प्रतिपन्नफलत्वेन च सख्य फलत्वमेव
 न सिध्येदित्यत्र उक्तं फलरूपत्वाज्जाय भाषक इच्छते इति । ननु सख्य फलत्वमकत्वा-
 त्फलदित्यावाच्य सिद्धत्वात्तरूपेण तात्पापकम् ना करोतु, तस्मात्ति यत्किमिदं स्यात्स्यं सखी
 वचनेन कथं न निवर्तयतीति चेत्, तत्राहुः स्यादध्ययमाकर्षणमिति । भगवता तात्पर्यं
 प्रति यत्किञ्चित् स्यात्स्यहेतुकमपि वाक्यं वचने न कर्तव्यं न वक्तव्यमिति । तत्र
 हेतुः । वचनेन पार्श्वस्थापौ निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्ती विरुध्यते भविष्यतीति ज्ञात्वा
 वचनेनापि स्यात्स्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलनिष्ठमेव स्वधेव हेतुः स्यादिति
 सखीय विरोधितं स्यादिति यत्किञ्चित्स्यात्स्यहेतुचूलासखी वाचकसाधकत्वम् । ननु यत्कि-
 ञ्चिदित्यन्तेहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दद्यात्तुर्न । दद्यात्तुर्नसाधारण्यदवासमुद्रः ।
 यदि यत्किञ्चिदित्यन्तसद्विष्णुत्वमपि चेन्नचेत्, तदा तावदथांस्तस्य न्यूनत्वात्परमदद्यात्तुर्न
 नोत्पद्यतेति न तावदाकर्षणत्वम् ॥ १३ ॥

एवं सतिमात्राविसंन्याससंस्कारं साधनफलव्यवहारविचारोपशोधोपसंहरन्ति दुर्ल-
 भोपमिति ।

दुर्लभोयं परित्यगाः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अथदुष्कथनकारकः परिहारायः दुर्लभः, तत्रोदयनतादितापनैरत्यशान्यः । ननु
 वस्तुनामस्य दानादितापनसाध्यत्वात्तत्त्वमस्य दानादितापनसाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम् ।
 यथा नतन्त्रासौ तत्तत्तत्तत्तापनत्वेन यानि तानि तापनानि भवितानि, स्वर्गकामस्य न्योयित्वे-

मयत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनसाधनोक्तं कियत्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभ-
त्वम् । ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वात्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्तपि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य
च साधनोक्तद्वानादिसाधनसाध्यत्वकथनान्न केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधन-
माहुः प्रेम्णोति । प्रेम्णा भगवत्परमाश्रयत्वा सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा । ननु
कर्म जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गफलतत्त्वार्थैस्तद्विषयकप्रपत्तिप्रसङ्गो-
क्त्या बलैवतन्मार्गीयफलसिद्धिरितिस्वीकृत्या भगवत्प्रेमेद्वानन्तरं तस्मिन्मार्गार्थकृत्वा-
त्वेदं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिन्साधनसिद्धयः प्रेमसुखो भवतीति तेन प्रेम्णासाधि-
तात्त्वत्वं सिध्यतीत्यत्र एकं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा वृत्तदि-
रिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुप्तं दुर्लभोपमित्यदि ॥ १२१ ॥

एवं भक्तिमार्गीयसाधनविचारं उपरंक्ष्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपशङ्कारमात्मनो
ज्ञानमार्गे स्थिति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थसुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिभयणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापपिङ्गलं भवेत्सापि तस्मात्प्रज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां फलदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ।

स्थिति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गः द्विविधोपि, विविधविधिप्रज्ञे-
सुक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति ।
ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्धयर्थमेकः । यज्ञाद्यनुक्तिं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति ।
'ज्ञानादेव हि वैतल्य'मिति वाक्यानुक्तेर्ज्ञानसिद्धसुत्तरफलत्वादिसंन्याससौकराङ्गत्वं
मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसंन्यासस्य सुखप्रदत्वं तथापि 'बहूनां जन्म-
नामनन्ते ज्ञानज्ञानां प्रयत्ने । बाहुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इति भगवद्वाक्यात्
प्रपञ्चेन भक्तिसाधनविरतिरेव केवलज्ञानस्य मुख्यसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरजदलेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां शीघ्रप्राप्तनां कृष्णे मतिः प्रजापतः' इति याज्ञवल्क्ये ज्ञानस्य
नक्षिज्वरिण्यनिवर्तकत्वोक्त्या 'निवा महत्सादरबोधिमेक' मिति वचनेन वक्तव्यं महद्गुण-
दैक्यत्वत्वोक्त्या च याज्ञवल्क्येन न भक्तिसिद्धिस्तत्त्वत्वेनैव पूर्णज्ञानसाधि न दुर्किरिति
ज्ञानसाधनोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा यदुक्तं सद्यः साधनमपि तत्त्वं तथा
सततशब्दापीति ज्ञाननाम जन्मशतैरिष्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः । एवं ज्ञानिनां
शुक्तिवचनमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञाननाम साधनादि निरूपयन्ति ज्ञानमिति ।
यज्ञ आदिर्यस्य भयनस्य, ज्ञानस्य निवृत्तमुक्तिहेतुकत्वात्तद्वत् च विवशोपकथ्यते

दृष्टान्तस्याप्यभाषत इति । ननु शौक्यैः कलादिभिर्नास्त्वन्मयेति सन्बन्धनादीनां
 क्षीतकलेन तापहारकत्वात्तद्विना आपनिवृत्त्या स्वास्येन तदितराहुत्वन्यानामन्ना-
 दैर्मित्यातापनिवर्तकमस्तिविति चेत्तदाहुः स्वास्यहेतोः परिख्यामादिति । स्वास्यहे-
 तोऽबन्धनहेतुद्वयत्वेन सहैव परिख्यामात् तैर्न सन्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः ।
 नयथा, समादीनां समेषितप्रकोपविरहिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्तद्विना तापस्यासम्भवात्
 तेषामस्तिन् स्वास्यहेतुत्वमित्युक्तत्वात्तद्विना तापनिवृत्तं स्वास्यहेतोर्विद्यादि । तस्यायमर्थः ।
 एतत्तापस्य भगवद्वात्मकत्वाद्दृष्टं च तदबन्धनकलेन तत्तापकत्वस्याभाव इत्युक्तं बाधः
 केनास्य सम्भवमिति । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं यथाशोपायानां नाशकत्वात्तद्विना नशक्तोऽपि नाशहेतुत्वमाशक्त निराकु-
 र्वन्ति हरिति ।

हरिरथ न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः कथित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हरिः सर्वदुःखार्थं तयाप्यप्राप्तिव्याप्तैर्बाधलाक्षायां कर्तुं न
 शक्नोति । अशोपवृत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य तयात्वेन ज्ञानमीश्वरीय भवति, अतः
 अस्य नावस्य नाशे देवभावमपि जानाति, सत्य भक्तभावधीनत्वमपि जानातीति
 स्वसाधकत्वं ज्ञात्वा न वर्तते इत्यत उक्तं हरिरथ न शक्नोति कर्तुं बाधामिति ।
 एवं भगवदेतदुक्तबाधार्थं निरूप्य केतुविक्रम्यायेन तदितरहेतुत्वस्याभावमाह
 कुतोऽपर इति । अथ प्यल्लिके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । अन्यथा यद्येवं न, तदा
 मातरोऽपि बालान् स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषयं न कुतः । मातर इति पुत्रपोषणं
 सर्वव्याप्तुल्लङ्घनम् । कथित्वाप्येन सर्वदेवज्ञानविषयो ज्ञातः । (यथा हरिरथेति ।
 अथ ह्यै हरिपदज्ञत्वा अत्र बाधां कर्तुं न शक्नोतीति बहुलं तत्तापमाशयः । यद्यपि
 हरिदेन सर्वदुःखदुःखसामर्थ्यमाप्नोति तथापि दुःखहेतुत्वमुक्तत्वा यथाभावात्कर्तृत्व-
 मुक्तं, केनास्य विनाशभावस्य शक्तत्वात्कत्वात् अस्त्वस्य च हिरतरसात्मकत्वात्स
 भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन
 वर्तितुमिति कुप्येदेन, अन्यथा नाशार्थस्य बाधार्थं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्तत्वा
 कत्वस्याभावात्तदपनयेत्येकं, न तु दुःखहेतुत्वमुक्तम् । स्वयमेव केनास्यं कुप्येत्तदा
 स्वस्यैव कत्वविरहितत्वहेतुत्वं अवेदित्वेन तद्विनाशप्रमाणमर्थमनुक्तं हरिरथ न शक्नोति
 कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति ।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावात्तापस्यत्वमेवमनेश्वरस्य
 बाधाकत्वमिति नाशः ॥ १९ ॥

यद्यप्येतावन्निवृत्तापस्य सर्वाभावत्वं, तथापि ज्ञानमार्गसाधनाशमाने प्रसिद्ध इति
 तन्मार्गपोषकत्वमस्त्वानाशमात्रस्य तेषामपि ज्ञाननाशकत्वमाशङ्क्य ज्ञानिनामपीति ।
 ज्ञानिनामपि बाधयेन न भर्तुं शोहयिष्यति ।
 आत्मप्रदः निषध्यापि किमर्थं शोहयिष्यति ॥ २० ॥

मगवत्त्रैयिकः श्रीमद्बुद्धयः 'सूयतां त्रियसन्देह' इति मगवत्सन्देहशब्दात्त्रेय तासंदेहशब्दात्त्रेय-
मात्तार्यश्रुपदिष्टस्त्विति ज्ञानस्य मगवत्ता स्यात्सम्पदनेन रक्षितत्वेन सर्वोत्तमा सोपदिष्टमार्गो-
द्भावादर्शनपर्युक्तैः 'रक्षित्वमादिगोपीनां कृष्णागोत्राजनिष्ठव'मिति पूर्वोक्ततासंदेहशब्दादिदर्शनेन
सर्वोत्तमा स्याद्व्याप्तनिष्पत्तयं तापादिमात्रस्य त्रियसन्देहं दृष्ट्वा तासु सर्वोत्तमातिर्विचारी-
नीत्यर्थदर्शनेन सूयित्वं मगवत्कृपाभावात्त्रेयस्य सत्त्वस्य कृष्णत्वात् सत्त्व साक्षात्तत्वात्तान्त्रि-
विधैः स्वरूपेण नमसायोम्यत्वं ज्ञात्वा 'बन्दे नन्दमजक्षीणां पादरेषु'मित्यनेनैकश्रेष्ठेन नम-
नमस्तुताम् । तस्माद्यत्रैवात्मजदानं त्रैव ज्ञानमार्गिष्यत्वात्तयोद्भावात्, नान्यत्रैवेताव-
त्त्वमेवं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहपिप्यतीति ॥ २० ॥

एवं संन्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मान्नायुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

तस्यानुक्तप्रकारेण परित्यागा विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रष्टयेत् स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ ११ ॥

अन्यथा अद्वयमे स्वाधीदिति मे निश्चिन्ता मतिः ।
 यस्मात्प्रतिनारीयः संन्यासप्रकार एतादृशीज्ज्ञो यदि साधनप्रकारस्य तदैतदुक्त-
 प्रकारेण परिहाराः निरुद्धास्तु तस्यैः परिहाराणो विधीयतां निवृत्तानिहारीः ।
 अन्यथा एतदुक्तप्रकाराद्वयमे स्वाधीतुं कस्याप्यन्योपायं पुरुषार्थसिद्धेः सत्त्वसाधकद्वयमे
 व्युत्थो मयतीत्यर्थः । इति सर्वप्रकारिका मे मदीया मतिः । मदीयसकप्यमेव
 कौतुहलप्रकारं निरूपयितुम् । निश्चिन्ता निःसन्देहेत्यर्थः ॥ २१ ॥
 निश्चिन्ता निःसन्देहेत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं पूर्वोक्तो मूर्धनिष्ठालक्षणाविधित्वे हेतुमाहुः इतीति ।
येन प्रत्ययेन विविधितम् ।

इति कृष्णमसादेन पञ्चमेन विनिश्चितम् ।

इति कृष्णप्रसादमेव यत्कृतं नमो विष्णवे ॥ २५ ॥
 संन्यासचरणं भक्त्यावन्वया चरितो भवेत् ॥ २६ ॥

[illegible]

तथाऽन्त्यागात् चतुर्थे षोडशत्यर्थः ॥ २२ ॥
 निरुद्धादाव्यङ्ग्यव्यापि नित्योद्दिष्टि न्यायमिति । संन्यासनिर्णयस्येन प्रसीदन्तु नवीयराः ॥ २३ ॥
 निरुद्धादाव्यङ्ग्यव्यापि नित्योद्दिष्टि न्यायमिति । नैरेव च कुर्यादौहमिति मे सुखा नतिः ॥ २४ ॥

नित्यादाय्यह्वया निहतादोषो नयान्तरः । तस्मात् स कृतार्थोऽहमिति मे सुखा नतिः ॥२॥
नतिनामे पुमर्था ये सिद्ध्यन्ते सर्वथा नति । तैरेव च कृतार्थोऽहमिति मे सुखा नतिः ॥२॥
॥ २ ॥ नित्यादाय्यह्वया निहतादोषो नयान्तरः । तस्मात् स कृतार्थोऽहमिति मे सुखा नतिः ॥२॥

इति श्रीमत्पद्मपुराणैकधनेन श्रीवाल्मीकेन विरचितं
विष्णुविचरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबहुभाय नमः ।

श्रीमद्वाचार्पणचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विह्वलेक्षणदाम्भोर्ध्वं गत्वा गत्वा विचार्यते ।

वाचार्पणमोक्षतन्त्रासन्निधौ तत्परादृतः ॥ १ ॥

अथ कर्ममार्गिकविद्यायां सम्यग्वाञ्छितशुभदुरुपकटाशम्भवाद्येऽनैकतर्पदर्थनिव
कारेति तच्छेषमन्तिमान्वाचान्वाचान् कदाचित्तद्वयकाशमपरीया अप्येवविधा वा श्रुतिसे-
तदर्थमाशुयेव सुखोपायं संन्यासे विचारयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गैर्दितये प्रोक्तो भवतीं ज्ञाने विदोपतः ॥ १ ॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न वस-
मितीच्छो यस्यापः स पश्चात्तापः । भगवत्कृपातिरिक्तविषयाणां परितः कर्षतो वाद्या-व-
न्तरादितोय पस्त्रागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वे-
नोपरिष्ठ इत्यर्थः ॥ १ ॥

शुचीपमार्गैस्तापि सत्प्राप्तवति कर्म भवत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुमरीं कलिकात्ततः ।

अतः अगदी भक्तिमार्गे कर्तव्यस्तद्विपर्ययः ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गद्वये सत्प्राप्त्याः कल्पस्य संवाचनितो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्ति-
मार्गे संन्यासविधायकवाचपाथक्यादेरुक्तत्वे सिद्धे तन्निमित्तो बोध्यते । प्रातिपूर्वकत्वादि-
वेषस्य । शुचान्तरे तु शरीरसौख्यकवादिनाप्यन्तःकल्पस्य विषयवशात्सुखतोपपद्यते । कदां तु
तत्प्राप्त्यापवादिकर्मैषां साहस्यप्राप्त्यापन्नोक्तकृत्यवर्द्धनेन संन्यासात्सुखकलात्सुखं न
कर्तव्य इत्यर्थः । तदर्थं मार्गद्वयं न कर्तव्यत्वेन प्रोक्तं ज्ञानविक्षया कलेरप्यर्द्धितत्वात्तत्प्राप्तं
वक्तिमार्गे कर्म कर्तव्य इत्येतदपि विचारणा क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अवगादिमृत्पथं कर्तव्यमेतत्स मेधयेते ।

सहायसद्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणम् ॥ ३ ॥

अवगादीति । वैयर्थ्याभावात्पूर्वकं भक्तिसाधनप्रवगादितु मृत्पथं सन्धासमेत्के-
तव्यसादा स एवेतिथः इह भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु अवगादिसाधनार्थं
मण्यपुष्टत्वाद्भक्तिसाधनप्रवगादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कृत्यो नेत्यत आह सहा-
यसद्गसाध्यत्वादिति । भयवत्तत्वं विज्ञासोरेकास्त्रिः अथवादेः सहायस्य सहा-
सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात् । नहि आपयितारं निरा अवगं सम्भवति । तत्र श्रुतस्य
अथपक्षोत्तेजनगुरुपक्षत्वादिसाधनां खेदेन, अतस्तद्व्यस्य स्वतस्तस्यि दुःखं स्वीकरो
यान्ताशितमेव । इदमेकं पापकम् । अतस्माह साधनानामिति । अतःकाव्यवर्धनं
अवगादिसाधनमादत्तव्यमित्यसि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्रकस्यैवोनिभिः साधनानि
रक्षन्त एव । इदं द्वितीयम् ॥ ३ ॥

अभिमानादिति ।

अभिमानाश्रियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेशीयकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

निनिदिपादशायां सर्वेषां कामकोषाधनप्रवगादिसाधनानां प्रतिवादिनिरा-
करणात् यद्येति सम्भाव्यते, तत्पक्षश्चाभिमानकृतः सन्धासो कृत्येज्योतिषि बोधित इत्यर्थः ।
इदं तृतीयम् । निवोगादिति । गुणीनां निवोः । तद्वक्तव्ये प्रत्ययाः, तद्वक्तव्ये व्यासङ्गः,
तथा सति वेदसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । सन्धासो सर्वप्रमाणं दुष्प-
त्वात् अवगादीनां अन्धादिसाधनसाध्यत्वात् परस्परं पर्यायविरोधाद्भक्तिसाधनैवमेव
संन्यासो न प्रयुक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

मगवद्वर्गीकरणे अवर्धेकरगृहादीनां पापकत्वात् प्रतिबन्धापवगात् सन्धासो यदि
कर्तव्यसादामि पापकत्वाद् अशेषीति ।

अशेषेति तादृशीरेव सङ्को भवति नान्यथा ।

स्वार्थं च विषयाकाङ्क्षाः पापकटी क्वात्स कामतः ॥ ५ ॥

गृहादिप्रतामायां सन्धासो कृत्येति तदनन्तरं तादृशीः पूर्वोक्तसहायिभिरैव
सङ्को भवति । अन्तावरणस्य सन्धिः अग्न्यन्तराभावात् । नान्यथा । (न) अग्न्यन्तरा-
वर्धेकरगृहादीनां निवोः । तद्वक्तव्ये प्रत्ययाः, तद्वक्तव्ये व्यासङ्गः,
तथा सति वेदसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । सन्धासो सर्वप्रमाणं दुष्प-
त्वात् अवगादीनां अन्धादिसाधनसाध्यत्वात् परस्परं पर्यायविरोधाद्भक्तिसाधनैवमेव
संन्यासो न प्रयुक्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पापण्डी न भवेत् । धर्मेष्वकिपात् । रक्षतरवैराग्याभागे तापश्चर्माचरणं निष्कलमेव । तदुक्तं भगवता 'हुण्डमित्येव नक्तर्षं काण्डेयमवात्मन्येत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव सागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मैन्द्रियाणि सेवन्व य आसी मनसा सारत् । इन्द्रियाणां निगृह्यन्मा निष्ठायातः स उच्यते' इति ॥ ५ ॥

ननेताप्यानापि कदाचिन्महता कलेन कृते बनिष्यसेनेति चेत्तत्राह विषया-
कान्तेति ।

विषयाकान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरैः ।

अतोऽयं साधने भवती नैव त्यागः सुखावहः ॥ ५ ॥

विषयाभिविद्यन्तःकरणानां हरैरावेशः भित्ते हरिस्वरूपस्मितिर्न भवतीति चेत् । तत्रैव सर्वदा, न कालमीयसेन । अत इति । यतः पूर्वोक्तत्वां दोषाणां सम्भवः अतः कदादाह्य अस्मिन्विचारे, भवति भक्तिमार्गे, साधन इति निमित्तसंभवी । तेन साधन-
सम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स शुभ नवद्विति, न करोतीत्यर्थः । न केवलं सुखानाया, किन्तु
हुण्डमपि इति भावः ॥ ६ ॥

तर्हि किं किन्तुः अपरैतेष्वपेक्षायाद विरहेति ।

विरहात्तु भवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयवन्धननिवृत्त्यर्थं येषः सोऽयं न नान्यथा ॥ ७ ॥

'तमनस्त्यागदाहाया' इत्यादिषु वसिष्ठो यो वसन्तुन्दरीयां श्रीकृष्णाहसद्विचो-
पकाहीनो नावविशेषः कथमास्मिन्मनीयः अनुभवीकथेयो यः सोऽयं विरहपदेनोपपत्ते,
तस्मात्तुभयः साक्षात्कृतः, तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः
विधार्यमाहुः स्वीयेति । सस्य वन्द्यो वधनोद्वेगुरादि, तन्मार्गेऽस्मिन्पदार्थं वैराग्यवासः,
तदा सोऽयं भक्तिमार्गे पन्थ एव ज्ञेयः, तस्य कथमास्मिन्पदार्थोक्तपदसम्पादकत्वाद् ।
नान्यथा । कथादिशितकलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र वैदिति पदमभ्याहार्यम् ॥ ७ ॥

न'न्वापार्थक्यं पुरुषो वेदे'त्यादिवाच्यैर्नितप्रवृत्तव्यसं संन्यासादेः प्रपत्ते, तदुक्तं
साधनाचरणेन न । तत्र सर्वं प्रकृते नम्येतेत्यत इत्यत आह कीचिदन्वयमोषिकता इति ।

कीचिदन्वयमोषिकताः प्रोक्ता गुरवः कथनं न नत् ।

मायो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिप्यते ॥ ८ ॥

कीचिदन्वयान्मा यो मह्यम् । यथा एतदुक्तमन्वयमोषिकताः प्रोषिकताः । प्रोषिकान्वय
मोषिकतायेति इन्द्र । विरहात्तुमन्वयमोषिकताये गुरव उपदेष्टा एतः प्रोक्ताः कथ्यशुक्तः ।
वदि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तसाधनसंनिधत्त सम्भवति । यद्यपि तातां तातादुपदेष्टुर्न
न दृश्यते, तथापि एतदुक्तं शुद्धं यद्वा वा यः प्रवर्तते, उ वति ताप्याहीनिकमार्गीय-

पराश्रुद्धात् वसिष्पन्ति सर्वे' इति । वसिष्ठायां विसाद भावनेति । यत्र वसिष्त् कले भावनेन साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनासुन्दरमेव भवेत् । यथा मय लोक्यातिशयपानाया वस्तुलादत्यलक्षणादकल्पम्, न पूर्णम्, एव भावनात्मनस्तरागं फलसाधनस्यमिति भाव । अत एवावर्षिककल्प 'आहुता सुकला देवा गणितानन्दक भूदत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्सुख एव यस्मिन्नेति । मयवसिन्तामरस्य मयलोको वातुरूप फलमिति तु श्रीनिष्कपुराणे श्रूयते । तथैव, 'वसिष्त् न्यसामर्त्तिं याति वरक स्वर्गोपि यस्मिन्नेति प्रीतो यत्र निरेक्षितान्मनसो लब्धोति लोकेश्वरक । सुखि चेत्सि य स्मितोऽमलपिशा पुष्पा ददत्तस्यस किं चित्र यदप प्रयाति किम्प तन्मन्त्रो वीरित' इति ॥ १० ॥

तादृशः इति ।

तादृशः सत्यलोकसादी निष्ठान्वेष न संशयः ।

यन्निष्ठ मकटः स्यात्तथा यद्विचलं यद्विशेषादि ॥ ११ ॥

तदेव सुकलो यन्मो नाशमेति न चान्यथा ।

निष्ठमवान्तास पदुपचनम् तादृश इति शेषम् । ते केवलज्ञानमार्गीशास्ते सत्यलोकसादावेष निष्ठान्ति, ननु पुरुषोत्तमे, यस्मिन्मार्गान्तं पातित्वात् । आदिपदेव सर्वमवदिष्टान शेषम् । ययि 'ययना सह सुखम्' इति पावनाहस्तलोकसादस्ये गणितान्ताना भूयो, तथैव भगवानन्दाननुपचदेतदपेक्षया सुन्दरमेवेति भाव । तर्हि मयलोकसात्तामति प्रीतो न भगवानन्दास्तुभय ? भगवोपसकपसात्तामपेक्षमात्रा दिवाद् यन्निष्ठ मकट इति । आकाशपदन्तर्पेक्षया मकट सिद्धोपि सात्तामगवानन्त स्थितोपि यदि मकटीन्तु सतीताविनिर्गिरिचितेनु यदिप प्रविशेत्तदेवान्तादितो भवेत्, तर्हि सत्यलो यन्मो सुखदिर्मायमेति, तिरस्कृतं भवति, न सन्नेनापि प्रकारे चेत्तर्हि । अत एवेकम् 'ययनाय मलादप्य वीरकन्तपीकते'ति । यथा सुकलादित्यो यदि वीरकान्ताममर्षे, स एव मन्थनादिना यद्विर्मुक्तो व्हातादिकृतेन तत्रैव काष्ठ यद्विष्ट काष्ठ आत्मकाष्ठकला वीर निर्वर्त्यति, एव यदि स्थितमानन्दपमसकस्तमपि मकटान्तामापित यावत् पुन प्रतिक्रान्ति, कावत् तत्तरूपप्राप्तिरिति भाव । ज्ञानमार्गी याया सह-पदेवायायाज कस्यापिज्ञानि ॥ ११ ॥

तनु विरहलक्षणा किमवलम्बनं वीरनमित्तत आह गुणान्तिवदि ।

गुणास्तु सङ्गराहितपाञ्चीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

मयल्लक्ष्मण राहित्वात् । अत्र स्वमूलैव पश्यमी । तेन सङ्गराहितं प्राप्य स्थिते सति गुणान्तेवास्तुकिरमाया वीरकन्तपीकते वा । तदुक्तम् 'यय 'उपलभ्य तत्तवीर'मिति । स एव वीरकाम भवति । हिक्वन्तं प्रोक्तदी ॥ १२ ॥

भावाविति ।

भगवान् फलरूपत्वाच्चात्र बाधक इच्छते ।

सात्त्विकवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

अशक्तिन् दीपने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकवेत्येति फलरूपत्वाच्चात्रविधौ मन्तीत्यर्थः । ननु युष्माकां जीवन्मुक्तलोकानि बाधस्तत्त्वोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, ताव-
त्तावाप्येति चेत् तदर्थं सात्त्विकजनकं प्रकृतान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह सा-
त्त्विकवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यसात्त्विकत्वम् । न चान्यस्य आप्तमित्यर्थः ।
तथात्र सात्त्विकं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुर्निति । यतो निरवधिबहुः प्रकृतान्ते-
ष्टो ब्रह्मज्ञानेतात्पर्यसां श्रुत्या मिलनं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिशु-
भापरिणति । प्रत्युत परोक्षजनकान्तरानेति भावकृत्यं प्रति स्वस्य शक्तिरूपेणाङ्गीकरोति ।
तच्च भगवन्निबोधन् 'न पात्तेहं निरवधेदुजा'मित्यादि । स्वस्तिपानां सात्त्विकवाक्यसद-
सैरपि नैष्टिकिद्विद्विदिति परमार्थः ॥ १३ ॥

दुर्लभोपमिति ।

दुर्लभोपं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरापिच्छेहृदेव सिध्यति,
अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

भक्तिमार्गादि निरूप्य ज्ञानमार्गिणाह ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थयुक्तराज्ञं न सिद्धिर्जन्यसत्तैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं वशादिभ्रमणतन्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कर्तुं स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापमिटत्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुखरां कलिदीपाणां प्रकलत्वादिति स्थितिः ।

विपाद्येतेष्वर्थावच्छादित्यर्थः । स द्विप्रकलत्वेऽपि द्वेकः । अविशब्दोऽत्र महोपात्तः ।
द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्तरपदमेकः । उत्तरस्य मोक्षप्राप्ते तदर्थमिति यावत् ।
यपि ज्ञानार्थेसापि मोक्षाद्वत्त्वमेव, तथापि प्रयोजनवशद्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोति
द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तुमन्यापि ज्ञानार्थेऽपि दुर्लभमिति स्यात्तेन विविधोऽपि भवति । न
भक्तिमार्गविशेषादिति । अत एव महात्माशुक्लः 'यद्वा ज्ञानमार्गो ज्ञानमार्गो प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मनः शुद्धैव' इति । व्यवहारेति निद्वयसंन्यासो विविदिपा-
संन्यास इति नूतो द्वैविध्यम् । भक्तिं निद्वयं केवलज्ञानार्थमेव या संन्यासः स दीप-
प्रकलत्वाच्च कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति । अकारणबोधोति साधनसारेण एव । यत्र हेतुः ।

यज्ञादिभ्यश्चान् । यज्ञादिकं साधनत्वेन कृत्वा इत्यर्थः । इदं तु गीतावाग् 'इन्द्र-
यज्ञाभ्युपेक्षा' इत्यादिषु स्फुटम् । यज्ञादीनां साक्षात्साधने कृत्वाभ्यादनधमत्त्वान्, तत्र
कस्ती सर्वेष्वेव न साधनसीत्यत्रमात्रकरणं यज्ञात्कृतद्वाराणां साधयेव, न मुद्राय । पूर्वोक्त-
धर्मव्यतिरेकेण वापि इत्यमेव शब्दः । अस्मिन्नादौपि कदासाधनः । अत एव भीमज्ञान-
वत्ते 'धेयः शुक्तिं भक्तिमुदत्ते' त्यादिनोक्तम् । यत्र कर्तृकरणे यथासाधः कदासम्पत्त्यर्थः ।
तस्मात् ज्ञाने न, साधनार्थे न संन्यसेत्, कस्ती साधनवत्साधनत्वात्साधककृतदोषानां
प्राप्त्यास्तुतामेव न कार्य इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ॥ १४, १५, १६३ ॥

एवं भक्तिसाधयेति दोषमाशङ्क्य समाधत्ते 'अभित्यक्तार्थे'पीति ।

अभित्यक्तार्थेपि चेदोपपत्त्या किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अभ्यारम्भे न नाशः शब्दादृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

प्राप्त्यप्यहेतोः परित्यागादृष्टाद्यः केनास्य सम्पद्येत ॥ १८ ॥

हरिरस्य न शक्नोति कर्तुं पाषां कुतोऽपरे ।

अन्यथा ज्ञानदोषात्प्राप्त्यस्त्यक्तेः पुनरुक्तः कश्चित् ॥ १९ ॥

अभ्यारम्भ इति । अभित्यक्तार्थेपि संन्यासलोपकममायेति कुते न नाशः, न
कुलोपकमपेक्षार्थं, नापि विज्ञो भवेत्, नापि प्रत्यक्षायाः । तदुक्तं मत्पता 'वेदान्तिकम-
नाशोऽस्ति प्रत्यक्षाये न विद्यते । स्वतन्त्रावस्थ धर्मस्य प्राप्तौ नदोषो भवादिति, भीमावस्थेति
'नया न वे साधन साधकः कश्चिदित्यादिना । किम्, पूर्वमेवं विधीयैः कदापिदन्वयमात्र
इत्यर्थे सर्वसम्पत्प्राप्त्यन्तस्तत्प्राप्त्यात्, अतो ज्ञानमात्रावस्थस्य न पाप्मादिरित्येत्यर्थः ।
वक्तव्यद्विगमनान्तरावस्थ तु पातः कृते भीमानवस्थे 'वेदान्तोऽस्मिन्नाश विज्ञानमात्रावस्थ-
स्य साधनार्थेपि तुल्यवृत्त्यः । नाशश्च कुत्रोक्तं परं नदं ततः पतन्त्यधोनादवमुत्पन्नदत्तव'इति ।
किम्, वक्तव्यस्य साधनदोषोऽस्तु कश्चिदप्युक्तः परितः सर्ववस्तुप्राप्ते न पापः सम्पद्यति ।
अन्तर्पक्षः सिद्धिप्राप्त्यस्तु सौष्टव्यप्राप्ते न कदाचन न इत्यर्थः । यदि तदपि विज्ञाना-
मपि तत्प्राप्ते न पापः साधनं साधनमात्रेणैव पाप्मावस्थेति न कश्चित्तु पुनरु-
क्त्यैः पुनरीकृतः, कुतः न कुतः, ननु कश्चित् न कुतः, न त्वेवं कदापिदन्वयतो न पाप-
शङ्कितोऽस्तीति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अन्यथा प्रसादः ज्ञानिनामिति ।

ज्ञानिनामपि पापमेव न भक्तं मोहयिष्यति ।

ज्ञानमात्रादः सिद्ध्यापि विज्ञानं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानमार्गस्य साधनत्वमप्येवमिति उक्त्वा साधनत्वे प्रवृत्ते न मोहं प्रापयिष्यति । इदमुक्त-
विदं वेत्तेनितिम् । ननु कर्तुमशक्त्यन्यथाकर्तुं समर्थता साधनस्य कदापिदेवमपि करणं

सादिति चेत्तत्राह आत्मप्रद इति । साक्षरूपं भवेन्मो दत्तवत्, तदधीनत्वेन सप्तित-
वान्, यथा आत्मत्वेन विप्रस्य । अत एवोक्तम् श्रोत्रो यथांस्तनुभूयां कित वन्तुरालेति ।
अपिशब्दश्चैवमयान्तामयकानामविषय । चक्षरात् साक्ष मत्तस्य कृत्यनुभूतुलमपि ।
एतावतापि मोहकत्वे न किमित्यवगमस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा ब्रह्मते स्वार्थादिति मे निश्चयता मतिः ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा निराहनुक्तार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इयं
प्रकरणान्तर्गता सत्त्वा प्रकाशान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् सन्निवेशार्थेति सम्बन्धित इति
स्वार्थो भगवान् तस्माद्ब्रह्मते ह्ये प्रतीत्यर्थः । इति स्वप्रकारिका मे विधित्वा
बुद्धिरित्यर्थः । यथा, स्वार्थात् समीहितफलदित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन ब्रह्ममेव विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्त्याचन्यथा भक्तितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते चेत्, कृष्णस्य प्रसादोन्नेषां वक्ष्यादिति वा । तत्प्रसाद-
कृत एवेति वा । ईदृशेन ब्रह्ममेव भक्त्या भक्तिमार्गे संन्यासस्य वर्यं चरतीति स्वीक-
रणम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो विधितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्यैव विद्यावा-
न्यथा अन्येन ज्ञानमार्गादुक्तप्रकारेण स्वीकरणे पक्षितमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

स्वार्थापरित्यागोऽन्यथाभित्यागवद् ॥

कृतवान् भक्तिप्रसन्नचित्तो सुविचारवान् ॥ १ ॥

कर्त्तव्या मनसा वाचा शब्दैर्दूरिष्येति ॥

विश्लेषेण तदीयोरिति साम्यया कृतुमर्हति ॥ २ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रमन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ

संन्यासनिर्णयविचरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबहुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

वत्सदाभ्यस्तास्यादविस्तृष्टान्वसुखा गुरु ।

रमन्ते तद्गुणलभेसा वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलधुनिसृजितुत्पादन्यायविप्रकाशसम्पत्त्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तदापि भगवानन्दानुभव श्रीगोपीजननन्दभक्त । तयाहि । 'रखो मै त' इत्यादिभ्यो कण्ठान् रसकृत । रस्य गृहण । स च सर्वोपनिप्रदीपमेवेति द्विविध । तेन तदुभयभाषात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलावल्ली प्रवेष्टे इति सम्भवति । तत्र पूर्वदृष्टान्तानु सर्वोपनिप्रदीपक विप्रदीपकावाप्तुम एव परमफलम् । सर्वपरित्याग विना लीलिकाश्रय सत्यादव्यक्तया विप्रदीपकानुभवाश्रमभावात् । स च परित्याग करिष्यन् मार्गं कर्तव्य , कदा वा कर्तव्य , कथं वा कर्तव्य , किमर्थं वा कर्तव्य , करणानन्तर च तस्य कीदृशी दक्षेति तत्परिनिर्णयने विचारप्रयोजनमनुबन्त एवाचार्य परित्यागविचार त्रिदिशाले पञ्चाक्षापरिपूर्वधर्ममिति ।

पञ्चाक्षापरिपूर्वधर्मं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गहितये प्रोक्तो भक्तो ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

अस्मिन् ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्य , तयापि मिश्रदृष्टाचारमेव , न तु साधन-दृष्टाभावात् । साधनदृष्ट्यामलन्तरीयव्यक्त्यामेव परित्यागाविर्भावान्न चापस्त्रित्यजसन्नेन कुतोपि परित्याग पथावाप्य भवति । एतान्निरात्म्यज्ञानाभावे भगवद्दीपा अत्र पूर्वमेव परित्याग सर्वोपनी राज्य पथावाप्य भवेत्तु , तथा तान् दृष्ट्वा स्वधर्मपथावका भवेत्तु , तथा चान्येषां सूत्रं च पथावाप्यज्ञानविनिर्णयं परित्यागो निवार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलध्वनीतत्वा भगवत्सात्त्विकं भगवद्दृष्ट्या साधारण्यं मूल्येकेन्द्राकार । सा भगवत्सात्त्विकसाधार्यमेव निवार्य शक्यमेव निरुते । तत्र यथा सर्वविकल्पानुसक्तान्ताश्च अत्यस्तथा निरन्तर विप्रदीपभावात् त्वमर्थं परित्यागोति पूर्वमेव कथनीय । तथा चैतावत्कालं दृष्ट्वा नित्यं कुल इति य पथावाप्य तस्य निवृत्त्यं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमद्विष्ट

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमोषीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

एतद्व्याख्यानसंसारनिरस्तान्धशुद्धा मुहुः ।

एतन्ते मद्भाषाभाषेस्व पण्डे मौकुलेभरम् ॥ १ ॥

अथ सत्सङ्गधुनिस्तुतिपुरावण्यायादिवशादसम्भवात् भगवदानन्दलुप्तम एव सर्वेषां परमकृतम् । तत्रापि भगवानन्दलुप्तम श्रीमोषीजनवल्लभा । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो मयावन् रसकृत । रसस्य शुभार । स च समीपविप्रयोगवेदेन द्विविधः । तेन तदुभयभाषास्तद्वशापदानन्दलुप्तम एव परमकृतम् । स च लीलाष्टयी त्रयेणे सति सम्भवति । ता पूर्वंदशायां तु समीपावस्थात् सर्वपरित्यागपूर्वक विप्रयोगवशादनुभव एव परमकृतम् । सर्वपरित्यागं विना लीलावशात् सत्सङ्गरूपमज्ञाया विप्रयोगलुप्तमसम्भवात् । स च परि त्याग कस्मिन् मार्गे कर्तव्य , कदा वा कर्तव्य , क्व वा कर्तव्य , किमर्थं वा कर्तव्य , कर्णानन्तर च तस्य कीदृशी दशेतेतलार्थनिर्धारणं विचारप्रयोजनमनुवदन्ना एवाचार्यो परित्यागविचार इतिवाक्ये पश्चात्तापमिदुत्तरार्थमिति ।

पश्चात्तापमिदुत्तरार्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तो ज्ञाने विहीनतः ॥ १ ॥

लीलागौ इत्यमार्गे च परित्यागं कर्तव्य , तत्रापि निरुद्धज्ञापानेन , ननु साधन द्वावयम् । साधनद्वयव्यवस्थान्तर्गतसम्भवात्तेन परित्यागनिर्णहारं पारमिदुत्तरमस्तेन कृतोनि परित्याग इत्याचार्यस्य भवति । कृतान्तावस्थावज्ज्ञानभावे भगवदीया इति पूर्वमेव परित्याग सर्वोपो भवतः पश्चात्तापं चेत्तु , तथा तत्र द्वाव सवमविपक्षयस्त चेत्तु , तथा चान्येषां स्वस्त च इत्याचार्यज्ञानानिर्णयार्थं परित्यागो निश्चयस्त इत्यर्थः । यस्तु । सुकलदैकजीवायां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञायां आचार्याणां सुतेऽज्ञातार । सा भगवत्प्राप्तिमाचार्यैर्बोक्तवान् प्राकृत्येन निषेधे । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तानुसन्धमाया व्यवहृतया निरन्तर विप्रयोगमात्रं दुष्टवार्थं परित्यागोनि चर्तमेव कर्तव्यम् । तथा पैराव्यवस्तु बुद्धा विलम्बं मुक्त इति च पश्चात्तापं तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते इत्यर्थः । अथवा । पश्चात्तापेव पूर्वमद्विनि

विनियोगमाधानुभवः, तदन्तरमस्तीतिरुद्धेहेन संयोगमाधानुभवः । तथा च पश्चात् प्रतिशाम-
नन्तरं तापस्य निवृत्तिश्च तापनिवृत्तिः, तपोनिमित्तं प्रतिशामो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभय-
प्रकारकमप्यनन्तरानुसंगे आत्मार्थोपपन्न एव हेतुमिति सूचितम् । यत् 'विरहातुल्यैक्यवैषम्य-
लाभोच्छेदक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदप्युक्तानविशङ्कया समस्तान् इति परिरुद्धार्थः ।
ननु प्रतिशामः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गोहितये प्रोक्त इति ।
विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति त्यक्तोपे पश्यी । तथा च
भक्तौ ज्ञाने च विशेषे सिद्धदशां ज्ञाप्य मार्गोहितये भक्तिमार्गे ज्ञाप्यमार्गे च स परि-
शामः प्रसङ्गे उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गे साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनायां साधनदशायां भक्तिमार्गे
च प्रतिशामः पश्चात्तापवेति तन्निवृत्त्यर्थं प्रतिशामस्य विचारः कियते । विशेषतः विशेषे
मात्रे । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुकर्मसु प्रतिशामः कर्तव्य इति आहूति-
मात्रेणैव विशेष इति ज्ञानमार्गे एव विशेषतः इत्यपेक्षेति । निष्कामतया कर्मफलं पितृ-
पुत्रसम्पत्, कर्ममार्गे पत्नी मित्र च यद्वाविरुद्धमसम्भवीति न प्रतिशामः सम्भवति । पत्नी-
कादियेति निष्कामतया कर्मफलं संन्यास एवेति चेत् सोऽपि कस्मै देशविरुद्धसमाचार-
सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आधुनिकतुर्धनार्थं संन्यास इति वन्तं
कस्मिन्नपि स्ते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे निरति मित्रा न कर्तव्यः प्रतिशामः
किन्तु विरक्तानेवेति भक्त्यर्थानसा वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गे न परि-
शामः, सुतरां कलिकालतः ॥ २ ॥

अवघादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यत्वेनैव नेष्यते ।

सहायसहायसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणम् ॥ ३ ॥

अभिमानासिधयोगाच्च तदुन्मेष विरोधतः ।

गृहादेर्वायकार्येण साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अनेपि तादृशेरेण सङ्को भवति नान्यथा ।

सर्वं च विपयकान्तः पापघ्नी स्यात् कालतः ॥ ५ ॥

विपयकान्तदेशानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विरहातुल्यवैषम्यं तु परिरुद्धायाः प्रशङ्कते ।

स्वीयपदनिवृत्त्यर्थं चेत् सोऽत्र न बान्यथा ॥ ७ ॥

अवघादीनां निवृत्त्यव्यवस्था सिद्धयर्थं यदि स नेष्यते साधोद्योगकलाग्रय-

दीपः सङ्ग्रामलोपां संगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीनां साधनं च एवम्, साधन-
दशायां अभिमानश्च विपक्षे । 'सात्त्विकमोक्षी'ति शब्दात् साधनदशायां पूर्वेविरक्त्यभावा-
द्देशादिरूपमन्त्रादियोगाद्वर्णाश्रमपर्यायं कर्तव्या एव । सन्त्यासर्पणं, सद् श्रवणादीनां निरो-
धोऽस्ति । एते मग्नदीपे, समामासत्वात् कार्पण्यं इति चेतनादुपेक्षादेरिति । पृथग्योगे
कदाचित्कुर्यात्साधन-साधितावस्था कार्पण्यं इति चेतनादुःस्वप्नं चेति । विपरीतता करन
आवश्यमेव सत्कार्या तत्त्वोपचय एव न भवतीति यावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

जीविद्विधन्यमोषिकाः प्रोक्ता गुरुवः साधनं च तत् ।

भायो भावनायां सिद्धः साधनं नान्यदिच्छते ॥ ८ ॥

यिकृतत्वं तथास्यास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तत्त्वैव यत्तमानस्य पापकाः ॥ ९ ॥

सख्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विरोपितात् ।

भावना साधनं यत्र कलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सख्यलोकादौ निष्ठान्येन न संशयः ।

बहिर्ध्वेत्यकटः स्वात्मा यद्विषयविशेषादि ॥ ११ ॥

तद्वैय सख्यलोकादौ यन्मो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुणवित्पात्रीयनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

जीविद्विधन्यादयमिति भावनीयं भार विना एवमुर्ध्वो भाष्यनयेति । ज्ञानं
मग्नज्ञानम्, गुणं सत्त्वशब्दश्च, मग्नविच्छेदा परि भवन्ति तदा ते पापकाः । यत्र भावना
साधनं तत्र भावनागुरुत्वं कृतम् । ननु तादृशः ज्ञानं गुणाश्च कथं पापका मयेमुच्छनादु-
र्भावना साधनं यमेति । तथा च पापका भावना तादृशत्वं कृतम् । तेन पापकत्वेन
तत्तीक्षाभावना तादृशत्वं कृतं, यत्तद् अज्ञानेन सर्वत्र मग्नभावना तादृशत्वं
कृतं कृतं, यत्तद् अज्ञानादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावना तादृशत्वं कृतं । तथा च
भावभावनायां साधारण्यात् कलेति तथात्वम् । पापकत्वं विदुष्यन्ति तादृश इति ।
मग्नभावनादिगुरुत्वं अख्यलोकादौ च सिद्ध्यतीत्यर्थः । यत्तु मग्नभावनायां हि साहित्यं
आहुर्महिम्नि । यदि यद्दि प्रकाश एव न साधयति च यथाद्विषयत्वं प्रविशेत्तदानीं
न प्रकाशयति । यदि कृतेनान्यदि साधयति ते पापका मयेषु, यन्तु तादृशानां पूर्वमेव
गुणेष्वामयेर्गैवत्वाद्गुणा केनच जीवभाव भवन्ति, न तु कल्पकाः । यद्वा । तादृशानां
सर्वत्रागादयै, कैमिदृशं न सद्, प्रभुत्विकयोरे च जीवत्वमवश्यम् । यदि च मग्नदीपे,
एतद् साधयति तादृशमिति जीवनं स्वात्, मग्नत्वात् सात्त्विकमपि जीवनमन्येषामुच्छायां
सम्पादनीयं भवति । तदा मग्नलोका जीवनाय प्रकृतेरिति गुणेषु केन मनो बलितमित्य-

योजयति । नन्वेवं गुणेष्वपि कथमादाहृत्यन्तविधौ न जीवनं न सात्, तथा च जीवनविषा-
कत्वेन मगधान् पापकलोनायितः सादित्याशं वादुर्मगधानिति ।

भगवान् फलरूपस्याज्ञात्र पापक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयास्तुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३१ ॥

जीवनविषाकत्वेति प्रतिधुनं फलरूपमज्ञानात्तुमानकत्वात् पापकः । न हि तदप-
राधतो जीवनवियममिति । यथा । ननु यदि भगवांसोऽयं मनो गुणेषु किञ्चित्प्रयोजनार्थ-
दोषोपरं गुणेष्वपि कथमप्यभयपदमस्य विषातः सात्, तथा च मानविषातपत्वेन भगवान्
पापकः सादित्याशं वादुः भगवानिति । यदि भगवान् भावं निहन्तुं गुणेषु तेषां मनः
संदोलयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावत् तेषां जीवनं भवति तत्र देव तेषां मनो
गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वपि कथमपि जययति । कुतः । फलरूपत्वात् । न हि फलं पापकं
भवति । ननु भगवान् स्वतोन्मद्यत् तेषां स्वास्थ्यवाक्येन कथं न सम्पद्यति, येन
स्वस्वतया जीवनं ज्ञेयं, तथातुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । निम्नयोगार्थं पापित्वा
जीवनसम्पादनमनुभूयते यतः । न हीतोऽपि जीवनवियममिति, अहं तस्य । तथा कथं
पापकस्य । न दोषकथनं पापं भगवताम्येन वा कर्तुं शक्यम् । यद्यपि च 'दुरित-
न हनोती'ति । शक्यार्थे तस्यसात् । ननु जयदयातुः कथं तेषां जीवने उभेसां करोति,
तथातुः दयास्तुति । न दोषकथनापसम्पादकस्य दयास्तुता विरुध्यते ॥ १३, १३१ ॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराहं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यथादिश्वज्यान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कदा स संन्यासः पश्चात्तापस्य नान्यथा ।

पापविहृत्यं भवेद्यापि तत्तान्त्रिकेन न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कतिश्चोपायां प्रयत्नवादिनि विद्यतम् ॥ १६१ ॥

ज्ञानमार्गे निरिदिपादिशब्देन द्विविधोऽपि संन्यासो विचारितः । तद्व्यापारद्वयो-
नार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानमिति यः संन्यासः स एकः, निरिदिपाकं यत इति यावत् ।
उत्तराहं ज्ञानार्थेष्टया उत्तरं जगिषे गुणैर्हं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति
यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गविषयार्थे यद्व्यवर्तमानं, न लोकन्यासः । 'यद्व्यापारं ज्ञानमाम्ना'
इति भगवदात्म्यात् । लोकोर्ध्वे निरिदिपाकं यतः गुणान्ते कर्तव्यं, न तु फलवित्याहः
ज्ञानमिति होकेन । तयो रजय विद्वत् केवलतान्त्रिकः सन् निष्कामतया यदि

यज्जादिकं करोति तदा ज्ञानसुखयते । संन्यासे च सामान्यमावापद्मादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्जादिकं सामान्यत्वेन ध्रुवते । सर्वं विज्ञाप्य वनं वत्सा योगादिना ज्ञानसाधनं च कर्त्तुं न सम्भवति । विज्ञानं पादुकेभ्यस्तान्त्राकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तध्यानना-
सैर्योमावापोगादिकमेव न सिध्यति कतः । अतो निविदिषादशायां संन्यासः कर्त्तुं पथा-
साधनैव भवति, न तु सन्तोषयोगैर्यः । किञ्च । विपरीतयोगे सति ततोधिकं शपथित्वमपि
भवेदित्यपिगम्यः । यकाराद्यन्वयैरुक्ते नरकव्य । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदि-
षादशायां न संभवते । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्णम् । युगा-
न्तो सम्भवेदपि, कर्त्तुं तु दोषाव्यापतिप्रचलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति ।
स्वित्तं पर्यवस्येत् ॥ १४, १५, १६, १६३ ॥

ननु यदि कर्त्तुं दोषाः प्रकला एव, तदा भक्तियोगेति कथं कलशिद्धिरित्याशंस्य
भक्तिमार्गे दोषलेशोति नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेति चेदोपास्तदा किं कार्यस्तुच्यते ॥ १७ ॥

अप्रारब्धे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

आसन्नोद्देशोः परित्यागाद्व्याघः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

दृष्टिद्वयं न जाकोति कर्त्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालाका स्तन्यैः पुपुषुः कथित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि यावदेव न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमपि मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुत्पत्त्यकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा प्रदयते स्वार्थोदिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यदि भक्तिमार्गेति दोषप्रभावना तदा कर्त्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोऽपि दोषो
नास्तीति शास्त्रास्मेकवचनम् । तमेव दोषाभावप्रभवत्वाद् अप्रारब्ध इति । आसन्नं
भक्तिमार्गे आत्मे प्रवेक्ष्यात् एव नाशो न कश्चि । यदि भक्तियोगेति दोषाः स्युः, तदा
कदाचिन्नापोति स्यात्, न लेपवत्, तेन दोषप्रभावमेव नास्ति । ननु भक्तिमार्गावाप्तमपि
भक्तिकान्तदोषादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वज्ञाना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्ब-
न्धातीकारो) नगपदार्थिकरो हि नितः । नहि भक्तिकान्तदोषा कदाचिदप्यनर्होक्तेति । तेन
यत्र भक्तिदोषा अस्ति दृश्यन्ते, तज्जति कालेव दोषान्तसारं भवन्तु कदा सम्भारपक्षेव ।
अतो यथा यथा भवन्तु तेषां हृदि भक्तिमार्गमान्यति, तथा तथा दोषप्रभवः । अतो कदरो
भक्तिमार्गजनेकलक्ष्य एव दोषप्रभवः, तेन भक्तिमार्गे दोषाभावसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा
हृदिदिदे एवपरं क्षुते वा यत्भक्तिमार्गे भक्तिकान्ति नाशो जात इति । तेन दृष्टान्त-

सम्पदेतिस्मादस्येदमुक्तम् । यथा । ज्ञानिनो निविशुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्मना-
चतुरेवाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो यतः । अमेति कदापि मोहं न वनयतीति भविष्य-
त्यर्थः । ननु कथं ज्ञात्ते भववाञ्छिव मोहविष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैपिरातुं
समीह्य इति चेत्, तदादुरारम्भमद इति । यः स्वात्मानमपि प्रपश्यति तस्य सर्व-
कलदाने कः सङ्कोचः । ते न सहोदारात् सर्वस्यपि ददाति, न तु मोहयति ।
मिथश्च अतः प्रीतिकर्तुम्याः सर्वसदानुसंधिवमेव । परमकृत्यत्वात् निर्मयमाहुस्तस्मा-
दिति । उक्तप्रकारेण सिद्धरक्षां प्राप्य स्वार्थात् स्वयमोननात् ॥ १७-१९ ॥

उपसंहरामि इतीति ।

इति कृष्णप्रस्तादेन ब्रह्मभवेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्ष्याद्यन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णः श्रीमोकुले प्रवृत्तः । नहि तस्मैसाधं निर्मलज्ञापतत्वं ज्ञातुं शक्यम् ।
अत एव तद्ब्रह्मभवं स्वस्मिन् नम्रिषातुः । संन्यासवरणं संन्यासाद्वीकृतम् । भक्ष्ये
भक्षित्वाये । यद्यपि ज्ञानमार्गेति संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतादृशवारं मनसागतौ तस्य
दुरुक्तार्थेभ्यो गमना जायते । अन्यथा सिद्धरक्षां विना यतः पूर्वस्थितभावाद्
अच्युतिः ॥ २२ ॥

अन्यथा यः प्रभुं दीक्ष्य मोकुलेत्यवसृजिष्य ।

प्रीतोनिन्दसुतेष्वेव कृत्वा संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥

इति श्रीमोक्षार्थन्यायविरचणकमलैकतानश्रीमोकुलोत्सव-
विरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनचक्षुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

वाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमङ्गलम् ।

इति वन्दारणत्वं वेति ततः प्रादुर्भवसत्त्वम् ॥ १ ॥

मुदा तत् श्रीमदाचार्यवन्दनं दैन्यदा नम् ।

मुहुः प्रमथ्य संन्यासविर्गो विवर्तिष्यते ॥ २ ॥

तत्रादि । वाचयेन यत् सकलं बुद्धिगार्हपत्यसि तत् ।

तापद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ॥ ३ ॥

इति तत्पररूपनिष्ठानामाशयेन कृते सति ।

तस्मिन् स्त्रीषो भवेन्मार्गशुद्धो हीति मुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

तदाविष्टं स्वकीयस्य मार्गे स्थितिं वेत्ति ।

पश्चात्ततो महान् श्रीमदाचार्यपामपूतः ॥ ५ ॥

तन्निवृत्त्यर्थमेतत्त्र विचारोपेक्षितस्ततः ।

हेतुसाधनद्वयैव कृततम स्वरूपः ॥

अपिभारादपि परस्तादृशः स निरूप्यते ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं समाप्तोद्गीकुलस्य समाश्रयिष्यन्ने प्रयुक्तस्य भक्तिव्यवहारार्थेवान्तरासक्ति-
विच्छेदार्थं श्रीमदाचार्यः परित्यागनिषादेवकर्म कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विषये मोक्षो भवत्येव ज्ञाने विद्योपलः ॥ १ ॥

पूर्वोद्गीकुलस्यव्याप्तनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्पक्षम् । विचारयेवाहुः स इति ।

परित्यागः, मार्गद्विषये, भवत्येव बुद्धिगार्हपत्यं ज्ञाने च विद्योपलः कार्यवत्येव
मोक्षो, नान्यत्पक्षे ॥ १ ॥

तत्तु यथा भक्तिं ज्ञानं च मार्गो तथा कर्मणि मार्ग इति तत्राति स कार्यव्य इति
चेत्, तत्र निषेधवाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादिप्रारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'वायवीयमविदोमे शत्रुपादि'ति श्रुतेः
अहर्निशं कर्मविधिकृतेत्येवावश्यकत्वात् परित्यागानन्तर एव । यद्यप्याद्युपपन्नस्य भाग्यशरी-
याश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिवत्तेन, तथापि सुतरां कलिकालदेगेन रोगादिवरात्प्रति-
पीडया संन्यासप्रवर्णननिर्वाहः कर्तव्यत्व इति निरसीतकालमत्तत्वात् कर्तव्य इति
भावः । अतः कालमात्रं कर्मयोगः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्त्यात् तत्र च शौचयोगित्यात्
आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारत्वा विचारकत्वम्, तत्र कदा, किमर्थं, कर्तव्य-
मित्यादिरूपविषयः ॥ २ ॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे निनिदिष्टाविद्वद्देवेन परित्यागस्य द्वै-
व्यम्, तथा भक्तिमार्गेति साधनसिद्धयर्थे कष्टसिद्धयर्थे च कर्तव्यमेव दाते तत् द्वैव्यं
सम्पत्तीति, तत्र अथवादिनवधानसिद्धसाधनार्थं तत्काले साधनस्य यद्व्यवधानिहं वि-
ध्यतीति तन्निवेधनाहः ।

अथवादिमसिद्धयर्थे कर्तव्यः स न मेच्यते ।

सहायसहस्राभ्यावाहसाधनानां च रक्षणमात्रं ॥ ३ ॥

अभिमानाशियोगाद्य तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्नौषकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेषु तादृशीरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

कर्तव्यं न विषयाकालतः पापघटी स्यात्सु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाकालतदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भवती नैव त्यागः सुखायहः ॥ ६ ॥

परित्यागं कुत्वा अथवादीन्साधनानीति यदि कर्तव्यत्वादा स परित्यागो मेच्यते
वादीतिवत्ते, इत्याशयमात्रात् । तत्र देवताहः । अथवादीनां सहायसहस्राभ्यावाह-
साधनानीतिनादिकर्तव्यं सम्यग्दर्शनात् अत्र मार्गैक्यरूपज्ञानात् गृहमित्या एव । तेषां
सङ्गेन साधनत्वम्, नान्यथा । अत्र तु व्याख्यानम् 'विद्यया निरुद्धः पान्त' इत्यादिवाक्यादे-
कचित्तेनेव स्मिन्नेवावश्यकत्वात् कष्टज्ञानमात्रेणैव कृत्वा अथवादिशिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्य-
मेवेति भावः । किम्, कदाचित्कालदेति देवं गृहसत्त्वेन साक्षात्कृत्यज्ञानात् साधनः वेदु
प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते सत्त्वानि किमपि न कल्पयन्ति, वास्तवे मार्गैक्यरूपज्ञानात्,
अथ तु मार्गाभ्युदय इत्यवश्यदर्प कर्तव्यं न कर्तव्य इत्यर्थः । यत्र साधनार्थसाधनार्थे साध-
नसत्त्वेन यद्व्यवधानस्य अथेव, न तु स्वार्थज्ञानमपि । किम्, साधनानां च रक्षा-

माहुः । इदं निषपाद्यन्तो मयेकदा निषपाद्यन्तानि, देह इत्युक्तश्रुतम्, किन्तु, देह-
प्रायेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं मयेत्, प्रवेशस्यावकाश एव नास्ति,
एदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि समयप्रायेणो न मयेदिति सर्वसाहचर्येण
भवतीति मत्तः । अतः सात्वाद्यं पुष्टिर्भावे पुष्टिगर्भायित्वा साधने भवती
साधनवक्तृमिद्वयै त्यागः सुखायतो न भवति, अनिष्टार्थमज्ञात् । अतः स
सर्वथा न कर्तव्य इति द्योतितम् ॥ ३-६ ॥

ननु तर्हि कदा शिष्यं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनरूपमैवापि-
कारितं पादुः ।

विरहात्तुमकार्षं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयवन्निष्कल्पार्थं शेषः सोऽयं न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौपिठिनो मोषिकाः मोक्षो गुरवः साधनं न तत् ।

भावो भावमया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विमलस्यं तथास्तस्यै प्रकृतिः प्रकृतिं न हि ।

ज्ञानं गुणाच्च तस्यैव कर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विदोषितात् ।

भावना साधनं यच्च कलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादीं लिङ्गमन्त्रेण न संशयः ।

यहियेतमकटः स्यात्मा यहियत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदेव सकलो वन्धो नाशयेति न चान्यथा ।

गुणस्तु सङ्गरादित्यासीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपवाञ्छाया बाधका इत्यपि ।

सास्थ्यावाक्यं न कर्तव्यं दयात्तुर्न विदुष्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः येष्वा सिध्यति नान्यथा ॥ १३३ ॥

विरहात्तुमकार्षं परित्यागोऽभिन्नायै प्रशस्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः ।
अथैवमुक्तम् । समाख्येयसाद्गीतसदस्य श्रीकृष्णसेवेन कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः ।
तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । यत्र केन साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी
सा सेवा फलरूपा, तत्प्राप्त्यर्थं तदुपविद्यमानेनोक्तम् । एवं मुनि मार्गनिष्ठया सर्व-
स्मर्तृशून्येन सर्वैर्वा गतुनिष्करीणां भगवत्सेव निमित्तमकटत्वेन शेषकाले कलकली मेन
वाप्यते । कथयेदुक्तम् । 'छेदं स्थित्वा साधयेत्' इत्यारम्भ 'कतः मेमे'त्युक्तं पतितवर्धन्याम्,
ये चेदिति स्थानस्य निवासीत्वेन बाधकत्वात् धाम्यते वा सात्तुसंन्यासान्नायेन पुनर्विवादीय-

सहेति तस्य न नाश इति तस्यैव 'पादद्वयेन तस्य नाशो न क्षायी'त्युक्तम् । एवं सति तस्य
 लावस्य पूर्वपुष्टिमाशयनेनापिच्छती, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रयुक्तान्तोपेन चिरहृ-
 त्तुम्यथ एवेति सुस्पष्टं तथा । ननु इदं परिच्छाम एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं
 कार्यः, तस्य हेतुमाहुः स्वीयेति । सीमा गृहसम्पत्तिनिराकरणमात्रो यो पन्थः तन्निवृत्त्यर्थं
 वेद्यः । अन्वया संन्यासाश्रयो पदार्थापर्यं न न्यसीत्यर्थः । निजाधीनमिच्छतस्य माय-
 पातकत्वात् । तदुक्तं फलमकरने 'अत्राद्यं कल्पमृतिं नान्यसमर्थ'मित्यत्र । 'यथा व्यापारो
 देहाभिगामी'ति । ननु तस्यापि भक्तिमार्गीयभावाद्योपायमपि निहितत्वात् गुरुपदेशं निजा कर्म
 तत्तिष्ठितित्वाद्येव गुरुतिष्ठत्यपत्तिः । यौपिठन्य कर्तितनन्तगुणवर्णनेनातन्तस्यरूपा-
 सत्तया तत्काशमेव सर्वस्वमिच्छतवान्, पुनस्तद्विरोधेन विवक्तुः सन् तदादिष्वपि प्रथ-
 मे । तयाश्चापि स्वरूपसंवाचकमेव त्रेधासत्तयनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावादपक्षेण एव स्थाप-
 कर्तव्य इति साम्येन स गुरुकः । अत्रे गुरवो गोपिकाः । यथा पूर्वगण्यासक्तौ
 कलां पेयुनादभ्यपन्नानन्तरं त्राये कृते प्रयुक्तद्वयसंज्ञासम्भवत् । अत्रे पुनरन्तराष्टकि-
 राज्ञीर्यै निरहासुनयोति ज्ञातः, येन 'तन्मनस्कासदात्मना नात्मावातापि सस्तरु-'
 इत्यादि विकलत्वासात्स्व्यादिरुक्तावसात्स्व्याधीदिति साम्येन ज्ञातां च गुरुत्वं निरु-
 त्तिम् । एवं सति तद्विच्छ तस्य कृते एतस्यापि कष्टं वेत्स्यतीति भावः । ननु
 यथा 'यदहरेव तिलोत्तरहरेण प्रमथे'दिति श्रुतं ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्,
 तस्यापि किं साधनम्, तदाहुः साधनं चेति । साधनया सिद्धो यो भावः
 तत्साधनम् । पूर्वमपि भावो भाष्ये, परं कृतिन इति । तात्पर्यं साधनत्वं न, भावस्य-
 वन्तरं 'नमयता सद् संलाप' इत्याद्युक्तपकारकयनोरभात्मकभावनया सिद्धिं शक्नो-
 यः पूर्वः पुष्टिमार्गीयो कृते भावः तत्साधनम् । न अन्यदिति । अतिरिक्तं
 साधनं नेष्यते । साधनसत्ताभावाभावेतिह इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतरेव, न
 ज्ञानसाधनम् । यतो यमनलक्ष्यरूपव्यतिरिक्तं सर्वनाशपिरीति भक्तिवर्तिन्यां 'हेताद्राग-
 निनाशः स्वा'दित्यादिना तथा स्पष्टीकृतम् । ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येन त्राये कृते विन्या-
 यमिच्छाभावात् हेतुनिद्रियः प्रयुक्तपर्मवदित्वा विनादिसत्त्वस्य च भवति, प्रकृते
 त्यागादारम्य प्रतिदिनं तथा भावये वैकल्यमप्यस्यमेव सक्तलेन्द्रियेषु वर्धते इति
 प्राकृतविनयवर्धनमेव तस्यो, तत्कर्म फलतिष्ठितित्वाद्येव तदन्तःसत्त्वमाहुः । याद्यानु-
 सन्तानवद्विच्छत्यर्थकमन्तःसत्त्वसत्त्वमुपराजानाधिकरणवेष्टितं यत्तत्कलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्,
 यद्विरपेक्षया निर्वीतान्तार्मावरूपाः कल्योक्तेष्वर्थं तेषां भावसत्त्वमित्यर्थः । तथा यतिः निय-
 मज्ञाभावनवित्ताली सक्तलेन्द्रियाणां सात्त्विकभावोक्तस्यस्यम् । एतदुपपत्तिं निप्रयोगभावस्य
 प्रकृतिः साहजिकी वर्धते । यथा ज्ञानमार्गे वैराग्यभावात् सात्त्विकं तस्य गृहीतः, तथा
 पुष्टिमार्गे तद्विरपेक्षवर्धनं तत्कलस्य गृहीतः । अनेन वास्तव्यं निवृत्तत्वासात्स्व्यादि-

कृत्तः श्रुतिः न सिध्यति, तत्रत्यर्पन्तं तत्रायस्यापि न पूर्वत्वमिति क्षुभितं भवति । अत्र
एव महाप्रानितारं पुनर्नीशमाशयेन प्रपन्नायैव उक्तम् 'आपत्ती'मिति भक्तिवर्तिन्याम् । ननु
नहि विषयसम्बन्धितमायात्रमित्याशङ्क्य भक्तिसाधुर्भवति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविपा-
रकम् तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । नयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्,
रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रदोषभेदेन, इति स्वरूपमपि उपा, यत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं
भवति । निवर्त्येति आभासकत्वात् यद्यदिन्द्रियेभ्योऽस्मिन् सदन्तरेव रसयोगं करोति । यान्तु
साधुत्वेन स्थितत्वाददर्शने च तस्य जनयति, इति तद्वनिततीक्ष्णभावमात्रेणया पूर्वोक्त-
प्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरत्वेन निकटत्वं बहिः प्रतीयते । दर्शनाभावे-
नाप्यात्म्यं चेत्तुमयधर्मस्य रसात्मकमप्यस्तस्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वादौक्तिकानन्दरूपत्व-
मेव । न तु शास्त्रात्ममिति शुद्धं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा निकटत्वमस्तत्सत्यं
स्याचया यथा कलविलम्बाया इति सूच्यते । कलत्रवृत्तिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे
परित्यागानन्तरं सफलपर्यायस्त्वस्य सर्वं ज्ञानं गुणाय नगवद्भवेत्सात्म्यानुभवेन साधकसाध्या
प्राकृतेति तेषां साधकत्वमार्गस्य साधकत्वस्यैव सम्भावना, तस्युक्तं साधकत्वमित्याहुः
ज्ञानमिति । एवं धर्माधानस्य निकटत्वात्सात्म्यरूपमभावात् ज्ञानं बहिर्लुप्तसन्धानेन
कदाप्यस्तुत्यो सर्वत्रुत्ता नगवद्भवेत्साधकसाध्या कदापिचक्षुःश्रोत्रेण व्यभिचारिभारवा
पैविभ्याम् इति स्फुरति, यदा मनसादवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणशेषः ।
तथा तद्वनितवर्तिविदमि सात्म्ये फले आधका एव, न तु साधकाः । किम्, ये हीलशुणाः
पूर्वं भावयोग्ये साधकाः यज्ञासा एव शुभाः साम्प्रतमेवास्तवस्यात्मा जीवनसम्पादकत्वेन
आधका भवन्ति । एतेन दिग्दशानुभवस्य पूर्णत्वेन वातलात् जीवनसितोः प्रयोजनाभावात् ।
मत्तः परं गुरुर्हीदीनां दशम्येवावस्था फलसाधिवेति तेषां साधकत्वमुक्तमिति ज्ञानितम् । एवं
सति हीलहीनां धर्मरूपत्वेन साधकत्वकमनात् केवलधर्मिस्तुक्तिरेव फलसाधिवेत्त्यपि ज्ञानितं
भवति । ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानसुखमनःसात्म्यादीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेति कर्म
साधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । संन्यासेन
विशेषितत्वात् सम्यक् साधितात् वाक्तात् प्रथमं सात्यस्योके स्थितिर्भवति । पश्चाद्व्याप्य
सह मुक्तिरुपैति ज्ञानानन्तरमेव सत्तालीकस्थितेः कथमाद्यन मनःसात्म्यगुणादीनामेव
साधकत्वम्, उक्तमिदमेव ज्ञानसिद्धीभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य
साधनं फलमपि चोक्तम् । प्रकृते 'नगवत्ता सह संशय'इत्याहुःकर्मकारकमज्ञातात्सात्म्य-
साधन्यभावेन साधनम् । उक्तं च उत्तमसम्बन्धित्वेन सात्म्यसम्भावने न सात्म्यमेव
फलसाधकम्, नो केत् फलमेव न भवेत् । यदापि याप्यो पूर्वोक्तप्रकारिकान्ताशङ्कया सात्म्येन
सर्वेन्द्रियास्तावं बहिर्लुप्तमात्मनो फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गसाधन्यमेव फलस्योके
स्थितिः, पश्चादन्तेन केवलमात्मत्वमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किम्,

कारणवशात् । सासंध्यकारकत्वेन फलफलमिति न श्येति निरोधः । अत एव शून्यं गुणामेति पूर्वं बाधकत्वमनुना गुणान्तरित्वमेव साधकत्वं चोक्तम् । एतेन मनवतोषि बाधकवशात् निरु-
 नितः । एवं गुणानामवसाधमेवेन बाधकत्वसाधकत्वान्निहन्नात् भगवतो बाधकत्वामात्रं निरु-
 प्यातव्यमिति चेदुपायफलस्य स्यात्वेत्, तदा सासंध्यमुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभा-
 माहुः । एवं सम्पूर्णे विरहानुभवे अतो बद्धिः साक्षात्कृतद्वानार्थं कतो भगवान्मनीषिर्नैकैर्ग-
 र्थैर्गुणादिरुक्तश्लोभयोगवर्जितमहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्कृत-
 मत्र दशार्था फलसाधकतो गुणव्यवच्छेदो नेष्यते, मगपञ्च नेष्यत इत्यर्थः । अर्थं भावः ।
 फलानुभवार्थं भक्तस्त वायती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन
 सम्पन्ना ज्ञेयैकतममस्ति फलविरक्तमे अतो सासंध्यं बाधकत्वं भवेत्, तदधिकतस्त आतत्वात् ।
 अतः शुद्धं नाभ्येति । ननु तादृशवस्तुमात्रमि तादृशवस्तुमात्रं तथा विवेकं सद् भावनादिकं
 विषया भवति, तथा तादृशभावनया विषयास्ति तत्सम्भवतीति तदेव कथं सासं-
 ध्यकरत्वं भविष्यति । अथवा 'हा भावे'त्यत्र किमाश्रयया आत्यवशात् सासंध्यकारणम्, तथा
 गृह्यते चापि वचनेत्यति तत्सम्भवतीत्यर्थेन तथाहुः सासंध्येति । यमपि पूर्वापस्यार्था तथा
 करोति, तदन्तरं तदपि सासंध्यवाच्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्त ज्ञा-
 तत्वात् । अत्र हेतुः । दृष्टान्तमिति । अतो न चिकल्पते । निरोधित्वेन न सूयत इत्यर्थः ।
 निरोधो ह एव यः परस्मान्निष्ठं करोति । अत्र वामदृष्टान्तमिति सप्तलेशद्विदिं कुतश्चमिति
 नात्र । एवं सति तादृशस्त सासंध्यसिद्धी गानम्, तीक्ष्णमेवे मलय इति सूच्यते तदवस्थाया
 निरूप्यते । अतः परं दशमानवशात् पूर्वोक्त्यपक्षेण प्रतिपन्नमभिप्रेत्या फलमितिदिति सर्व-
 मपक्षान्तम् । एतदेव सर्वं फलप्रकृत्येति निरुक्तिम्, विरहानुभवेन शीघ्रानन्तरं 'रुद्धः
 सुस्मर'नित्वात्म्यं 'तन्मः नागमिहामद'मित्यादिना । एवं साधार्मीपारित्याप्तसंख्यं निरूप्य,
 अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अगमिति सासंध्यनिर्देशः । तथा चैत्यपुः परिग्रहामः, साधना-
 साध्यतादिति दुर्लभः । तर्हि कथं सिध्यति तथाहुः श्रेय्येति । श्रीमदाचार्यैरुपनिषदा
 साक्षात्संख्यसेवाकत्वेन तत्संख्ये प्रेमासक्तिव्यवहारे सम्पन्ने चैतन्यवित्याभाधिकार इति तदा
 सिध्यति, नाग्यव्या । अन्यसाधनद्वयकारेण नेत्यर्थः । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितसासं-
 ध्यमप्यभिप्रेत्यापञ्चदशमं तेन उक्तो भवेति तस्य निरुक्तिम् । अथवा । प्राकृतसाधनानो
 प्रेमासम्पन्न इति तद्धेतुं पञ्चान्तरेषाहुः प्रेम्या भववशमेव्या इति । श्रीमदाचार्यौही-
 काव्येण सासंध्यानन्दानुभवमिति प्रेम भववतस्तद्विषयापन्न इति तस्यति तत्सम्भवतीति
 लयीकम् ॥ ७-१३३ ॥

एवं साधार्मीपकृत्येवमिति निरूप्य आसंध्यद्वयवार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति
 शब्दमार्गी इति ।

शास्त्रिनामपि चाप्येव न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्ममदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा झटपते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

अस्मिन्मार्गेऽपि चेत्तानि पुरोक्तदोष प्रकृत्येत तदा किं कर्षयिषि
 यथ । ततोऽन्ते, समाभनमित्यर्थः । तदेवाहु अचारम्भे । भक्तिमार्गपित्तगाम्भे ।
 ययति आरम्भभेदेन विरहादुभयानन्तर प्रसूतभावसमाप्त्यनन्तरं शक्यते, तथापि
 पुनर्नाशो न स्यात् । यत्तत्तत् पुरोक्तं कथ्यतेऽत्राद्या भक्तवर्धनीयत्वात्, तत्रैव विनि-
 योजकत्वेन भगवत्स्वरूपैव निष्पत्तिपक्षसमाप्त्यनन्तरं कृतम् । न तु प्राकृतविषयमद्वयसं-
 भासोऽपि सिद्ध, तत्तदभावे कृतं तत्तदोपलब्धमप्यवश्यम् इति भावः । एतेन तादृशभावस्यापि
 फलान्तः परित्यक्त्येव, न तु साधनत्वमिति ज्ञातम् । ननु तथापि विषयभोगकदाप्येवुं एतेषु
 परित्यक्त्याप्य भवेदपि हृदो योजनं नान्यत्र पदार्थं तस्मात्प्रभापात्र भाष्य इत्यर्थः ।
 पदार्थे एते कदाचित्कामभेदेति, गच्छेत् स्वभावानन्तर एवमित्येवार्थकत्वं मसीध तत्तदार्थानां
 साधनं कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः । अत एव 'यदा साक्षात्पुनः कृष्य'
 इत्युच्यते 'तादृशस्यापि शक्यं'मित्यनेन तस्य स्यात् उक्तः । ननु तथापि वाचना पेक्षित्वेति,
 तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहुः स्वास्त्वहेतोरिति । स्वास्त्वहेतुपदार्थस्य परित्य-
 क्त्यागाद्यासमाप्त्यनन्तरं परित्यागः, वासनया विषयवद्वय भवति, तदभावस्यापि केन पदा-
 र्थेनास्य सम्भवेत् । अति तु न केनचित् इति भावः । वातानामहितत्वात्कथमेव एतेन तस्मिन्
 न कदाहपमिति सूचितम् । अनेन पदार्थास्वात्स्यस्य स्वास्त्वहेतोरिति न भवति, किन्तु भगव-
 त्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञातम् भवति । एतदेवैकं निरोधवर्धने 'वायराश्रयि नास्त्वय तदभ्या-
 सोऽपि सिध्यतीति' । ननु यदि भगवदिना न कदाचित्कामभेदेत् तदाहुः । ययति हृदिः
 भक्तवर्धनीयतायति सर्वेषां भिन्नता सर्वेषां, तथापि तादृशत्वानन्तरं स्वस्य रसात्मकत्वेनैव
 तादृशस्य चित्तमभिनितयाया कर्तुं न शक्नोति । ननु तत्रैव न स्तो न वा कीर्ति, यत् स्वस्य हृदिः
 एतादृशत्वस्यानित्यत्वं स हन्तुमेव स्वात्मकतायाः फलरूपत्वेन वक्ष्यते । एतदेव 'भीतान्तर-
 धरं शम्भी' इत्येतस्य निवर्तने निवृत्तमित्यादि हृदिभेदेन स एव भावः उक्त इति ज्ञातम्
 भवति । एतेनैवानीं वायव्यस्य स्वस्य फलरूप हृदि स यन्मन्वीत्यनेन हृदिभेदेन स
 एव भावः उक्तः । तद्वर्धनीयत्वस्य निवृत्तित्वेन । अत एव 'न शक्नोति' इत्यादिवचनम् । एव
 सति हृदि न शक्नोति यदि अग्रे फलवर्धनीयत्वात् कृतं यत्तत् भवन्तीत्यर्थः ।
 भगवतो दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । यथैतादृशस्यापि हृदिर्वाप्य भवति, यदा भावोऽपि स्वभा-
 वात् एतस्य पोषणं न कर्तुं । यदा तासां स्वात्मकतायाः फलरूपत्वम्, किन्तु पोषणमेव
 कुर्वन्ति, तथा हरेस्त्विति भावः । एतेन हृदि न तत्त्वोपपत्तेरिति सूचितम् । अथवा

हेर्नातृद्वयान्तरकथनात् सुकृतप्रतुषयोः किञ्चावाय विषयमस्मापेक्षितत्वात् पुपुषुरिति
 मृत्तार्थकलत्रयोमागुपमत्वेन कथनं गूढमिदं निरसीति तद्वत् इति पद्यान्तेन स
 एवोच्यते । तथाहि । हरिश्च न शक्येति कर्तुं चाधमिदवासाधारण्यो हेतुः, ततो मातए
 पुपुषुः इत्यन्यपसम्बन्धः । अयं भावः । एवं श्रीमद्भोषिकाणां सुकृत्यमत्र निरूपितमिति
 सुकृताया एव मातृरूपा ज्ञेयाः । यथा सुरोर्वरदाने फलशिक्षिः, तथा तासां दान एव तावतीव
 शिक्षिः, नान्यथेति । तज्ज्ञादो अतीशुले सम्पन्नपोषणं गृहगतः । नतस्तच्छुनी प्रभोरति
 शक्यमायो सुकृतमः, तज्ज्ञापापीनत्वादिति भावः । ननु ता ज्ञावत्किमर्थं कुर्वन्ति चेत्माहुः ।
 अन्यपेक्षेति । यथैव एव ससा सुकृतावतिशान् पुत्रत्वेति सिद्धे एव पोषणं न कुर्वन्तास्ताः
 अन्यः साधारण्यः सहजकठिनाः शिष्यः । तास्तु मातए स्वाध्यायान् सन्नेनं पोषयेदुत्तरार्थः ।
 एतेन यदि ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमसात्त्विकत्वात् पोषणं सुकृते-
 वेति निरूपितम् । एतदेवोक्तं निरोपकथने 'पुत्रे कुण्यमिषे रतिः' । एवं सति पूर्वोक्तागुपपदिष्टव-
 नति विरुद्धं भवतीति सर्वमतवयम् । अत्र दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च मातए इत्यस्मादुक्तिः कर्तव्या ।
 ननु यथा ज्ञाने सस्मिन् गूढभाष्यरूपी सर्वथा तज्ज्ञात्यकलत्रानादीन्यनेन माप्ते, ननु द्वितीय-
 वदार्थमानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थं तिष्ठति, तथा प्रकृतेति सस्मिन् भवत्यर्थेनैव तासा-
 वद्विस्तारिकरूपज्ञाने केवलं तद्विषयानामेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमासीदप्यप्रतिपादक-
 वाक्येन ऐक्यस्यान्येन कदाचिदपि वचनान्वितमोदेन स्वास्थं सम्भवेदित्याद्यं च तदभाष-
 माहुः । पूर्वोक्तावच्छलेक्यत्वपुष्टेः सुकृत्येति यदि तद्विषयस्यैकत्वत्वेन तद्विज्ञानेन कृतवान्
 प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्यस्यैकत्वपरिहारेण भक्तं तास्य न मोहयिष्यति । तथा
 चोक्तं प्रनलीते श्रीगुरुपुरोहितः 'सूतां विप्रसन्देसा' 'वयसीनां विमोहा' इत्याद्यन्यप्रतिपाद-
 कज्ञानिनामपिस्तासां मोहो न जातः, किन्तु तज्ज्ञातयेन प्रभुतालितत्वीक्यतितानवन्तिपुत्र-
 प्रभुत्वीयविरुद्धमिद्व्याख्यानान्तरित्याख्या अमरजिति । प्रकृतेति तज्ज्ञावत्सायां तथा न कदि-
 यति, तत्र हेतुमाहुः आत्मप्रपदः विषयज्ञः, अतः किमर्थं मोहयिष्यति । अयं भावः । अत्र
 मनसात् रसात्मकः साक्षात्कृतानन्ददानार्थम्, सुस्पष्टतया प्रीतिकृतो मुपय हेतुः । स वै
 तज्ज्ञावत्सायां पुष्टो न भवति, किन्तु पुत्र एव तिष्ठति, तदुक्तत्वाभावे तज्ज्ञानमपि न शि-
 व्यति, रसात्मकत्वादेव साध्ये सर्वदा स्वास्थंति । एवं सति यत्र भगवतः साक्षात्कृतदानेनैव
 प्रित्तं च तत्र तज्ज्ञापननिमित्तमोहो न भवति । यत्र नैतदुपपन्नम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते तथा
 चोक्तं दशमस्कन्धे 'हितकरीषु तदज्ञानन्ददानेच्छामाप्तात् पुष्टिमासीपदिवत्सामावाय न प्रीत्ये
 अतुरगाने'त्यादिज्ञानिनामप्यवित्तमोहो जातः । यतः ताः पराकृत्य सायहावगमन् । फल-
 जातये तु श्रीमाजिनीनां सर्वलोकोग्रगमनपुष्टिजननकारकेन पूर्वपदेन 'अवकाद् दर्शना'दित्या-
 दिवाक्यैः साक्षादज्ञानेच्छाप्रदायात् पुष्टिमासीपदिवत्सामावाय न जातः, प्रभु-

तेभ्यस्तान्मानानां सर्वाधिकमन्वयेति तज्जिगत्करणं चकुरिति सुप्तं किमर्थं मोहविष्यतीति ।
 कतः परमेतापदुक्तस्य निर्गमितार्थमाहुः । यस्यात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ।
 अन्यथा पुष्टिमात्रविधावाप्तये तस्मिन् कृते साधार्त्तं पुष्टिमात्रविपुलसार्थाद्भूदयतो यत्नो
 फलतीत्यर्थः । अथ प्रमाणमाहुः इति मे निश्चिता मतिः । इति यस्य धर्मस्य यथा सङ्गं
 तत्सङ्गप्रमाणदेव तस्मिन्निश्चयः । समोदरेयेति स्वस्यैव वृत्तिः प्रमाणत्वेनोक्ता ॥ १७-२१ ॥

एवं संन्यासनिर्णयं सुतोषतंदुरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन बहुभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासप्रवर्णं भक्तजन्यन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं प्रकरणेन भवती कृत्वा एव संन्यासवर्णं यत्तद्व्यत्येन निश्चितम् । तत्र हेतुना
 साधनद्वयमाहुः कृष्णप्रसादेन बहुभेन चेति । कृष्णप्रसादेन रसानन्दात्मक-
 गुरुत्वबालत्वं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यास्ति वैकल्पिकत्वं सम्भवतीत्युक्तं बाह्य-
 भेदेति, अतिश्रिष्टेत्यर्थः । एवं कृतेन आपातमन्वयैतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् ।
 तादृशत्वाभावे परित्यागसङ्कल्पान्मयेन न भवेत्, निश्चयः कर्म कर्तुं शक्यः । तस्यापि
 विशेषेणैवदमित्यतयेति मनुक्तस्य सन्देहो न कार्य इति निरूपितम् । निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः
 अन्यथेति । कृतकस्यागामे परित्यागसङ्कल्पान्मयात् अधिकतत्त्वान्ने कृते त्वाग्रे स्नाहीकृतोनि
 पतितो भवेत्, एतौक्यवशेन अधिकार्थाद्भूतो भवेदित्यर्थः । एवं कति परमव्यक्तिक-
 साधनात् सङ्कीर्णानां रक्षैव कृतेति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यकण्ठां कर्तव्यामि कथं वतः ।

वतः सततस्यावभासप्रपञ्चं मीरयेऽकरोत् ॥ १ ॥

देयेति ज्ञापिता भावाः स्वापयन्तु स एव तावत् ।

मादृशकृतवः सौमस्तदेककारण विभो ॥ २ ॥

वदन् मन्मतेर्दोषाद्विरुद्धं प्रभवः स्वतः ।

धनन्तां तव च तवाश्रयणं कर्मणं गत ॥ ३ ॥

इति श्रीधनश्यामात्मजश्रीगोपेशचरितं

संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनकाङ्क्षमाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविश्रुतिसमेतः ।

विभिन्नविरदनाकायेष्टनैरुभाजामनुमनियतः सन् शेषविकानां कृपाभिः ।
कल्पति निजकृपानन्दवीर्यवत्तने कुरुदति स कृतार्थ मां मत्तयः करोतु ॥ १ ॥

श्रीगोतिशायीशयथाकुणानां सेवकयासतिरुमयैक्य ।
य एक एकानि विभुसमेव श्रीवत्समास्य सुदुःखमपेहन् ॥ २ ॥

श्रीमद्भक्तमन्त्रोः श्रीनिष्ठकृतमपेनस ।
पदसम्पन्नद्वयमकलं गत्वति गर्दभे सज्जतस्तु ॥ ३ ॥
स्वाचार्यचरणपद्मपद्मपुष्पागपरभाषात् ।
वसिष्ठेन्द्रे-सिद्धचरणानन्दमतिवत्तया तदात्मनिः ॥ ४ ॥

अपाज्ञावाद्यस्तित्तममावप्रतिपक्षरसात्मनःश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविक्रियभाषहृन्दादुक्क-
स सन्निभमावप्रतिमापकाप्यलात् सर्वपरित्यागमन्त्रेण तदसम्भवादावरणको नक्षिर्मा-
निरिवाग, स च सर्वज्ञानमत्स्यदिनार्थविदादिभिन्नरूप इति क्षमासीयपरित्यागव्रतिनि-
लक्षणमनाकल्पतां तदासीयपदवत्तनां निजमासीदिकृतमोवात्मानविचारितः परित्यागः
पश्चात्प्राप्तयेन भवितेति सकलसंशयमनुविश्रुतः तदस्यास्य साधनेषु परमाहुष्मदुपा-
निर्मातृत्वसूत्रैः श्रीमदसदाचार्यचरणाः क्रियित्वयोगेन प्रपद्युदीत्यन्तासाक्षिभारप्रतिज्ञा-
काचरति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये मोक्षो भवती ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

व्रतित्तये पुरुषोत्तमवरुणेन कृतमितरगतान्निष्ठत्वेन व्याप्येनोभ्यस्त इति वदन्-
नात् तस्य च 'रतो वे स' इत्यदिश्रुतिभ्यो स्मृत्येन निश्चलादुभयवित्तुत्परत्तात्मनः
समासीतोः सारुपाकन्दं श्रीमदाचार्यवर्षकवपश्चात्तदुपेक्षादिपरत्तया सुखं पश्यदियु सत्तां
सुखिप्रयत्नेन यथाविहारमनुभवात्मनि निश्चोमप्रयत्नेन सदनुमनाभावाद्दन्तरेयोनिभ्य-

हितनन्तविधिमित्ये सन्तान दन्तुस्त्रिस्तन्तानामस्माकं सुदुष्टुष्टिभार्गोचार्थसम्पन्निधनमपि
समार्थसुखफलविशेषोपभवाद्युभयो न भविष्यति । तस्मा सर्वोत्तमापान्तर्गतसर्वसत्त्व
सम्पत्त्यादस्मात् तन्द्धानाश्चाप्यभावेन क तदाचरन्तस्तत्त्वविरुद्धमावर्णीयैकहृषो य उक्त
उक्तान स पश्चात्पदेनाश्लेष्यते । यतोऽप्युररीकृतसुरदिशुभार्थनिशुभतराणामाचार्यकर्मपर-
पक्षमादरुणामेवापि हृदयसुदरमस्तदादधीतं, न तु न साधारणानाम्, तन्निशुक्तिश्च भक्तिमार्गं
पर्वकर्मोपभवाचार्थपरिणेतव्यमिति । तदर्थं परित्यागाः सत्यास स्यात्तर्तीय श्रीमदाचार्य
चरणीचिन्तायते । स्वरूप फलत सम्पत्त्या मार्गान्तरायतदसद्दीर्घत्वेन निरूप्यत इत्यर्थः ।
तथा न पश्यन्तानिधनं विनास्ति स्यात्तर्तीयसत्यासत्वरूपदिक सम्पत्त्यवगम्य भगवदङ्गी
काराधिकारोत्तरसम्पत्ताज्जन प्रवर्तमाना विनष्टितपश्चात्तावासादनुहृत फलमुभविष्यन्तीति
वाच । यद्वा । भक्तिज्ञानयो विरुद्धसाधनेन सत्यास साधीयान्, न साधनदशाया,
तदा तदर्थीयान्यविशेष कृतस्यापि तन्पनिर्वाहात् पश्चात्ताप एव पूर्ववन्ति इत्येतत्कारणं
स्यात्तामे सत्तापितानामपि भगवान् पश्चात्ताप, तदर्थमेव सत्यासि स स्यादिति तदनु-
सृत्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । नवमा, जीवाना प्रभुशास्त्रं भक्तिमार्गनिष्कृत
पक्षि श्रीमदाचार्यचरणेष्वस्य स्यात्तर्तीय परित्यागोपि सुखफलसिद्धयर्थं श्रेष्ठेन निरूप
नीय । न तद्वि न कथं निरुक्ति । विमिति विरुद्ध कृत इति य पश्चात्तापो भवेत्तद
पश्चात्ताप परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । ननु विचारविषय परित्याग कर्तव्यतया क्वमिति
तत्तदनन्तर तन्निर्णयार्थेसाक्षात्तायावाहृ स भार्गोहित्य इति । स परित्यागो भार्गो-
हित्यमे भवती ज्ञाने विशेषतः निरुद्धपक्षगतपक्षफलक्षयाद्वाकर्तव्यमिति श्रेष्ठतः,
श्रुतिश्रीमात्रतादिव्यभिहित इत्यर्थः । अत एव 'सत्यास्य सर्वविषय'तिलादिषु य सर्व
त्वाय श्रीमत्पक्षमहेषु स कर्मपक्षनिषेधोपायानुभयफल एव, ज्ञानमार्गविषु तु स नेवविष,
किन्त्यपवर्गपक्षपक्षानी । यद्वा, विशेष परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव परित्याग
श्रेष्ठः । अन्यथा तदर्थनिर्वाहसाधनेन दोषविशेषपक्षपक्षमावाहत् । विशेषत इति स्पष्टोते
पश्यमी । तथा य पक्षी ज्ञाने य विशेष विरुद्धपक्षगतता प्राप्येति वाच्ये । अथवा, विशेष
पक्ष इत्यस्य प्रत्यक्षविशेषज्ञान इत्यनेनेवान्वयः । इत्यर्थेककर्मवि परित्यागेन ज्ञानमार्गे
सुखपक्षावादेनकलन्तु तत्कारणमेव विशेषतायैवतेव ॥ १ ॥

नन्वेव कर्ममार्गेति परित्यागकर्मने हि क्षयकर्मितादशक्त्या तन्निषेधमाहृ कर्ममार्गे
न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकाकलः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यस्यविचारणतः ॥ २ ॥

कर्ममार्गे हि सकलमन्त्रिभयभेदेनानेर्ज्ञानकर्मकरपक्ष, तन्निधनश्रुतिनिर्दिष्टा,

तस्मिन्परित्यागो विरुद्धत इति न कर्तव्यः । न च 'यदहेत्य विन्ने' इति सुखा दीपित
त्वात्परित्यागः सन्नि निषेधे दुर्गतर इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य सत्यादिपक्षमावन्दितस्य

कदाकदास्य विवेकदोषनिदानशान्तायोगात् । न च निष्कामकर्मकरणं मनोमहिम्नात्मक-
नीय निरिच्छासादविभ्यतीति वाच्यम् । तथापि सहस्रमिच्छासाहित्यैपत्येन तत्त्वज्ञाना-
यात् । न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम् । कर्मत्यागश्चैव तथास्वीकृत्यात् ।
न च काम्यकर्मत्यागमात्रम् तथात्वं शक्यमकम् । सहोपे मानाभावात् । क्वचित्कति-
चपि तत्त्वयोगसौतन्त्र्यादिकत्वात् । सुमुमुक्षां सर्वतत्त्वादर्शनाय । न च सुमुमुक्षु जीव-
न्मुक्तेश्च न तत्त्वकर्मकृतिन्यायप्रसूतौवेति वाच्यम् । मन्वन्तिमोमेनैव तेषु लोकसद्भावा-
त्तात्पर्याः । किमालाभन्यासायकम्, कल एव परमज्ञापकसंकेताहुः सुतरां कलिका-
स्तत इति । कलिकलउत्थावद्वगमपञ्चनस्यैव कायकसादतिरिक्तस्य वाचक एवेति तत्र तत्र
सिद्धम् । तथा च तथाभूतात्समादित्वाद्युपलब्धत्वादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो
न कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन काम्यकर्मत्यागउपधायौ गोप्येति त्यागः प्रयुक्तः । सुखादत्या-
गकालो निर्दिष्टः, परमार्थे देशादीनामप्युल्लङ्घकः । तेन कलौ देशकर्माद्युल्लङ्घानि न परि-
त्यागः कर्ममार्गे सिध्यति । अत एवातुपसुर्पङ्गमे संन्यास इति मतमपि पैरागमे विना
तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तत्त्वार्थेन तथैव साधककर्ममिति कलविदोषात् कर्ममार्गे
निरपकाशमिति ज्ञेयम् । एवं कर्ममार्गे परित्यागे प्रतिनिव्य भक्तिज्ञानसार्गयोः कर्मव्यत्या-
गपरिधिषि तस्मिन् प्रथमे कुपत्ये विचारः कर्म इत्याहुः अत आदायिति । अतः कर्ममार्गे
पापश्रीभ्याम् परित्यागो न कर्तव्योक्तो यत्तौ द्वये च कर्मव्यत्यागं तद्विपातश्च प्रती-
त्यस्य भक्तिमार्गवर्षाकल्पत् मर्तोः प्राधान्यात् सिद्धदशायां च तस्य कर्मव्यत्यागादौ भक्ति-
मार्गे कृत्यामस्य विचारण । भक्तिमार्गे हि साधनदशायावेव परित्यागः कर्तव्यः, किं वा
कलदशायामाहोविदुमकथं वेतिहता किञ्च इति शेषः ॥ २ ॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः साहित्येतदा साधनदशायावपि न कर्तव्य इत्याशङ्क-
येतुं तदनङ्गीकारात्ताहुः अथवादिप्रसिद्धार्थेनेति ।

अथवादिप्रसिद्धार्थे कर्मव्यत्यागेत् स नेप्यते ।

सहायसहसाध्यव्यत्यात् साधनानां च रक्षणाय ॥ ३ ॥

अभिमानाजिवोगात् तदुभयैव विरोधतः ।

गृहादीर्षाधकार्येन साधनार्थे तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेभि तादृशैरेव सहो भवति नान्यथा ।

कार्यं च विषयाभ्यासः पापघटी स्थापु काष्ठतः ॥ ५ ॥

विषयाभ्यासदेहानां नापेक्षः सर्वदा हरेः ।

अतोऽयं साधने भवती नैव त्यागः सुखायतः ॥ ६ ॥

पापघटीनि याति साधनरूपाणि तेषां प्रकल्पेनाप्यवस्था सिद्धिर्भविष्यदिति
व्यासजनेषु न सम्भवतीति तर्क्यं स परित्यागः कर्मव्यत्यागे, नेप्यते नांवीकृत्य इत्यर्थः ।

अवगादीनां प्रतिद्विस्तृष्टकलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेत्ताद्रीकियत इति वार्थः । कुल-
ह्लाकांशायानाहुः सहायसद्वसाध्वत्वादित्यादि । एहादिषु तत्त्वार्थव्यासद्वसानि-
वर्धित्वादित्यन्तः अवगादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन कश्चित्तद्विस्तृष्टकमप्येव
सम्पादनीयमिति वनशिक्षणं वस्तुतः स कश्चुपपद्यतां, यतः अवगादीनि सहायसद्वसा-
ध्यानि, सहायः कथकादयो विविधस्वाभावाः, तेषां सहः सहायेन तदुपसहितः, तेन सम्पा-
दान्मतत्त्वज्ञानान्तरमायवकस्यासद्वत्वादेर्नञ्जसद्वतः श्रुतिप्रतिषेधान्वात् पुनस्तत्तदाकांक्षो-
न्मयत्वेन च न अवगादिसाधनार्थं परित्यागः कर्तव्यमुपपन्नः । किम्, साधनमात्रं कार्य-
सिद्धिरिति अवगादिसाधनविषयोस्तत्साधनानां तदवयवसु लघ्वेयितानां रक्षणं कर्तव्यं, तत्-
स्त्यागः कथं सम्भालकः स्यात् । अथ च, साधनमार्गवत्तु मुनेषु तानि तात्त्व्यदार्थेषु
अवगाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभियानो निवर्तते, प्रतिक्षुब्धदेवेत्येव, ताने च स निवर्तनीयः सर्व-
मेति तत्त्वस्य स न दुष्पद्ये । साधनदशायां वेदसाधनमवयवविशेषात् तर्वाग्रनधर्माभा-
सुलक्षणं न शक्यमित्यस्यैव स्यात् । अन्त्याह, अवगादिसाधनानां तद्वर्त्मः परित्या-
गधर्मः पर्यटनादिति । समं विरोधो न शक्यमिभूत इति न कथमपि साधनमतिक्रम-
वगादिषु परित्यागः सम्भवति । ननु तथापि एहादिकं ससहायसम्पादकतया अवगादिषु श्रुति-
पञ्चमूलमतस्तदर्थं तत्परित्याग्यम्, तथा सति कदाचित् सत्त्वज्ञोनि स्तादित्याशङ्क्य सनाधान-
माहुः एहादेरिति । साधकत्वेन अवगादिविरोधित्वेन । साधनार्थं अवगाद्यर्थम् ।
तथा यदि परित्यागमेतत् । तदा अत्रापि लक्षणान्तरमपि तथाविधदार्ढ्याभावात्ताद्रीकेव
परित्यागमवगादिविरोधिविहादिसद्वरीरेव सद्रो भवति, अन्यथा प्रकाशान्तरेण एहा-
दिविरोधित्वात्कृतेन अवगादिकं तु न भवतीत्यर्थः । ननु भवतु अवगादिविरोधित्वागकर्तृसाध-
नपरसहः, तथाप्यन्तसहस्यैतन्मादिनैव अवगादिविवाहो वनिष्पत्तीति न तत्पणोदुषित
इति चेत्, तमाहुः स्वयं वेति । यदि वैराग्यमन्तर्धर्मकरं भवेत्, तदा कृतेन पापक-
निषर्हणे निन्देदपि अवगादिकम्, परन्तु साधकदशायां तदर्थं तदेव दुराग्रम्, अतस्त्यागस्तु
विरोधिविनिर्वाहमेव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विरोधित्वात्कृतेनेकद्वैतमोक्षैराकाशा उपन-
दितः सन् कालतः कलिरुक्तान् नकाद्विद्विद्वद्विनिर्वाहः पापज्ञो तत्तद्विस्तृष्टकमवसान्
भवेदित्यर्थः । सकलमन्त इति पाठे कोपत्येवास्तुपत्यवकात् कथमतो पतिद्वयोस्तात् स
तथा स्तादित्यर्थः । तेन किञ्च वैराग्ये त्यागोन्मः, तद्विषयप्रतिहतः, फलस्य नापकलते,
कलुष प्रत्यागमेव सम्पादयति, कथामविस्तृष्टावरणमुत्थापेति भावः । ननु निर्विषयकमपि
अवगादिनिर्माणदोषेयस्यैव सम्भवात्कथमत्रिहा तानो निष्पत्त्यु इति चेत्तमाहुः विष-
यान्ताग्यदोहानामिति । भवयदोषेये सति ताने न कालि सतिः । किन्तु निषर्हैदा-
दिकं वेत्तानामन्तं तेषां हरेः सर्वद्वैतद्वैतविषयदोषद्वैतसु निर्विषयेत्यस्यापेक्षो हृद-
यादासागमनं तत् सर्वदा कश्चिन्नति काले न भवति । किन्तु 'विषयान् त्यागत्' इत्युक्तरीत्या
नाम एव भवतीत्यर्थः । न च निषयार्थां अवगाद्यनमिवापकलात् तत्त्वमुक्तमवगाद्येवा-

कृतमस्तिरिति वाच्यम् । 'नराणां धीनपाशाना'मिति वाक्यात्तात्प्रेत्येव श्रवणादि प्रयोज्य
प्रत्यावेक्षसोपपत्तेः । न च 'आध्ययानोपि मरुतः' इत्यादिपावपैर्निवृत्तत्वेपि का क्षतिरिति
वाच्यम् । उक्तप्रामाण्यतां निवृत्तमुत्तरैर्मुख्येन सेवमानस्य प्रमादाच्छ्रुतत्वापेक्षि मधुरति-
कृताईश्वरोपमपाकरोति, अत्रो न निवृत्ताविमय इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमु-
पगतं त्वम् । एतद्व्याख्याभिप्रायान्तरमस्ति तत्त्वव्यवस्थानुसंगतौ निवेक्यैर्वाभ्यविपरीतौ विरोधोपपत् ।
एवं साधनभक्तिमार्गे समर्पितं त्यागभावमुपसंहरन्ति कर्तव्येति । यतो बहुन्येव
जायन्तानुष्ठान्यलोऽयं साधने गच्छे श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः
आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनरूपेणैव फलमर्पेत्त्यागस्य सुखनैवत्याग्यता ।
नन्येवं भक्तिमार्गे न सुखमोत्पत्तिस्तान्, तदि ज्ञानमार्गे स्वाच्छात्र, एवम् भक्तिमार्गे
व्यर्थादिभार इति चेत्तथाहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयचर्यानिवृत्त्यर्थं वैषः सौम्य न नान्यथा ॥ ७ ॥

कौपिहन्त्यो गोपिकाः प्रोक्ता सुरयः साधनं न तत् ।
भाषो भाषनपा सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकृतत्वं तथाश्वासार्थं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं सर्वमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सुखलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विरोधितात् ।
भाषना साधनं यत्र कलं नापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सुखलोकादी निष्ठम्लेष न संशयः ।
यद्विज्ञेयकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेन्नदि ॥ ११ ॥

तदैव शक्यो बन्धो नाशमेति न नान्यथा ।
गुणास्तु सञ्चराद्विज्ञास्वीयनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् कलरूपत्वात्तत्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यबाधयं न कर्तव्यं दधानुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभ्येवं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १४ ॥

तुच्छन्दः साधनमार्गनिस्तानव्यापुर्त्यर्थः । साधनमर्पे परित्यागस्य बहुशयन-
रुन्दितात्वेनाद्यन्मयेति स्मामकस्य प्रयोः परमकलरूपद्वितीयरुनिविधमावासाद-
सधनो यो विरहानुपपन्नार्थं परित्यागः सर्वान्तराङ्गगुणः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्यो
भवति, किञ्च प्रकृत्येव योश्चाधिककथापत्रत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयिविषमगलदली-
पाराधमाधिकाराविषयेन निषीयमानः परित्यागः परमपुण्यरूपकविषयोपरादानुपायक-
तया भक्तिमार्गे अन्यतम एवेत्येवादिभारः सुखावह इति भावः । ननु ज्ञानमार्गविरोध-
ना-

ग्रहणे यथा विदितत्वात् साक्षात्पश्येकः भिद्यते, स हि साक्षिरप्ये गोक्षार्यः, तथा गति-
 मार्गीपरं न्यासग्रहणे स न पश्यति इति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्वीयबन्धनि-
 शृत्त्यर्थमिति । अथ विरहालुभकार्ये गतिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीपरं न्यासे प्रसिद्धो
 वेपथ्वी विना मार्गीदिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्वीयैर्वादिभिर्नो बन्धः प्रतिबन्धः, किंता स्वीयेषु
 बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपः तद्विशृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरणं ज्ञानमार्गीयेषु न
 कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीपरं न्यासे तादृशेषु सादृश्येणैव ह्यप्यवगोचरो भिद्यन्, न
 तथा भक्तिमार्गीपरं न्यासे, तस्य स्वीयबन्धनिशृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनेत्याह कर्तव्यत्वादित्य-
 रथा तदभावादिति भावः । ननु ज्ञानकार्ये शुक्तदुग्धदिएसाधनादेरिति सिद्धिः, न पुनः
 संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीपरं न्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्यां तत्प्रति-
 द्दिश्याहः फौषिहन्वो गोपिका इति । फौषिहन्वो महर्षिः स गुरुः श्रोतुः, गोपिका
 षोपगृह्यरूपाः श्रीमन्नित्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहालुभजन्यवसाविनि संन्यासे गुरव-
 श्रोतुः, श्रीमायवसाविषु सम्पद्यन्ति इत्यर्थः । अत्रापमविप्रायः । कींष्टिन्यस्यानन्तगुण-
 वर्णनार्थमनोदीयैतदन्वयेणमादिमनोत्पद्यार्थमवदन्तभावसन्तापोपकारादृष्टेः शुद्धप-
 रित्यागेन विनिर्गमहरादिषु तद्वैषम्यविषयस्य सर्वपरित्यागपूर्वकताभ्यासितधर्मविर-
 हादुभयोर्दुर्भाववशात्प्रकल्पयति । गोपिकानां तु स्वरागमैश्चरन्तुरक्षार्थान्नायवत्तथा
 पञ्चोक्त्यादिश्रवणे उपलब्धं स्फुटतारमेवेति शौक्लेयातीतगुह्यगुह्यिनातीवप्रकारस्य प्रमुखा
 वाप्रयोजनार्थं सन्तोषमनुस्मासितस्य प्रथमं तत एव प्राक्कथात्तमेव गुरवर्णं मनश्चसतमम् ।
 महर्षी तु तद्वैश्वानरित्युक्त्यात्पुनः, प्रमादमार्गीयस्यापि मुख्यं गुरवत्वनयुक्तमिति ।
 तेन गुरवत्त्वमेतत्परित्यागफलसाधनीभूतमायवत्तशुक्लं निषक्षितम्, न तूदैह्यत्वम्, तस्य
 श्रुत्येवमावाह । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयसिद्धिधनत्वेनेत्याशङ्क्य तस्य वक्तुमीहित्यात् ।
 उपदेष्टव्यस्यापि तदर्थज्ञानमार्गीयविवक्षया फलतो विशेषाभावात् । अत एव 'एवं सत्यसि-
 म्मार्गे स्तानिन्य एव गुरव इति ज्ञातितं वपत्ती' इति विशेषविशृतिवचनो श्रीमद्व्यासमुखावग-
 र्हकियक्तसि । 'स्तानिन्य एव' ऐक्यकारान्तर्यं गुरुत्वमेतत्तन्मात्रमेवमित्यभ्येदेत् । किञ्च,
 न नेतृत्वमेव एतादृशभावमात्रस्य निकमार्गीयस्य अक्षयिकः, किन्तु यथा स्वभवनपरा-
 गामेतद्भाषकं शिष्यसि, उपामुक्त्या सम्पादिस्य इति विरहालुभतामफलकत्वैव निषयार्थ-
 वत्तत्त्वार्थं साधनत्वं गुरवेति न निरुद्धं, कर्तुरिति निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः
 साधनं च तदिति । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं चेति च बोधेत्पर्यः । चोच्यर्थः । तेन श्रीम-
 दाचार्ये परमागुह्यमविशुम्भितजलजकरीकृतमार्गीयप्रकारपरिकृतमायवमेतद्भाषसत्ताद्विषयमाय-
 ववैतद्वत्तत्त्वार्थं प्रमुखावगोचरो वयोक्तमुत्पाकृतं वक्षितं निर्विषयिकत्वमिति भावः ।
 अत एव भववद्वयनोपश्रवायेतादृशं मनश्चसतममिति सक्तिः श्रीमदाचार्येपरमाजान् ।
 मनोपमेताम् गुरुत्वे व्यत्यस्तमिति किमेतज्ज्ञातितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः
 भाव इति । सर्वात्म्यमात्रगुणानां वक्तव्यं निप्रमुखावगतापसादृशियतो मनोवागविषयस्य

सहकृतत्वाद्यत्र भक्तिमार्गीयत्वतो, साधना साधने प्रयोजिका, तत्र फलमपि तत्रा, तेनैव
 शरीरेण विरहानुभवसाधकं भवेत् । ननु सत्यलोकादिसिद्धिः, कारणानुरूपस्यैव सर्वत्र
 न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतराणामफलमोक्षारत्नं तु सुभेदसर्पणचोरेषु शुभसिद्धयेति
 क इतोपिक्ते विशेषोपिधेय इति भावः । किम्, ज्ञानमार्गीयस्य त्वाग्निः फलं वन्मुस्य-
 व्याप्तावमपयगीत्यम्, कदपि न स्वस्तिमेव भवति, किन्तुतिथितम्पेनेवेत्यभिप्रायपाहुः
 तादृशा इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादावसानारपल-
 तचोक्तये तिष्ठन्तेषु, न तु इतिवि मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके ति'ति श्रुत्या तन्मुक्तिवि-
 त्तम्प्राप्त्यात्मात्रलोकेत्यनिरसन्दिग्धेति न संशय इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयस्य
 फलचिन्त्यायामविचारितस्वरिप्ताप्यसातिचिरेनैव चेत्यातिः, कदा कदाशमन्यवत्तम्प
 सितिः शेषधी, न पुनोऽतद्विचित्रोत्पुचित इति भावः । नन्वेवं भक्तिमार्गीयस्यापेवि कुत
 शीमे फलसम्भवो यदस्यचित्तवन्धकताकदहन्मानमतादिरूपो यन्नासदवससाधनाय ज्ञाना-
 दिकं विना कथयित्वाशंस्य तादृशमसाहुः संदिग्धेति । सर्वत्रसिद्धिमानन्तरं विर-
 हभावमायान्मात्रावृत्ततादन्तकदाव्यवस्थेय स्थितौ एव स्यात्वा निरवधिप्रियत्वाजीवन-
 हेतुत्वात् तत्वेन स्फुरितः स कदाचिद्व्युत्पन्नतावेत्यव्यादिभाष्यभाषायात्तच्छीत्तर-
 शुभ्रते वाप्यो बहिः प्रकृत्यो र्णादिगोचरमेवभवति, तत्रानुभव यदि पुनरन्तःप्रविशेत्
 तत्र ब्रह्मन्तो बह्विपदिति । यथा काष्ठनिष्ठो बहिः कदाचिन्मयनादितो बहिः प्रकटीयते
 पुनरन्तःमध्ये प्रविष्टः कदावापयावृत्त बहिरुपगतं सम्पादयति, तथा भक्त्याव्यात्मले-
 नात्मास्थितो विरहभावोदेकाद्विधागतः पुनः सम्पद्यः सर्वथा प्रतिबन्धकमस्तीष निव-
 धावकप्रतां सम्पादयतीत्यर्थः । गच्छित्तिष्ठतेन स यथा तापहेतुस्तेनैव सम्पद्यः स्वरूपाल-
 कर्तृं श्रुते, तथा ज्ञानानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्पद्यस्तद्वारुपतामित्यनि सुचितम् ।
 तदैव पुनः श्लेशमय एव सत्कलः सर्वोपि तदहन्मानमकारूपो बन्धो नाशमेति ज्ञातोति,
 न पान्ध्या, प्रकाशमौरेयाय प्रतिबन्धकस्य ज्ञानो न भवतीत्यर्थः । नन्वेवं कदाचैवंहन्ता-
 यमतात्मकस्य बन्धस्य विलये ब्रह्मानन्तादप्यतीतकाले विद्यमाने न शत्रुरेवमसि, जी-
 वनेनावायनं सात्, तत्तद्विद्वान्मनुमकस्तु दृष्टुता इत्यत आहुः शुण्यादित्यति ।
 तुल्यः प्रकाशान्तरव्यावृत्त्यर्थः । शुभाः स्वरूपात्मनश्च भगवद्दर्शनात्ताः ते पूर्वं तथा तथा-
 तन्मता निषेगदशायां सहसद्विद्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यमायत् भक्तिविरहतापविह्वलता
 यन्मि प्रकटी प्राप्नुयतां भक्त्यावापिमेवनिपरस्यतुमताय भवता सर्वभावेन दृष्टी-
 यतां जीवनायै भवन्ति । ननु सास्वयन्मुत्पादयन्ति येन तद्व्यापानाशयः स्यात् ।
 हि शुक्तोपर्यः । रसात्मकस्य भक्तिष्यो निरलेष सन्दिग्धस्थितौनां जीवनं स्वरूपात्मकताया
 तदीयशुभानामेव शक्यं कतः । यद्यपि भक्तिष्यो विरहस्य सर्वप्रियकलत्वा सर्वत्रिरीयाव-
 कलाजीवनं यत्नमपि न जायतीति, तथापि तस्य विरहशुभान्मात्रादुपायवकाशप्रदत्वातेषां

ज्ञानार्थमुत्तराहं च सिद्धिर्जन्यशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कदा स संन्यासः पश्चात्साधाय नान्यथा ।

पापघ्निदत्तं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रपन्नत्वादिति स्थितम् ॥ १६१ ॥

तुल्यो भक्तिमार्गपलायनतुल्यः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिषाविदुष्ये-
देन विविधोपि संन्यासो निपातितः । तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं
यः स विविदिषासंन्यासस्तस्य ज्ञानेन्यप्रसक्तस्य ज्ञानोत्पन्नोपभोगोभिलाषः । उत्तरार्हं उ-
क्तमर्थं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्पन्नमविनो मुक्तप्राप्त्येवोपपन्नम् । यकारेण मुक्तिचर-
मकारेण ज्ञानेति तदुपयोगः सूच्यते । तत्र विविदिषासंन्यासः कदा न सम्भवतीत्यनि-
पास्यते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, यं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्यशतैरेकजन्यनिर्भवति ।
'यद्वृत्तां जन्मनामनो ज्ञानपत्त्यां प्रपद्यत' इति प्रमुखाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कदा
न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं य न केवलं संन्यासादभवति, किन्तु साधनापेक्षं
यज्ञदानाद्यपीनं मार्गं, साधकत्वेन यज्ञादीनां भवत्वात् । 'उपेक्षं वेदानुपचनेन ज्ञाना-
दिविदिषन्ति यज्ञेन ज्ञानेने'ति श्रुतेः । तानि य देशकालादिसाध्यानि, तन्मुक्तिः कथमपि
कदा न भवति । यतोतः कदा स विविदिषासंन्यासः कृतः पश्चात्साधायैव
भवति, नान्यथा, यतः फलरत्नरमणि संन्येतातः सर्वदेव न कर्तव्य इति भावः । किञ्च,
न केवलं पश्चात्साधनाय पर्यवस्यति, किन्त्वप्यदपीत्यहुः पापघ्निदत्तमिति । पापघ्निदत्तं
साधर्म्यविद्वत्साधने च भवेत् । अविद्वत्साधनप्रवृत्तस्तुल्यमार्गः । यस्मादीदृशोऽयं संन्यास-
साध्यात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यज्ञा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, ननु तेन विना
संन्येत्तव्यं । अत्रिच तुल्यत्वे यथा कथमिविविदिषासंन्यासस्तस्य निर्वाहः बहोव्यपि, कदा
तु कदापि नैवाहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां यद्वृत्तां प्रपन्नत्वादित्यस्यापत्त्यादिति
स्थितं, पर्यवस्यन्नित्यर्थः ॥ १४-१६१ ॥

ननु यदि कलिदोषावपत्त्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्तस्य निर्वाहस्तर्हि तत्र एव भक्तिमा-
र्गेण तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाह्वाने भक्तिमार्गोऽस्तीति ।

भक्तिमार्गेऽपि वेदोपस्थादा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अधारमन्त्रे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्वाप्यभाषतः ।

साहचर्यहेतोः परिख्यामाहाराः केवास्त्य सम्भवैत् ॥ १८ ॥

हरिरयं न यमोति कर्तुं यार्था कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरौ याताञ्ज सान्वयैः सुतपुः कचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियव्यापि विमर्षं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा अद्वये स्वार्यादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

मत्तिमार्गेति चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रवक्तव्य इति वाच्यं, नतु स्वात्म-
कल्पव्यवसायमिति किं कार्यं, स्वीकार्यं वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गी-
योपीति महत्सङ्कटमिति प्रतीते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः अप्यारम्भ इति ।
ज्ञानमार्गे संन्याससोपक्रमे कलिक्रमविरोधैः साधनवैयर्थ्यादतिवर्धितं नाशः फलभावो
दुष्पते । न प तत्र दोषसत्ते किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेद्वैपत्तिरे'ति वाक्येन साधनव्यव-
हारेण कलसङ्कापस्य बोधितत्वात् । एतस्य शुभस्य वा नाशस्य दोषोक्तकलात् । अत्र भक्ति-
मार्गे चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि
कार्ये चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि
मत्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैयर्थ्यादतिवर्धितं नाशः फलभावो दुष्पते । न प तत्र दोषसत्ते किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेद्वैपत्तिरे'ति वाक्येन साधनव्यव-
हारेण कलसङ्कापस्य बोधितत्वात् । एतस्य शुभस्य वा नाशस्य दोषोक्तकलात् । अत्र भक्ति-
मार्गे चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि
कार्ये चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि
मत्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैयर्थ्यादतिवर्धितं नाशः फलभावो दुष्पते । न प तत्र दोषसत्ते किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेद्वैपत्तिरे'ति वाक्येन साधनव्यव-
हारेण कलसङ्कापस्य बोधितत्वात् । एतस्य शुभस्य वा नाशस्य दोषोक्तकलात् । अत्र भक्ति-
मार्गे चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि
कार्ये चारम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः कलामात्रे न स्यात्, कलेत्यत्र वाचकस्यापि

उत्पादकविषयकैर्मर्षैः स्वस्य वदधीनताभावात् निरुपपिपूजानिपिलास प्रकटितत्वात्
 ननु तयावीच्यः स्वतः कदाचिद्व्यवसन्धयवेदेन, न तु निरुपेन पोषवेदित्वाद्यत्र तत्र
 सत्त्वात् एवेच्छो यदेतद्व्याप्तं पोषयत्वेन, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके एतन्नेन समर्थमपि
 अन्यथेति । यदि ममवान् सख्यारूपीयकमार्थैर्मकस्य पोषयेत् कथित्, किन्त्येतादृशपापमन्त्रे
 कुर्वेदिति तदा लोके मातरो जनविन्धो यातन् स्तन्यपान् सन्धेः कथित् न तुपुपुर्षं पोषि-
 तपत् इत्यपि स्यात् । तस्य स्यान्नास्वभावायां तासां सर्वथैवापत्तिरूपसम्भावितमन्यत्र च, एवं
 सगत्वोपि सख्यारूपीयैतन्नामपोषयमेतद्व्यवसन्धयमिदमर्थः । तेन स्यान्नादिरामेन वा-
 ल्क्यनामपोषणे यथा मानुषं वास्तव्यस्यभावात् तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा सख्य-
 वास्तव्येन भक्ष्यनामपोषणे सख्यारूपमस्तुमुमानविषयव्यापकमन्यत्रापि भवति तावत्-
 समावसा भक्त्या जीवनस्य चान्यथा भावः स्यादिति भावः । ननु यद्यप्येव भावः सर्वज्ञान-
 पाषाणपाष्येतादृशस्य बहिःसंवेदनदशाभावेनोद्भवतामन्त्रेन ज्ञानस्य च तत्तावत्कल्पेनैता-
 द्वाभावतो दत्तास्य दगदिच्छया ज्ञानिभिः संवे सति तद्व्यवसन्धयविषयसिन्धु विनिरुप-
 वास्तव्येन मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिपत्त्य इति चेत्तथाहुः ज्ञानिनामपीति ।
 यमपि 'तस्मान्मद्विदुक्तस्य'त्यादिजनयैज्ञानस्य तावत्प्रतिपत्तिरित्यित्यिति तद्व्यव-
 सति नाप्यैतदीं, तथापि ममवान् यत् तद्व्यवसन्धयं ज्ञानिनामपि वास्तव्येन ज्ञानाद्व्यवसन्धय-
 ज्ञानभाव तन्वाचीयायां संवर्षं संवाद्यानि तद्व्यवसन्धयं बहिःसंवेदनविषयताद्वारा तत्तावन्निरो-
 धिना अस्तुल्यतापदान् न मोहविषयि, तथा सति तद्व्यवसन्धयं तस्य न सम्पादयेत्, प्रयो-
 जनाभावात् । अथ तस्य ज्ञानिवास्तव्यादिनिनिरसत्वात् । किमर्थं सर्वधुतिस्तुतिपुण्यविदं
 ज्ञानवाग्विद्वत्किमर्थंशाधिपत्यमुक्तिदेत् । अतो नक्तस्य तस्य वेलाव्यवसायं कर्तुमशक्य इति
 न फलप्रतिपत्त्यसम्भावनापीति भावः । सख्यपोषणेनापि मोहानुत्पादः स्यात् । ननु यद्व्य-
 वसन्धयमौवनवास्तव्यमिति तद्व्यवसन्धयं यदि चान्मन्त्रेवेति कदाचिद्व्यवसन्धयं भावं प्रत्यादिस्तुभ्येत्, तदा
 ज्ञानिवास्तव्यैवेकमपि मोहवेदेनेत्युक्तमप्याहुः आरम्भप्रद इति । इत आत्मानं वस्तुत्वं
 भक्त्याः प्रकृतेन विमुक्त्यर्थं कृतया ददाति, अतः प्रीत्याप्यस्य, अतिशब्दादधीनस्य भवति,
 अतो दिव्यतस्य सख्यस्यैतादृशवास्तव्यविषयत्वेन वास्तव्यभावेन ज्ञानरहिते तद्व्यवसायेना-
 सादेवतापयेः प्रीत्यव्याप्यप्रकृतेः प्रयोजनाभावात्प्राप्य विमर्षे मोहविषयनीत्यर्थः ।
 एवं आत्मनीयं परिणामं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमर्हति तत्तत्तदिति । यस्याद्व्यवसन्धय-
 प्रकाशेन कृतः परिणामः यस्याविवर्धनमित्यसमाहृत्ये यः प्रकृतो 'निर्वाद्युपमार्थ-
 ति'त्यादिस्य तेन परिणामो भविष्यतीति संन्यासो निवीयतां विषयमित्यर्थः । तथा सति
 यथावास्तव्यविषयकस्तुल्यतामन्त्रेन भविष्यतीति भावः । ननु तद्व्यवसन्धयप्रकृत्येताद्व्यवसन्धय-
 सिद्धयपि तद्व्यवसन्धयपरिणामे निमित्तप्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तयोक्तत्वादिति
 चेत्तथाहुः अन्यथेति । अन्यथा प्रकृत्यन्तरेण संन्यासे व्याप्यत्वं सख्योजनात् प्रद्वयते
 ज्ञाने भवति, तत्र यथा तत्र एव भवेदिति नै फलप्रतिपत्तिरित्यस्य निमित्तमुक्तिः सन्धि-

न्या बुद्धिरतो मदीयेतेत्यस्यतुकारिभिः प्रक्षरान्तरं सर्वपैव बोधदेयमित्यर्थः ॥ १७-२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णमसादेन बहुभेन विभिक्षितम् ।

संन्यासवरणं भक्तापन्यासा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतिशब्दः समासः । कृष्णमसादेन कृष्णः कलात्मा, यद्येदं बहुसङ्ख्यलक्षितः, यस्य प्रसादः, परमकाहापन्नोऽनुवादः, तेनासाधारणास्तैकिकेतुनास्तैकिकसैतन्यविषयमना-
शापन्यात् बहुभेनेनेति प्रपितेन प्रमो विवेकात् एव रसात्मकतत्त्वरूपस्य संयोगविप्रयोग-
मायतत्त्वान्तरबेदात्मन्यवता मत्तो कलरूपात्मा संन्यासवरणं बुद्धिमावीपपरित्याग-
दीकार इति यावत्, तत् विवेकेन सुदृढतया गुह्यतया वा निमित्तं निर्धारितं, अन्याथा द्वा-
विधयाचोपे कलरूपमकल्पन्त्ये वा प्रक्षरान्तरेण संन्याससुखीकृत्यैव पतित उक्तस्त्वामीप-
संन्यासफलत्वं प्रपुतो बोधदायक भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीविष्णुशेषवर्णान्यनुपासुगश्रीकल्याणरामरत्ननेन मुखा विचार्य ।

गोपेश्वरेण विदित्वा विवृतिर्नित्यम् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ॥ १ ॥

इतिश्रीश्रीमोकुलापीशपदसरसिजसैवाप्यमयवर्त्मकश्रीवल्लभाचार्य-
वरणात्तरजोशुभारणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायातुज-

श्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

आचार्यपद्वचनोद्दिष्टभक्तिमार्गप्रारम्भप्रतिक्रमव्यवधानप्रकारम् ।

संन्यासनिर्णयस्य विदूषोति दासः श्रीबालकृष्णपद्वचननिवेदितात्मा ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरुषसृष्टिक्र-
मिचारेण न कृतवन्तः, तदा शेषकत्वात् पश्चात्तरे जाते, लोकस्यागमिष्विष्णो भगवत्सत्पु-
त्राणां जातार्था, विचारितवन्तः, किं भगवान् मनुष्यवशाज्जोतिः, नवेति । तत्र यद्यप्यसं-
सृष्टात्, उपैक्षेत, न स्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयं कोटिः, परं तत्र किं कारणमिति
विचारे सृष्ट्यादीनामिदृश्याप्रतिफलमद्वयदेशस्त्यागस्य, भाषणमद्वयदर्शीरितिदृष्ट्वौपचमरूपेदद-
स्त्यागस्य च भगवत्तैव कारितव्यत् पञ्चाङ्गपौर्णिकदेहद्वन्द्वौ पौष्टिकापवर्गौ । तत्सदाज्ञाद्वयं भग-
वत्तानेन प्रकारेण प्रपिष्टमित्येव कारणमिति निश्चितं पूर्वाज्ञाद्वयमनुनीयस्तु अत्र दुर्ध्वेच्छा
निश्चित, यद्यप्याज्ञाद्वयं संन्यस्य, तत्रापि सत्यस्तु न कृतम् । अतस्तद्वचनयः पश्चात्ताप-
कर्म निवर्तक इति विचारे करिष्यमानाज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारमिष्यतीति
निश्चितं साधनसाधनपूर्वकं परित्यागनिरुक्त्यं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितीय-प्रोक्तो भवतीत्यनेन विरोधनः ॥ २ ॥

अथ तैर्भित् प्रायो भक्तिमार्गपरित्यागेतरसर्वपापान् विचार्य त्यागविचारमाय-
जनितसमवाधाननिरुक्त्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः । नन्ये तु कर्मवर्गीयायां संसार-
प्रेरणया चार्थलोभमग्नत्वात् तत्प्रवृत्तेन कदाचिद्वचनदीया अत्र तादृशा भा भूतचित्ते-
तद्वयं तुल्योत्तमस्य संप्रदायस्य निश्चायप्रतिज्ञेत्युच्यते, यदिचिद्वचने जाते पूर्वदशां रहता, यदा
पूर्वमेव भगवद्वयं किमिति न यत्नः कृत इतीत्यनेन यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः ।
इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धरक्षायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनेत्येकः,

तत्राद्यां पूर्ववैराग्याभावेन सम्बन्धपरित्यागसम्भवात् पापनिवृत्त्यपेक्षया पश्चात्तत्प्राप्यैव सः
 स्मृतः, एतच्छास्त्रज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्व परित्यजन्तः पश्चात्तता भवेत्तु, तथा
 तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तपमाश्रुनुरिति तदुभयविषयश्चात्तापात्तदवाप प्रतिशेयाद्दुः ।
 केने तु आचार्यनिर्णये 'विदण्डं परित्यज्य सर्वज्ञानविरोधि त'दित्याज्ञानाच्छीघ्रं पुष्टि-
 भागीभवेति तुरीयाधनत्वेन विदण्डं परित्यज्य पश्चात्तापमाश्रुयात्, अतस्तदनुदयाय पुष्टि-
 मार्गापेक्षयासविचाररम्भ इत्याहुः । केने तु शुद्धादिप्रमाणप्रतिपक्षस्य स्वात्मकस्य भगवतो
 विद्वत्सकमावाधुभवः सर्वोत्पन्नापत्त्येकतमः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य
 लागस्य स्वरूपादिकमपि दुर्वा ज्ञानप्रदिभागेत्यपि परित्यागस्योक्तत्वात् तन्निदानार्थं स्वीयानाम-
 विचारतः परित्यागः पश्चात्तापवैव न्येदिति तदभावात् विचाररम्भ इत्याहुः । मया तु
 केन परस्परनिष्पत्तिव्यत्ययेपश्चात्तकालप्रयोजनप्रत्यक्षपश्चात्तापपरित्यागपदभौतस्य प्रत्यभिज्ञा-
 नात् स एव पश्चात्तापेव निवर्तयेनास्य इति न दोषः । ननु भगवदाज्ञाया आवत्तात्
 तथा तत्तत्तत्प्राप्याः स्वयं च निश्चितत्वादिचारस्य नि प्रयोजनमता भाहुः स इत्यादि
 विचारणेत्यतन्म । स परित्यागः मार्गद्विषये शोकः, मार्गस्य द्विषयं मार्गद्विषयम् । भग
 वेत्याया अपयये तपविलनेन द्विष्यदादयस्यै तपम् । भगवत्तत्पदस्य 'यज्ञं प्रतीक्षीतपम्'
 इति शोभाद्व्याख्य एकदेशे स्मृतः, सोम न सहजत्वे, सुदृश्याया गुणत्वेन तत्र देशमे-
 दस्य वतुमद्यन्यत्वात्, किन्तु 'सत्त्वं सपचयः शोकः सर्वोवपविनामिदं'ति द्वादशस्कन्धे
 उपादानकारणेति श्रुत्युक्त इति तदन साध्यम् । तथा च सस्यापः कारणं सत्यैव तदन
 पदति । समाप्ते मार्गसोत्पन्ने पक्षी, तेन मार्गविरती यी द्विषसंख्यासंख्येयी तयोः
 प्रकीर्त्यावश्यकर्तव्यसंनोक्त इत्यर्थः । तत्र की ती मार्गविलनेज्ञायां, कुतश्च तयोक्त इत्ये-
 धायां बाहुः भगवतो ज्ञाने विरोधता इति । भक्तिभागे आरम्भदृष्ट्यां विद्वदृष्ट्यां
 च, ज्ञानमार्गे विविदिपदृष्ट्यां विद्वदृष्ट्यां च वेदाव्यवधिप्रपक्षं विशेषमभिप्रेक्ष्योक्त
 इत्यर्थः ॥ २ ॥

ननु 'योगतत्त्वो न्या शोकः कृपां जेयो विपत्तयः, ज्ञानं कर्म च भक्तिमे'लेका-
 दशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् न्येति योगा नृपां श्रेयसापकल्पतुत्या इति कर्ममार्गे कृतो
 शोक इत्यत्र आहुः कर्ममार्गे इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्मव्यः सुतरां कलिकालिनः ।

अत आदौ 'अधिकमार्गे कर्मव्यत्वादिचारणा ॥ २ ॥

चातुराश्रमपद्धेन यद्यपि कर्ममार्गे उक्तदृष्ट्यापि 'कर्मयोगस्तु यजिना'मिति भगवता
 तस्य कान्तावितरकालेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वेदाव्यवधिप्रपक्षत्वात् न कर्मव्यः । यद्यपि
 'यजिना भगवद्विद्वानाहुर्वा यम इति' इत्यद्विषया चातुरमपनीतभौतश्रुत्युक्तदृष्ट्यापि वलि-

कलिकातः प्राप्य सुखं न कर्तव्यः । कलिनर्ज्मेषु संन्यासश्चापि कथनादित्यर्थः ।
तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य पर्यव्यक्ता, तथापि प्रयोजकत्वेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्त किं
प्रयोजनमित्येकस्याप्यावाहुः अत इत्यादि । अतः तत्तन्मार्गे तददृष्टार्था परित्यागस्योक्तत्वात्
भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमस्मिन्नैव विचारया यथा कथयितुं शक्यतमतेः पुंशो
न च सुत्कर्तव्यनकथय्यादिनिर्वाहार्थो एव आरम्भदृष्टा, तैस्त्वर्ह्येव तद्विचारो
तदुत्तरं च्यवनशिष्यार्था तृतीया, तत्र परतः दृष्टार्था कलिकातादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति
तदर्थं तद्विचारकलिकातकथनप्रकारविषयः मित्यत इत्यर्थः । एवं तार्थेन प्रयोजनमुक्तम् ।

अथापचर्यः । एतददृष्टकथनस्य समादयेत्यामे, 'यमानुष्ठीयमाणेन स्वयि भक्तिर्न्या
भवेत् । स्वयमेवाविन्द्याद्य तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'त्युद्धरणमे चातुराग्रम्ये वदता भगवताष्टा-
दश्याच्यते 'दृष्ट्वा यथोक्तैरेवं वा' इत्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाग्रमह्यः परित्याग उक्तः ।
तदनन्तरं भक्तिमैरात्म्ययोरतिशये 'ज्ञाननिष्ठो निरन्तरे वा भक्त्यो यन्मेवमकः, सविज्ञाना-
भवास्तत्त्वस्या चरेदविचित्रोक्त' इत्यादिभिः शार्पेन्द्रादिविषय परित्याग उक्तः । अथ च
ज्ञानभक्तिन्यायिषोर्धर्मः समाप्ता एव सङ्गीर्षोक्ताः । एवं पूर्वोक्तेनि बोध्यम् । तथा 'न्याये
कुटीचकः पूर्वं बहोदो इत्यनितिक्रिया' इति चत्वारो वेदाः संन्यासस्य तृतीयस्त्वन्ध उक्तः, तेन
मार्गमेषेपि तस्य कर्तव्यता । यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्त चातुरे पदे 'दृष्ट्वाप्येताः शब्दा'दिसा-
निकरणस्यैवाचारदर्शना'दित्यादिषु कथ्यसु त्रयेषु वसिष्ठादीनां मन्त्रनिदानमिदोषादिकर्म-
करणाचारदर्शनात्, 'अनन्तो ह वै षट् दक्षिणेन यज्ञेनेव' इति मन्त्रविदोनि जनकस्य कर्म-
करणश्रुते 'स्तं विद्याकर्मिणी समन्वारभेते पूर्ववशा चे'ति धृती विद्याकर्मिण्यां कलात्मभाषयामात्,
'अक्षिष्टो यथा तं दर्शयामासमौर्तुवीत' इति कल्पश्रुती मन्त्रविदोनि मन्त्रवेदाधिकृत्यभाषयामात्,
'आश्विने धृष्टकलाममाकमेत यो दृष्टोत्तमः सोमं विभक्त्येत्, वेन्द्राय पुनस्तत्तद्व्याकमेत य
चातुरीयात् दुष्टमात् सोमं न विभेत्, विविधो वा कलस सोमपीयो यो वाक्यः सत्रातुरीयात्
दुष्टमात् सोमं न विभति । यावद्भीषममिदोयं जह्या'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताया-
वमात्, कर्ममन्त्र दम्पसविचारकलावैमिनिभेते आश्वयाश्व एव, यथा कथयितुमर्हकरणाश्रुती
कर्तव्यताकलात्, 'यदहरेये'त्यादिश्रुतिषु कर्मोक्तकलावधिकार्य-कर्मन्यादिनिषेधेति न तद्विषय-
मिति कर्मविचारकलैमिनिशिद्धान्त्यात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः । अथ 'हुत्वे दर्शने'त्यादिश्रुतेषु
हुतसंस्तर्तव्यमित्यद्वयतच्छब्देन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकतासाध्यकत्वादेनेन च
परित्यागस्यान्यपराधविचारकलावित्यनेन वैमिनिभेते अभावश्रुतिविषयसहस्य हुतार-
त्वात्, 'एतद् स वै तद्विज्ञानं व्याहः कथयः कावयेताः नित्यम् कथमन्येन्यामहे, किमर्थं
वत् वदपामहे, एतद् स वैतच्छ्रुते विद्वान्मोषिद्वेन न सुदृष्टमस्मिन्नि', 'ह्यापदे स्तव्यपुत्रत्वमिति
द्वेकत्वा याद्वयत्वः प्रवक्तव्ये'त्यादिनिषेधादिभिः श्रुतिभिः अभावस्यैवनेन कर्मकरणश्रुतेस्त्वार्थ-
विकल्पनिष्ठावमात् । 'मक्षिष्टो यमै'त्यस्मिन् अभावदेन वेदस्तर्तव्येनेतत्तस्य तद्विद व्याधिनिष्यो-

यनेन तथा श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषत्वात् । आपदवित्तुपशम्यत्वात् । 'आशितं पूजललाम'-
मितादिषु कर्मनिषमनत् 'न कर्मणा न प्रवृत्त्या यनेन त्वामेनेके अकृतलमानश्च' इत्यादी त्याग-
निषमस्तापि आपदेन रानोपायिक एव कर्मनिषम इति निश्चयेनाविशेषात्, उच्यते अपसि
तुरीयाश्रयत्वात् । इत्यप्यश्रयत्वात् ज्ञानार्थमिश्रोपश्रुत्या तत्प्रसिद्धीं यावद्विनाशितोभादिभूतो-
पपाथाय वैमिन्सुक्तदृश्यपरिहारे आते कर्ममार्गीयत्वात्प्राशम्यपक्षसाधुष्णत्वात् कर्ममार्गे
परित्यागः कर्तव्यत्वेनाप्यति, तथापि 'अभिहोयं' कर्माश्रयं संन्यासे परीतुं, देवराय सुतो-
लपिः कर्तव्यं पञ्च विषये 'दिति यत्नंमस्तथा कलिकालतत्त्व न कर्तव्यः । यदि च, 'आपद-
वर्गनिर्माणोक्तिं पापदेहः प्रवर्तते । संन्यासे चाभिहोयं च तावत् कुप्यत् कली मुने' इति प्रतिप्रस-
न्नः 'यदि वेतरया प्रसन्नचरितेय क्रमेण दृष्टश्च वनाश्रयं पुनरप्यती वा मली वा शाकलौ
पाशशालको योस्तथाद्विजगिहो वा पदहरेष्वित्येकदहरेष्वप्यती' इति समासी विरागस्य
सर्वशक्तिशालेन भावनात्, एकादशस्थान्ये 'यदा कर्मसु सन्त्येत्तु लोकेषु निराश्रयः ।
विरागो ज्ञानो सम्पत्त्यन्तः श्रमेणैव' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता
कर्मिण्यत्वात् कली च सर्वकर्मस्थान्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुखा न कर्तव्यः । अतस्तदुपशम्य-
पक्षेन प्राशम्येदानीमपि कारणाभावात् ज्ञानविद्या प्रतिविद्या वा भवति, तदा तत्सिन्धुर्गो
कर्तव्यः । तत्र सप्त भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वात्परी पूर्ण विचारणा तत्प्रकार-
विन्ता किलो, तथा च स यथेकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेष्वेकविष-
योक्तः स्यात्, तदा भावदाज्ञाभावे तन्देशमन्त्रात् विचार्यः स्यात्, अस्ति तु सर्वबो-
धः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं प्रयोजनस्युत्पत्त्या विचारणामन्ते अथवादीत्यादि ।

अथवादिप्रतिनिष्ठार्थं कर्तव्यत्वेन स नेप्यते ।

वास्तवसङ्गसाध्यत्वात् साधनार्थं च रक्षणमात् ॥ ३ ॥

अभिमानाल्लिपोन्मात्रं तद्वर्ग्यं विरोधतः ।

दृष्टदेवीयकालेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेति तादृशेरेव सङ्गो भवति भान्यथा ।

सर्वं च विषयाश्रयतः पापश्रीं स्पृष्टुं वाञ्छतः ॥ ५ ॥

विषयाश्रयतदेहानां नावेद्यः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखायहः ॥ ६ ॥

अथवादीनां नानिषमकीनां प्रयोगेन अविच्छेदेन शिष्टार्थं परित्यागः कर्त-
व्यत्वेन राः पक्षः नेप्यते नाहीमित्ये । अथमर्थः । भगवता हि कृपां अपेक्षित-

तस्या ज्ञानकर्मवृत्तिरूपं कार्यप्रयुक्तम्, निर्विण्णः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिप्रकाशेति
 यथायथं तदपि कारित्वयोक्त एकलक्षणे 'बोधाय' इत्यादिना । निष्पत्ति संन्यासस्य तत्र
 निरूपिता । तथा 'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य असंशयरूपं फलमुक्तम् । तत्र फले मार्गा-
 देव, न तु केवलान् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाद्व्यत्येन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वात्त्येव विनाशित-
 त्वात् । 'यत्र योगेन सात्त्विकेन दानकृतयोगेनैव, व्याख्यात्याभ्याससंन्यासेः प्रामुखावयवान्नी'ति
 वाक्ये त्यागाभावेन सञ्ज्ञास्यभावस्य नयनत्वा कथनात् । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव ।
 तथापि कारश्च वैराग्यात्, तत्पक्षे ननु लक्ष्यते तथा तथा त्यागो मार्गसोपकरोति ।
 तत्सोत्कर्षस्य कथं सादिति विचारे केवलतद्व्याप्येन तदसम्भवात्तन्मार्गानुकूला राक्षसाद्री
 अवगाद्यविन्नेदरूपा आद्या । अतस्तत्तिष्ठत्यर्थं त्यागः कर्तव्यपक्षेत्, स पक्षो न्योपपत्ते, न
 भवत्यन्तेर्हीनियते । नयनार्थः । नयनस्य हि 'यदा कर्मविपाकेष्वि'त्यादिभिः साधनदशा-
 न्नस्य परिश्रमकथने भट्टनेमेव तत्सोक्तम्, न तु कथितित्यत्वा अवगादिकरणम्, ततो
 'ज्ञानविद्धो विरक्तो वा मरुतो वाप्येषुक्त' इत्यादिभिः सार्वभौमिकः परिश्रमो सिद्धसाधन-
 बोद्धीनिमकपोरुक्तस्य ततो ज्ञानविष्कारात्तद्व्याप्यत्वात् 'दुःखोदरैषु कामेषु यातनिर्षेद आ-
 लम्बात्', 'अविज्ञातिहमरुतैर्गुरुं मुनिमुचयतेत् । कावलीरिषीरुक्तया अद्यापाननमुत्क-
 वावद्वय विनाशोपायान्मेव गुरुपात्त' इति द्वाभ्यां विविदिषासंन्यासोपि संपृक्षितः । ततो
 'यस्त्यसंघतपङ्गीः प्रचण्डेन्द्रियस्फुरति, ज्ञानवैराग्यरहितसिद्धसाधुपङ्गीति । मुरादापान-
 मात्मसं निहते मां च भवेद्वा । अविनाशकयायोऽसदमुपाय विहीयत' इति द्वाभ्यां
 ज्ञानवैराग्यरहिते अविनाशकयावलात्तद्व्याप्यत्वात् । अतिशयोक्त्यस्तु साधनदशायां
 संन्यासे निष्पत्तिरिति नोक्तम्, किन्तु 'मिश्रोर्ध्वः शमोऽद्विष्टे'त्यादिद्वाभ्यां लक्षणेन चतु-
 रश्रमवर्णमुक्त्वा 'इति मां वा साधयेन मयेतिलमन्यभाह । सर्वेभूतेषु यदायो मरुकिं
 विन्दते रता'मिति फलौक्तिकपूर्वकं चातुराश्रम्यवर्मनिरूपणमुपसंगृह्यत् । तेन भक्तिमार्गीयस्याति
 तत्र सतिष्ठिते मिश्रपूर्णं एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि अवगाधार्थं संन्यासः
 विन्येत, तत्तत्क्षणेन तद्वैभवं विरोधः सादित्वाभ्येन प्रथमं संन्यासाख्यविरोधात्मकं
 दोषं सूत्रादप्यति सहयोगेत्यादि । संन्यासस्यार्थं हि आपातश्रुती 'तद्वैभवं प्राज्ञपत्त्या'नि-
 स्सारस्य 'एवमेवैतद्व्यप'दित्यनेनोक्तम्, तदेवैकस्वरसक्त्ये 'इष्टा यमोदरेण वा' इत्या
 तर्कस्युत्तिरे । अतीन्द्रियाय आवेशेन निरपेक्षः परिवर्णे'दित्यनेनोक्तम् । तथा सति 'अणु-
 वचनं कृत्वा जीपत्त्याद्विषयगत' आद्याष्टकं विषय आवापलापिष्टि कृत्वा भवेन्प्राज्ञीन्
 सूत्राय आवेश्य तैरेत्येव सर्वं परिश्रमयतििति सिध्यति । अपवादिकं तु सहायसतद्व-
 सारण्यम्, सहायः समाप्तशीलतया सहकारी, कल्लदेन साधयम् । नहि अत्रविज्ञां विना
 श्रमं सिध्यति, न वा ओकारं विना कीर्तनम् । नौ च नैतेन सह परिश्रम इति न अपम-
 कीर्तनयोः शिष्टिः । मधुरमर्थमिति पठेत् तु अर्थमेव बुद्धिर्विषयकमिति पूर्णोक्तं श्रवार्थः ।

नयेतेन सह परिग्रह्यतादा नैवेद्येनैव सर्वत्रैकान्वितिरावश्यकं संन्यासस्वरूपं विरुध्यः (स
 नेत्यत इत्यर्थः ।) कियेदानीमुक्तलोपोपनिषेधमात्रात् भुत्वपि स्वरूपस्वीत्यादिकं न इति
 निश्चितीति एतत्त्वमर्थं दुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्थनार्थं तदुपकृतमपि रक्षणीयम्, तदपि
 नैवेद्यं विरुध्यति । यतः अथवादीनां सदापराधसाध्यत्वात्साधनानां रक्षणाप संन्यास-
 स्वरूपविरोधतः स नेत्यत इत्यर्थः । यदा, 'परत्नसंयतपद्वने' इति द्वाभ्यामसंयतपद्वनेस्त-
 दिदम्बोपजीवने बाधकं कथ्यता मन्वता पूर्वीकविदम्बितापनवरक्षणं सन्तो, तद्वर्धनं च
 'एकमेवेन्माहीमेता'मित्यादिनिषेधं यतोः पूर्वमुक्तयो एव कर्तव्यत्वेन शिष्यन्ति, न तु
 अथवादिकम्, एकपरमे सदापसतामात्रात्, एतपि सदापराधे सितोः नर्तुमशक्तत्वात् ।
 तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अथवावरणात् । एवं सत्यत एव परस्पर-
 स्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः । यपि कृते स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्येव तदर्थेन
 विरोधत इति चकारदर्शनात् तथैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः । अथ विदम्बिनोपि
 चातुमीस इकवस्थितेः स्मरणात् समकतापि 'विनिष्कलेपचरणो मद्वापविमताशय' इति
 कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं सित्वा यन्मादितापने को दोष इत्यापराधायां वस्तुतर्प-
 विरोधरूपं दोषान्तरं म्मुतादपनि अविमामादित्यादि । अविमानो ययैः, मद्वा-
 ममतापलो वा, तस्मात्, सितो हि, तत्र 'विद्यां चतुर्षु वनेषु निगच्छीत् पर्यषमेव',
 सतागारावर्षुसांस्तुभ्येत्येताप्येन तावत् । पद्विनेताधनं यत्ता तनोपस्तृप्तं याम्यतः । निमज्ज-
 नापि तेषं शुद्धीकाशेपमादृत'मिति द्वाभ्यामेको विज्ञानकार उक्तः । तत्र सतागोषु कस-
 चित् तेषं शुद्धीकाशेपमादृत'मिति द्वाभ्यामेको विज्ञानकार उक्तः । तत्र सतागोषु कस-
 चित् दुष्टयो मोते ततोपगहाला च तस्य वक्षणे कृते विविदिषादशापानिष अकथादि-
 साधनदक्षायामपि प्रत्यादिपक्षयतेन शरीरविमत्या च प्रतिबन्धितितारणार्थं पारुष्याव-
 वानयोः संन्यादा । 'अविषादांशितिक्षेत वायमन्येत कथने'ति संन्यासपर्वेण अगवदुक्तसा-
 तिकथेन तदर्थेन विरोधः । तत्र, निषोमनात् नितां योमी निदोषः, 'तस्मात्सर्वतमना
 सनन् इति सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्वर्तव्यो भयदायूना'मिति द्वितीय-
 स्तुपचारःकोपमाकर्तव्यं तस्मात् । न हि कृत्वा कृतं अथवादिकं प्रेममार्ति जनयति,
 किन्त्वापरीमानम्, आशुविष सित्वा, सा च 'एकमेवेन्माहीमेता' निरुद्धः संपतेन्द्रियः ।
 आत्मकीड आत्मरत आत्मवान्माहर्षेण' इत्यनुक्तेः पतिमागपर्वेर्विद्वत्ते । कृते हेतु-
 योपमादितादर्थेविरोधादपि तथेत्यर्थः । नत मायु अथवात्तव्यं संन्यासरूपे वेपः वरिताग-
 तपानि पृष्टदीनां निप्रासकित्वनक्तया मन्वदासकित्वापकलेनापार्थं साध्यतात् । 'ज्ञान-
 विष्टो विरक्तो वा मरुको वापनेष्टकः । सतिज्ञानाधर्मास्तस्यत्वा चोदतिविमोय' इत्युक्त-
 रीतिवत्स व्यापान्तरस्य अगवदावधितारापनार्थं कथ्ये को दोष, तादृशलो च सदापार्थ-
 विरोधरूपपूर्वीकतापक्षमात्रात्, वैतान्यस्य ज्ञानजनकत्वं यदा, तदा गृहसाधकं कर्तव्य-
 इति वक्ष्यस नतकृतमपिजीवस्तुतितात्पर्यनिरूपणपक्षे निगदितत्वेतादर्थेन परिहृत्य
 म्मुतादपनि गृहादित्यादि । गृहपनादेर्गणदावधितारापकलेन साधनार्थं मन्वदासति-

साधनार्थं, यदि तथा नवीपलायाः कर्तव्यमेतु तोति नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पदद्वयं
अनाव्यस्तुप्यन्ते ।

एवमनूय परिहरन्ति अग्नेयीत्यादिश्राम्याम् । त्वानो हि न सततं साधनमस्मि
तु भारीकृतमेति पूर्वं व्युत्पादितम् । तथा सति सार्धं एव सततः साधकः । स च 'नतया
सञ्जातया मज्जये'ति वागवात्यर्तुं अन्यादिभवेनापेक्षते । तत्र आनविनादिरूपं सहायम् । ते
च 'हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता मगमन्त्यस्तत्तत्तरा' इत्यादिना नतमेदे ये निरूपिताः, तादृशा-
भित्तदानीं दुर्लभा इति 'साधकाः कृतकं कथा' इत्यादिना न उक्ता साधका वा पौराणिका
वा मिलन्ति, ते च तथा स्वयं पृष्टमन्तो निरविश्वनाथो वा तादृशा एव, न तु सत
उत्कृष्टाः, नतोरेति नाहवीरेव संगो भवति, मान्यथा, नोत्कृष्टमन्त्रकः । तथा च
संगदोषेन साधितेकताभावाच्चेत्यत इत्यर्थः । अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति,
तदा पृष्टपरित्यागे को दोष इत्याशङ्कयां सीमदोषादपि तत्कालमाहुः स्वयं केलादि । चोष-
ये । साधमणि विषयाकाशन्तः । 'इन्द्रियैविषयाकूटै'रिति न्यायेन पथेन्द्रियविषयाकूट-
मानसज्ञानविषयायन् पापघ्नी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्रं व आशौ वनसा स्मरन् । इन्द्रि-
याणीन्विपृष्टात्मा निष्पायातः न उच्यते' इति भीमाचार्यपात् तादृशाः सञ्चयधर्मीलवतर्पण-
साधनभावाकः पापघ्नी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायकमाहुः तु कालसत इति । तु
हुनः पूर्वप्रतिपक्षरूपात् कतेरपि तथा स्यात् । अतस्तत्प्राप्तौ संगेति पापमिलत्वात् पतितः
स्वादतो नेष्यत इत्यर्थः । अथ 'यदि सभादपन्त्यर्षी' इत्यादिप्राप्तैः कतेः (अथवा) कीर्तनाप-
त्रयत्वेन पृष्टत्वात् दोषाकम्पौ निगम्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि । सर्वं कालः
कीर्तनानुगुणः, तथापि कतेरपि एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपेति, तेषु वाग्येषु तथैवोप-
न्नात् । कते विषयाकाशान्तदेहानां पूर्णकरीला विषयाकूटस्मृतिलिगशीलानां कालतः
कतेः सकाशात् हरेदरावेष्टाः सर्वदेह न, मगमविपत्ता सर्वदेह न भवति, किन्तु कदा-
चित् । तथा सति यदा आहूतयेष्ट साधका पूर्णकस्य सर्वस्य प्रतिपन्नात् पापमिल-
मेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पठे तु काम इच्छा, तथा च विषयका-
मनया तथा सादित्यर्थो बोध्यः । लदेरविगमपन्ति कालोभेत्यादि । अतः उपेक्ष्यो
दोषेभ्यः, अथ काले, मन्त्रौ नकिमाने, साधने साधनदशायात्, तादर्थ्यप्रकर्मिणो
आसक्तिसाधनार्थं वा, कामो पृष्टपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीताद्यपिपत् पाप-
मिलत्वापादयन् मगमदासक्तिरूपं गुणं न जनयति, तस्मात् मगमसाधमणि साधनदशायां
सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अथ यद्विषयै मगमता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य
मेवमभक्तिसाधनदशापादकत्वमप्येति साधिते वादिन्यात् तस्मिन्नदशायाम् पन्थेत्वजर्पकत्वेन
कर्तव्य इति मिदम् ॥ ३-६ ॥

तत्र 'मज्जया स्वल्पया जनय अहमेतिषोद्वेन । ज्ञातुं इदं च तत्वेन पनेतुं
च परेत्ये'ति भीतायां मगमज्ञानपात् कलस्य शयी विधा । तत्र कथं कलस्य कर्तव्य इति

किम्, माया ध्वन्यत्र स्थितमन्त्रप्रत्यापकतीति 'कलेर्वै बल्यतीयेति'त्यत्र युगोपनिष्ठां स्थितम् ।
 मन्त्रार्थरसलीलायां योगक्षपणमुपाययतीति पद्याभ्याभ्यासत्वे स्थितम् । सा च न विभक्ता-
 पाठसि तु भगवद्योगार्था भावा । एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युगुहति, तदास्य योग-
 मापया साक्षात्तं विरहं बोधाययति, यन्मन्त्रवक्तव्यं परमा तिरोधानादिकम् । अन्तर्पद्विषय
 भगवन्तनुभाषयति । भगवांस्तु सर्वमन्त्रपद्विह्वल्युत्थानोति निरुद्धपद्मोत्पत्त्यात् परित्यक्तः ।
 एतन्मार्गे च भगवतो पद्विः प्राकट्यमेवावीष्टे, तद्वैश्वर्यादोन्यदा ध्वन्यवादः । एवं सति
 युगुहाविषयस्य भक्तसानन्दवक्तित्वतो योक्तृसाक्षात्कारत्वात् पद्विह्वलापदयन्ती माया
 वास्तविकप्रगत्यायकं करोति । तादृशो वा साक्षात्कारः, सर्वोत्पत्तिभावजन्यो मूलविधायां सर्व-
 विषयप्रत्ययवितर्कमतया सिद्धः, स एव निरुद्धातुयवत्त्वेन बोधितः । तदर्थं यः परित्यक्तः
 स एकादशस्तम्भे चतुर्दशस्तम्भे भगवता अत्यन्तं स्तूपते । किम्, निरुद्धानन्तरमासी
 अतुल्यो पद्विः साक्षात्काररूपं सम्प्रादुर्भवं, तदर्थं यः परित्यक्तः स भगवता प्रत्येकं, 'पद्या
 यवनो लम्पयने विनष्टे' इति सार्धद्व्याभ्यां पद्याभ्याभ्यां स्तूपते, अतस्तदर्थं कर्तव्यं इत्युच्यते ।
 एतयोराद्यस्य प्रथमा स्तुत्यापत्तेः । तथा हि, 'यदस्ति ध्वन्यं बोधोसी'त्यादिना वैदिकोक्तत्वात्
 नाना भगवद्भक्तवक्तृत्वात् तात्पर्येण पुरे, भगवता 'धर्ममेकं पञ्चभ्याम्' इत्यादिना वक्तेः फलो-
 ल्कर्णं, 'वक्तव्यमस्य दान्तसे'त्यनेन सार्वभौल्यं, 'न पारमेष्ठ्य'मित्यादिसिद्धयन्तमन्त्रो-
 ल्कर्णं, 'निःकियता' इत्यनेन सार्वभौल्यं, 'पापमन्त्रोसी'ति द्वाभ्यां सार्वभौल्यं, 'न
 साधयती'त्यनेन सार्वभौल्यं, 'मक्तिः हुवासी'त्यनेन भक्तैरत्यन्तापायनं, 'धर्मः सते'-
 त्यनेन परमादीनाम्ताप्यात् बोधत्वा, 'यं विना योगद्वयं इत्यत्रा वेतसा विना । विना-
 न्दाधुक्तया ध्वन्येकत्वा विनाशम्' इत्यनेन उच्यते । भक्तिः कर्तव्यः परिचाययित्वा, ततो
 'पापमन्त्रा इत्यनेन यत्तं विष्टं, रुद्रसमीक्ष्यं इत्यनेन कश्चित् । विष्टं यज्ञायति कृत्ये च मन्त्र-
 कियुक्तो ध्वन्यं हुवासी'त्यनेन निरुद्धान्तरमन्त्रवत्त्वं तादृशमन्त्रिमात्रमन्त्रं स्तूपते । अतस्तस्यां
 दशायां जातयां तदर्थं कर्तव्यं इत्यर्थकत्वाद्युच्यते । तथा तत्रैव द्वितीयाप्यात्वे यथिनयति
 'यन्नेत्युक्तध्वन्यमन्त्रवत्' 'यन्नेत्युक्तं यत्तं यन्नेत्युक्तध्वन्यमन्त्रवत्' 'यन्नेत्युक्तं यत्तं यन्नेत्युक्तध्वन्यमन्त्रवत्'
 सुप्रसङ्गि रत्नोपमापेयैरन्तानि कर्तव्यानि च यानि लोके । यानि नाशानि तदर्थं यानि नाशानि
 निरुद्धे विष्टेरेदं । एवंतः सविधानामन्त्रोत्ती नाशानुरागो हुतचित्त एवैः । इत्युक्तो
 रोदिति रीति वाप्युत्पादयत्यसि लोकनाशः । एवं वाप्युत्पादयति सति सति यदी च योतीनि
 सत्यानि दिवो हमादीन् । इतिनामुदायं रीः यदी वक्तव्यं भूतं यन्नेत्युक्तध्वन्यः । भक्तिः
 योग्यतुल्यो निरुद्धात्तव्यं यैव भिन्न एव यत्तः । यत्तमानसं यत्तमतः स्तुत्यादि दुष्टिः
 दुष्टयन्नेत्युत्पादः । इत्युत्पाद्वि भगवतोनुत्पादा भक्तिविरक्तिर्भवत्युत्पादः । भगवत्तं यै भाव-
 तस्य सर्वगतः यदी यानिस्तुतिरिति साक्षात्तिलानोभोभ्यते । एतद्युगोपनिष्ठां च अगमस्यन्धीये
 'वाच्यमन्त्रासे'ति नादकाव्ये कर्मज्ञानमन्त्रीनां प्रयागां फलदापकस्यभित्तयातुक्त्यो य

उक्तस्तत्स्वरूपमत्र कविनोन्वय इत्येवमवतर्येति पथस्रोत्रा न्यासकृताः । तत्र त्रयमे 'आदी
 एहासिर्गय' इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, नगमकृन्मादिप्रवर्णं तद्वानं विचारणं तत्रा-
 माधय, भद्ररूपसंरूपत्वेन बोधिता । तत्रो द्वितीये 'एवं प्रथ' इत्याद्युक्तैरुपमैः प्रकृत्युक्तने-
 नात्यैकिकत्वपूर्णं लोकपाद्यत्वं बोधितम् । तेन विद्वानुक्तपदानामसैनं स्फुरीकृता । ततस्तृ-
 तीये एवं विचारणकर्मणा लोकावलिखणेन ज्ञानमप्यसि एवदेव्या गुरमविक्रमिणे । तत्र स्यादपि
 समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षधर्मिषु प्रथमतः किमर्थमर्थं हरितरीरत्वेनोच्यते । तेन तेषु तया-
 लज्ञानमर्षादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्येन 'ज्ञाने'लप्येन ज्ञानं 'प्रणयेदमन्य' इत्यनेन साधन-
 मतिबोध्या । ततस्तदुपेयथाभ्यां दयान्तपूर्वकं प्रथमप्रतिपद्यन्ज्ञानतदितरनिराकीर्णां गुरु-
 पदप्रत्ययेन साक्षात्सामग्रान्तिरूपं फलसुताम्, तेनानि कर्मज्ञानमतीर्णां यत्परमं फलं तदनेन
 मार्गवित्तदातुकम्यरूपेण परित्यागेन मन्वीति सादृश्यप्रसङ्गैव सुबोधिन्नुक्तप्रकारेण सिध्य-
 तीति बोध्यम् । तन्नेवं सत्यम संन्यासप्रेमः कुतो नोक्त इत्यत्र आहुः स्वीयेत्यादि । स्वीयाः
 पुत्रदातादयः सत्यतो नो कथ्यन्, स्वस्य तेभ्यस्तत्त्वमन्वेति तेषां स्मृतिन्याड्यवतिष्ठतिदु-
 र्यर्थं, अथ कस्मिन्मक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेदा, विदम्कवीपीनभारतादिवेदाः । न
 चान्यथा । बोधधारणे, मन्वसा तत्त्वतपन्धास्ये सति, न च वैपरीक्षितः, कस्य पश्य पन्ध-
 रंमाधना तस्य स वेद आचार्यस्रो, कान्यसेलसार्धनिकत्वाभोक्त इत्यर्थः । ननु मन्वदुपेतु
 प्रसंगमात्रमेषु परित्यागो न प्रकटयथा प्रतीयते, कविवाचयेषु च ज्ञानमिप्रवक्तो प्रसंगा
 प्रतीयते । एं वादुपविमिति वान्यात् । तथा सति शुद्धमक्तिसार्धस्य कदापि प्रसंगा
 कर्म निषेधेन सत्या, तद्वत्किञ्चनमादित्याकांक्षायां तद्वत्किञ्चनमाहुः कौण्डिन्यो गो-
 पिण्याः मोक्षत गुरय इति । कौण्डिन्यो क्वचनदोषकस्यामी प्रसंगेयोल्लादपत्त्याद् दा-
 रिद्रमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलया दास्यदादन्तापरप्रजन्यं तदृष्ट्या निर्दिष्टोमन्तां प्यापन् क
 द्रव्यामीत्यादिपरा एहासनं निर्मते, निरसनं यतं मकरर्षे च कृत्वा हरिं वपन् निषेधेनान्ये
 पत्ताप्यं पौनःपुनरीधेततानपेयनां च नहृन् चमप्य, ते सर्वैरति नानन्तोस्माभिरेव इत्युक्ते
 निहृतीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्यं च विमलं पुत्रते पञ्चत, तदा किञ्चित्तानोतरं
 संघां प्राप्यानन्तेति कल्पन् तस्मिन्वाये सुनिर्मिण्योऽभूत् । सः कृन्ताऽप्यन्तेदेवोति शुद्धमा-
 क्यरूपेण प्रसङ्गीभूत् 'एवं सती' सुकृतां सतालं कवेर्य, कौण्डिन्य दक्षिणे करे एहाता
 स्वपुत्री दर्शयामास । तन दिव्यकिङ्कमनिकितं स्यात्पानं च ससुभयमद्वयपुष्पोभितं दर्शया-
 मास । ततस्तं वपुः परया मुद्रा प्रकटः कौण्डिन्यः 'चतुर्हं पादयोर्हं पादाभ्यां पादसम्भयः ।
 वाहि मां कुण्डरीपाद्य शरणं मे मन्वाभ्युत । नव मे सफले यन्म जीवितं च सुवीरियम् ।
 यत्तर्वाभिमुत्तंभोये मन्दर्द्धं प्रमदपन्न'इत्युक्तवान् । मन्वाभ्यु तस्यै दक्षिणतानं धर्मं
 समजानं विपुल्येकं न नं दध्यानिमिति कविन्योरो मन्वसा सुनिर्दिष्टं प्रत्युक्तम् । तेनानं
 परित्यागः क्वादिकृत्प्रकथनाभावात् केषाकयेवद्विद्वत् सत्त्वप्रधाने साधनान्तप्रेमैरहितः

मान्यमानस भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न सादित्यत आहुः भगवत्-
नित्यादि । स हि फलरूपः, प्राचयेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साध-
नत्वस्यानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्युच्यते । एतेन येषु बहिः प्रकृत्योत्तरवन्ताः प्रवेश-
सोपां समोपुक्तिः, तेषु च बहिः प्राचयमेव, नान्तःप्रवेशस्योपनिर्दिष्टं लीलातुल्य इति श्रुत्ये-
ष्वपि व्यवस्था कथिता । तेन न कोपि बहिषि विरोध इति ध्येयम् । ननु यदि भगवान् फल-
रूपत्वात् बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव कथा विजने दर्शनार्थं कृतमात्म्य वाददाय दर्शनं दत्त्वा
विरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं भगवानं तं प्रति 'द्विषाव्यमिमं लोकं गन्ता मृद्वनतानसी'ति
स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न बहिः ? स्वास्थ्यं
च कुतो न करोतीत्यत्र आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाच्यं स्वास्थ्यवाचकम्,
विनायक्यद्वाचः । स्वास्थ्यसहितं वाच्यं स्वास्थ्यवाचकं सन्, भगवतः न कार्यम्,
अहं तस्यः, कर्तुं योग्यं न नयति । तत्र हेतुः, दयास्तुर्न विरुध्यत इति । अयमर्थः ।
वाद्यो कविप्रकृपायः परं गुरुभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं विरोहित एव वाक्यमुक्तवान्,
स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते लन्तार्थद्वयतामिवास्ति अथ एव तत्तत्तं वाचनीयः । स
बन्धो यदि स्वास्थ्यकृता कदा भगवद्विरहक्रीकृताभगवदानिर्भवनाशेषमुत्तमान्मात्रेण निव-
र्तनीयः, मायसीलकृता । यदि तादृशेति वाचकं वदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा समो-
पुक्तिं विरुष्यात् । अतो दयास्तुत्वात् विरुध्यते । अयं कार्यकर्तृविप्रयोगः । तथा च स्वा-
स्थ्यवाचकत्वमेव ददातुं विरुद्धि । सर्वं तु दयास्तुर्न विरुध्यते । अतः परमकृपया साध-
नेव शीर्षं बन्धविपुलिं विधातुम् तत् इयं न करोमीत्यतः स्वास्थ्यवाचकं कर्तुमनर्हमित्यर्थः ।
ननु यदेवं तर्हि 'पाण्डुरो'त्यादिना भुवनपालनत्वेन यः सर्वं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्य-
दिकमपि न करोतीत्यर्थक्यापमाहुः दुर्लभोपमित्यादि । अयं समोपुक्तिसम्पादकः परि-
त्यागः तादृशस्यापि दुःप्रापः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा सिध्यन्ति तान्मयेति । तथा च ते
पश्यति परमवक्ता, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिषाः, केचन शुभहृलान्मर्षादानिभ्यः,
न तु शुद्धाः कदा प्रेम्णयाः स्वरूपवाचकाः । अतस्तत्त्वविकल्पप्रधानात् करोमीत्यर्थः । एतन्न
मतिगतापित्यागे शुभदयस्य कथनेन फलनितम्पक्षेभ्यस्तत्त्ववैकल्यकथनेन चावस्थाने-
दारिद्र्यवादधिकारविशेषात् प्रेम्णया निरुपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेम्णैव एव
तत्र तत्र तादृशविकारसम्पादक इति च साधितम् ॥ ७-१३३ ॥

अतः परं मन्येकारुच्यकम्पीयदर्शनापाः मतिविरमतादृशत्वेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे
सर्वप्रसन्नतायां स्वास्थ्यदद्याकर्तृमन्त्रस्य परित्यागस्य विलम्बवत्तया ज्ञानमागीयतागतीत्येव
विशेषभवादाविचारितत्वादेवं विहाय विचारितो ज्ञानमागीय एव कार्यः, किन्तुद्विपक्षे-
त्वात्कस्यां मतिमताविश्वस्वम्पदार्थां निःशुद्धत्वं वक्तुं ज्ञानमागीयस्य विवितावनिवित-
म्पवता च साधयन्ति ज्ञानमार्गे इत्यादि ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तरार्द्धं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिभ्यश्चान्मृतम् ॥ १५ ॥

अतः कस्यैव संन्यासः पश्चात्तापश्च नान्यथा ।

पापविहृत्य भवेद्यापि तस्याज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रसक्तत्वादिति श्रुतम् ॥ १६१ ॥

तुः पूर्वोक्तप्रश्नानिमित्ते । ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः । अत्र द्विविधोऽपि संन्यासः ज्ञानार्थमुत्तरार्द्धं च यथा साधना विचारितः । विचारविशेषग्रहणमेतत् । उत्तरार्धे तुतीयेषु तुतीये षडे 'ऊर्ध्वरेतुसु च शब्दे रीति' सूत्रे विविदिदोषान्मोक्षोत्पत्त्यर्थतया ज्ञानज्ञानस्य कृता-
नुपपत्तिपन्थविचारफलान्तराश्रयतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूप-
वन्मृतैः, न तु जीवम्, 'यद्वा कल्पनामन्ते ज्ञानान्मर्त्यं प्रपद्यते । यद्वा देवः सर्वमिति स
महात्मा मुमुक्षुः' इति गीताश्रयत्वे परोक्तज्ञानवती 'यद्वा देवः सर्वमिति साधनोपैर्बहुवन्मान्ते
कथमात् । अतिप्रपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विद्यमानेन मने हेतुं स्फुटग्रहयन्ति ज्ञानं चेत्यादि ।
ज्ञानं गीताश्रयचोक्तवृत्तिरुक्तज्ञानाकाररूपं साधनलोकम्, कर्तव्यज्ञानगतिरूपं साधनं सौख्यसाध-
नपेक्षते । अत्र ब्रह्मणम्, यज्ञादिभ्यश्चान्मृतम् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'भयात्तामसमृतम्'
इति श्रुती प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वमिच्छा च यज्ञादिभ्योऽप्येवमिति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं
च न शनदस्मादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाप्रमत्ताभ्यक्त्यर्थं श्रमादिस्तद्व्यवहारित्वेनापेक्षित
इति ब्रह्मकारित्वसूत्रे स्फुटपरितम् । अतः देशहत्यादिरूपसाधनवैयर्थ्यमेव निहितकर्मात्मक-
सहकारित्वमैः कैवल्यैः यज्ञादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिषादशोकः संन्यासः कस्यै-
व पश्चात्तापश्च नान्यथा चेदम् । तर्हि विद्वज्जोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति ।
अन्यथा निद्वयकारणः कस्यैव सत्यापत्तासम्भवापेक्षतः । किम्, न केदमर्थं किन्तु पाप-
विहृत्य व्यापि भवेत् । विशादिमुद्रासाधनोपैर्गर्भसंस्पर्शवत्, यज्ञादिवचनैरेतत्, अ-
पिगन्धात्, 'आरुह्यो निक्षिप्तं पर्वं यस्तु प्रत्यज्यते पुनः । प्रापयित्वा न यजयामि येन हृष्येत्
त आत्मदेहि त्वमशोकः कस्तु संलभते । तिर्यग्गुहः तस्यादित्यादि । यस्यात् विविदिषा-
संन्यासस्य कस्यैव स्यादित्यन्तरम्, विद्वत्संन्यासस्य पञ्चगव्यसत्याकारात् ज्ञानमार्गे नैव
संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुखमभित्यादि इति श्रुतमिति । कस्यैव संन्यासं निषे-
धकः साधनपरित्ये निष्कृतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिपत्त्यर्थं काचित्प्रत्यक्षं सर्वभोगमु-
ज्यत इति बोधितम् । अथवा न्यक्त्याश्रय कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारपात्रानेतावत् सिद्धम् ।

सर्वमार्गे वैमिषिगते रदित्यागस्यार्कान्तरा, कृतान्तरे चातुरागम्यवशेन कर्तव्यत्वेति
कलिद्वयवदकर्तव्यता, मतिमार्गे कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेति अथवादिसिद्धार्थं करणे संन्यास-
सारूपतद्वर्षपरिपोषात् संन्यासत्वेन कर्तव्यवैयर्थ्यात्मकत्वेन चार्कान्तरा, तथैव स्यादसाधनार्थं

[illegible]

येति 'सर्वं निष्पुमं वग'दिति वाक्यप्रतीकत्वात् अहीनरेषामिति तथोक्ती दोषान्नापा-
दिति । आचान्तेत्येवम् । किञ्च, नयं भक्तः आत्मप्रमदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण
सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु सार्वमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा मियमार्थं भग-
वतः, 'नो मद्भक्तः स मे विकः' इति वाक्यात् । माया तु भगवत्सम्पत्तेरन्वयं विद्वेति,
'विराजमानया वस्य सप्तुवीधायनेसुखा । विमोहिता विकल्पन्ते ममाहमिति दुर्धिय' इति
द्वितीयस्कन्धस्याप्यात् । उक्तवत्कश्च तु न दुर्धौलम्, भगवति वदसौहृदत्वात् । नाप्यन्वया-
सक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्दुर्धुमिः सति न भक्ते मोहयितुं शक्ते-
त्यर्थः । एवमेतेन विचारयेनास्यावाग्वदज्ञायामपि भक्तिग्राह्ये स्थाने न वशात्पारिदोष-
सम्भावनेति सिद्धम् । गृहद्वन्द्व उपसंहरति तस्मादित्यादि । वस्त्रादन्ये जगत्प्रकाराः
सरीसाः अहम्भविषय, सुखस्वादां नानैकानि । वाद्यसाधुपुष्टतत्त्वेन स्थानाधिकत्वात् ।
अतोऽप्यनेवाज्ञातिवयो भवितुमर्हति, तस्मात् वस्तुमन्त्रादेन भगवतोऽयं प्रसादयेन प्रसा-
देन भक्तिग्राह्यः परित्यागो विधीयताम्, भौतः कर्त्तव्यः । अन्यथा उक्तविकारा-
भावेति त्यागकर्म विचारकसङ्गादेति उक्तकर्म च स्वार्थात् स्वस्य यः भर्त्ता प्रयोजनं
विराजदुभयो भगवत्प्रसादस्य तस्माद्भूषणे, 'पुत्रो भवतीत्यर्थः । नयं स्वस्य निश्चय-
मातुः इति मे शिक्षिता मनिरिति । एवंप्रकारिण निश्चयवती यम सुद्विदित्यर्थः ।
जीवदुःखकर्तृकस्य परित्याग एवैकपत्तुतीवस्कन्धे चतुर्थीभावे 'इहागतोऽं विरहातुरागमे'-
ति 'सौहृदं तर्ह्येनाह्लादविषयोवातिमुक्तः प्रभो'तिस्तेषाम्नां चोक्तिः । तृतीयस्य चतुर्थे चार्दे
'वदित्पुमवपति स्तेषां चारणे'त्यधिकार्ये विधारितम् । तत्र हि प्रभुरमगमज्ञानमात्रवतः
साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहलगाः कर्मणो न वेति संशये कलस्य सिद्धत्वात्तापस्य
कर्त्तव्यः । 'अहर्लोपासयामासी न कश्चाम गृहा गता' इति वाक्यात् गृहाणां कन्धकला-
भावेन द्वितीयसामि न कर्त्तव्य इति प्रभो वाद 'वदिति'त्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासार्थं
तुमुशब्दः । अहमात्रे साक्षात्कर्मत्वमप्यन्ये चैत्युमवपति वदिः गृहद्विर्गन्धनम् गृहलगा
इति वाच्यम् । स भावयस्कः । तत्र प्रमाणमाह 'सत्येतां चारणे'ति । 'त्ये तु सर्वे परित्यज्य
सौहं सत्यनपन्थुः । गव्यमेव यथा सत्यम् समस्तं विचार्य मा'वित्यादि सतिर्भगव-
त्प्रापकसत्साहचिरित्वापि बहिर्गन्धमाह । उदाचरोति भवेन श्रुते, अतस्तथेति निष्कर्षो
उक्तः । अर्थे च स्थानो नाथमप्यमरुतः, तस्य चो 'उर्ध्वेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारि-
तत्वात् । न चैवमस्मादसिन्धुत उक्तो विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शङ्कम् ।
प्रकारात्तुलेतेन उपात्ताभावात् । सुवर्णवर्जितकर्तृकस्य ज्ञानमापीवसलीपसम्प्राप्त्यापि
वशात्तथेति ॥ १७-२१ ॥

एवं त्यागप्रकारं वक्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरति इति कृप्यप्रसादेनेति ।

इति कृप्यप्रसादेन वाङ्मनेन विनिश्चितम् ।

शंखाधिनिर्ययः अज्ञानवन्धना पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विष्वास्त्यपरित्यागः पश्चात्तापनिवृत्तये ।

प्रसीदन्तु कदा कदा मद्गीहृतवितृत्वका ॥ १ ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गजित्तये श्रोतये भवती इत्येव विद्वेषतः ॥ २ ॥

भक्तानां स्मृतिश्रुतेभिः भगवत्श्लोकां रित्येव सम्वादयतीति वस्तुस्थितिः । यदा साधनदशाया भवेन चिकीर्षिविधिं परित्यजे तदा पवनमासङ्गं तत्र विप्रात् करोति । ततो भक्तस्य तत्कारुण्यज्ञानात् पश्चात् सेवयत्नस्ये भावमादृशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेति महान्दले परित्यजे भगवानभिप्रात करोति, मतो यधि न कुपेति मनःफलमुपाधिसत्ताभावात् सर्वमेव स्पर्धयित्येवमस्य । तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वहृदयविवेकः विचार्यते, क्षमनस्येव सुविधिः परिशील्यते, तत्कारुण्यं पश्चात्तापं पोष्यते, न तु वर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशाया निषेधस्त फलदशायां च स्वहृदय-
व्याप्यवन्तं पश्यन्मात्रमादित्यर्थः । भक्तिमार्गविवेकं फलानुभवरसते कृतौ वेदेन्द्रियादिषु स्वीकृत्यस्ततोऽभिवर्तित्वेन पूर्वनिवृत्तत्वाद्यो वा परित्याग इति कर्तृफलस्य कदापि प्रयत्ना-
मुक्तं भविष्यति, तज्ज्ञाने मया साधनदशापञ्चत्वाद्भवतीत्यभिप्रात कृत्येव कर्तव्येति स्मरित्वा
कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भवतीति माय । श्रुतिविधिः क्षमार्थविधिर्द्वयार्थं सामान्यत-
त्वरनिषेधमाहुः स इति । फलफलवस्तुवृत्त्यर्थं च मार्गद्वये विद्वेषतः श्रोतः इत्यर्थः ।
यद्यपि सर्वमानस्याधनपक्षेनेनेकः, तथापि वाच्यतायाः प्रयत्नाति निषेधतो
नोक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्तव्यतायोपपन्नस्येन पूर्वनिवृत्त्यर्थमात्राद्भवती तिसात्पूर्वनिवृत्तिं कर्मेति ।

कर्मेभ्यो न कर्मेभ्यः सुनरां कर्तव्यताः ।

अत आदी भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादिव्याख्या ॥ २ ॥

सेवाश्रयणादिकमपि न सिध्येदिति भावः । ननु ते वीरश्वा इति वदन्तु, स्वस्य किं दुष्प्रसंगितल
 बाहुः स्वयं चेति । ते विषयान्तरास्तत्त्वाद्वात् स्वयं च तद्विनिर्णये कृपादिमिराधान्तो तुल्यः
 सन् पाशुपदी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यल बाहुः
 कात्तल इति । कलिकातस्यादायैसम्पत्तदकृत्यादिति भावः । साधनदशार्वा कात्तल प्रथलत्वा-
 विधितमेव सादिति पञ्चान्तरमिषयनस्तुतान्दः । मार्गादिसहभावे विषयकममेति पाशुपदल
 तु न भवेदिति भावः । ननु निर्विदविषयकममे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, समागमिषकल
 तु विष्वाश्रयत्वात् नच किं बाधकमित्याशङ्क्य समामेविरोधमन्वाहुः विषयेति । सन्निपैरनिनि-
 देर्विपदैरन्तःकरणमेपाकान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राप्त्यामनाकान्तत्वात् तैः सेवाश्रयणादि-
 करणे निषर्तेत् । तदा नित्यकल्पदानेच्छो भवेत् । परमिपैरनिनिदेसु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया
 द्येदुरच्छ्रयनर्कः कलिलोभ्येन देहपर्यन्तमाकान्तं भवति । तथा च देहचदेहेन्द्रियप्राप्त्यान्तः-
 करणानामाकमर्भं वैतुल्येन सुचितम् । साधनार्वा सर्वस्यापि सदातल विषयान्तरत्वेन सेवाश-
 रम्भत्वात् तैर्विषं पान्तीति स्फुल्लत्वा विषयैश्चतुर्दशं दुर्लभमेव भवेत्, न तु दुःखदुर्गुणभेदेना-
 श्रुतकलभगपदानन्द इति भावः । सर्वदेति । एवमपि शुभाश्रयदिना कलाले कदाचिद्वय-
 पदानेच्छो भवेदपि, न तु सर्वदा । साधनस्तु कदाचित्तलेनागन्तुकलपदानमर्भ इति भावः ।
 उपसंहारमि अतीयेति । अतो वचनदशानेशादेव हेतोरत्र मार्ग साधनपत्तिसिद्ध्यर्थं
 पत्तिसागो न सवचदानन्दप्रापकः, किन्तु श्रुतकलदुःप्रापक इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

स्त्रीपदललुमभाय कललुमकलाते स्वागन्तुप्रमाहुः विरदेति ।

विरहालुभकार्यं तु परित्यागः प्रयत्नते ।

स्त्रीयवन्धनिवृत्त्यर्थं येषः सोऽथ न वान्धया ॥ ७ ॥

वीरिहन्पो गोपिकाः मोक्षा दुरयः साधनं च तत् ।

भायो भावनया सिद्धः साधनं मान्धदिष्यते ॥ ८ ॥

धिकलतर्षं तथास्वारथ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तथैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विरोधितात् ।

भायना साधनं यथ फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संज्ञयः ।

यद्विमेतप्रकटः स्वात्मा यद्विमेतप्रविनेत्यदि ॥ ११ ॥

तदेव सफलं यन्धो वाधामेति न वान्धया ।

गुणास्तु सद्भरादित्वास्त्रीयवार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् कलकल्पवत्तादत्र बाधक इष्यते ।

स्वारथ्यभावार्थं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभार्थं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति वान्धया ॥ १३१ ॥

मयहसं यत्र बनेषु 'अथेत्' तादृश भक्षा महिषीरूपाः सखलोके आदिपदेन 'तामु-
 त्पाप्य' 'शत्रुर्जित' इत्येकोनधापनकेष्वसहस्रतन्त्रकमानैनादिना सुवादेषु च तिष्ठन्त्येषां ताव-
 त्तिद्धी तापदसि सुकल्पेवेत्येवमक्षरः । तत्रै'वाधान्वासमायी'त्यतिदेशादन संशयो न कार्य-
 इत्याहुः न संशय इति । ननु पूर्वमपि सयोगस्य विवक्षान्त्वान् कथं विरहानन्तर आग-
 लेन कलत्रवत् बाहु- बहिर्निनि । सख्य भक्तस्त्रासा भगवान् वापिकतिरोधानलीलाया
 बहिः प्रकटो भक्तसख्यारदिर्मूर्तो निबध्नेत् सन् पुनर्वर्गकलत्रस्थे प्रविशत्, सखलोभदी
 तत्स्थापनेन तत्प्रत्ययेषु समुत्पन्न स्थितो भवेत्, तदेव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप
 आध्यात्मिकोपि बन्धो नाशयेत्ति, नान्यथा त्रितोयान्तातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विर-
 हेतितापेन देहेन्द्रियानुसम्भवे सर्वलोकेन तद्वातनानिश्रुतिः, जदनन्तर सयोगेऽप्याध्यात्मिक-
 विषया निवृत्त्यदिदेहेन्द्रियादिप्रमाणा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्प्रे-
 मेदेहि मुख्यो विरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेऽप्याध्यात्मिककल्पस्य विवक्षान्त्वान् तस्य
 कलत्रवत्, किन्त्वसौ न निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः । तत्र द्युत्पन्न- बहिर्बहिर्नि । यथा बहि-
 र्भक्तेन कलत्रादिर्मूर्तः सन् पुनः कलत्रे पदा प्रविशति तदा कलत्रात् निवर्तयति तयोत्सर्गः ।
 एव वापिकतिरोधाने भक्तसोत्पन्नेन भावेन विरहानुभवा, ज्ञानेन सयोगानुभवः, ज्ञानेनमिति
 बीजोपेयं दलद्वयानुभव एव, वाग्व्यापयति प्रथमगुरौ साधन फल चाभिहितम् ।
 द्वितीयगुरौ कापिकतिरोधाने स्वरूपेभोक्तृतेन मत्तेन विरहानुभवः, गुरौ सयोगानुभवः,
 सयोगेति न विरहभावः, विरहेति न सयोगभाव इति शार्ङ्गदिकराचलितरसाधुपणं
 इति । ततोपि निश्चिद साधन फल चेत्यभिहितं पुनः पूर्वदलद्वयभावे साधन दलसख्य
 बाहु- सुप्तासिपति । पूर्व गुरौ ज्ञान सयोगेन विरह चापित्वा सयोगानुभावकमुक्तम्, न
 तथा गुणा भवति गुणवत् । किन्त्वैकचित्तेन विरह चापित्वा सयोगानुभावका इति ।
 सद्वादित्वादेहेन्द्रियादिभिर्गः सद्वादित्वात्तत्रितोभावादेतोः स्वपदेन देहेन्द्रियादिरूपा
 सुखा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवति । न तु सर्वथा विरहकायिका इत्यर्थः ।
 विरहवाधुपमार्दिना देहेन्द्रियादितिरोगभावे भगवद्गुण एव तदज्ञा मूल्या तत्र स्थिता इति चतु-
 र्थव्याये निरूपितम् । अत एव पदवाध्यायेति गुणरूपा एव ता इति निर्दिष्टम् । तथा च
 सद्भावेति विरहे इत्याद्युक्तदिरिष्टावत्येव न सर्वथा विरहकायः । अत एव सद्भावेति 'दिरक्षितद्वो-
 न्यगम'तिनि वाग्यम् । विरहेऽप्यान्तरकथाय संज्ञा सयोगकायः । अत एव 'वर्गवन्तोमिरिषिरे'
 'रिमिरेस्तु तमिता' । 'मिरोम अदनी निन्नु' इत्यादिवाग्यनिर्णयं सखितरसाधुपणः सर्वदा,
 न सैकतकायः । अत कदाचिदप्याहृषित्यत्वादिवान्ता बलि अद्यन्ते । उद्धरणेदेवानन्तरकार्ये
 तु सर्वदेव नमेति तत्साधननिरूपणम् । ननु विरहभाव्यं धनतन्त्राहृषिर्वाध्यागम्यमेति वाग्यं
 स्वसंज्ञेन तत्तात्पर्यकः शार्ङ्गद्विषाद्वयद्वयः भगवानिति । भगवानुभवकलत्रवत् इति स्वरूपतो
 नेत्रनारवायकः इत्यप्यने, किन्तु वाग्यं स्वात्पदजनकः विरहपारनिर्गतः 'नवापरोक्ष भवता
 निरोक्षित' निरोक्षित पदविना तद्वत् वाग्यं न तु एतामिने कर्तव्य न बन्धव्य, 'स्वागत न' इत्यादि-

मयेत् । नान्यथेति । ज्ञानमधिक्यकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः । न केचन पश्चात्साधनार्थं किन्तु दोषसम्बन्धोऽपि भवेदित्याहुः पापपिडित्यमिति । पित्र-पात्रत्वाद्देविकरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि मयेत् । कदाचिदोपायमपेक्षि पाक्षिकदोषसम्बन्धानामपि विद्यमानत्वात् फलतिष्ठप्रभवाच्च न कर्तव्य इति पक्षतः । पूर्वोक्तन्यायापसमुपपत्त्यर्थमपि-
 जम् । तस्मादेतौत्रिंशे साधनानपेक्षज्ञानसिद्धयर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्वदित्यर्थः । ननु कालदोष इव कर्माणि प्रमादशिरूपतः फलेन कर्म कर्मसाध इत्यत आहुः सुतरामिति । कतिदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रचलत्वात् । ननु कर्मविधाने कर्मणः कलापीनत्वात् कालस्य कर्मपेक्षया प्रचलत्वम् । 'यस्य्यनुसारी'त्यारम्भ 'योनिनः प्रति स्वर्गते स्वर्गे चैत' इति सूत्रेण कर्मणि कालसाधस्य व्यवस्थाभित्तलदिति स्थितिर्निश्चुक्तम् ॥ १४-१६२ ॥
 ननु तप तु ज्ञान एव फलजननेद्योता । अतः कर्मणीव यस्मादपि कालसाधः प्राप्त इत्याशङ्क्य तत्तत्साधनमाहुः भक्तिकर्मानौपीति ।

भक्तिकर्मानौपेति चेदोपस्थादा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

आभाररम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभाषणतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वापः केनास्य सम्भवति ॥ १८ ॥

हरिरस्य न चास्तेति कर्तुं यार्थां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो वासाञ्च सान्यैः पुत्रपुः कथित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मघदः मिषायापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा ग्रहयते स्वार्थादिति मे निमित्ता मतिः ॥ २१ ॥

किं कार्यं, भक्तिकर्मानौपे स्वयं, तं कार्यं परित्यज्य ज्ञानमार्गं वा आश्रयीव इत्याश-
 ङ्गायां सन्धानमुच्यते । स्वासत्ता ज्ञानावस्थानेन ज्ञानरूपत्वाच्चान्त्यार्थसाधनार्थं व्याप्ति-
 र्कम् । अस्माकमासत्त्वेन भक्तिरूपत्वाच्चक्रियाविशेषसाधनमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः । अत्र ज्ञानमार्गे फलदशायामेव साधनाच्च उक्तः । अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति कतेति वैशिष्ट्यमपेक्षनार्थं पूर्वं साधनदशायां साधनावभाहः अजेति । आरम्भे साधन-
 दशायावित्यर्थः । पापो हि फलदाः फलतः साधनतमेति । अत्र प्रथमं सारुतल्लदशाया-
 गाहुः न नाशः स्यादिति । यमवतः सर्वतः प्रचलस्य रक्षकत्वात् मयत्वेवेति सादिति निमित्तकः । फलदशादशावभाहः दृष्टान्तस्येति । कालदोषे यः भक्तः फलं तत्साधनायात् । स्वस्यमेव हि फलं यत्नेन वाचको, इदं तु फलं कालपीनम्, अतः कर्म फलनायकाया
 श्रवणादिसाधननाशः फलेन कर्तुं कर्महेतुत्वम् । साधनदशादशावभाहः स्वास्थ्येति । कालज्ञानावस्थ निमित्तकत्वात् सौ फलनायकत्वं अपवादार्थं नाश इति वाच्यम् । सर्वमेव
 कते कर्तुं फलस्य मतिः । साधनदशायां हेतुविषयदिः । निषेधाधिक्येन अपवादिकं नाश-

सर्पः । अथोष्मन्निच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यनपारणात् । एतस्य फलशान्तरविचारस्य श्रमस्या-
गम्यत्वात् स्वसंपादकस्यैव भविरूपस्य भोगः सम्पत्तिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।
उपपत्तयस्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन बाहुभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासपरणं भवत्तत्त्वमप्या पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णस्य प्रसादेन कर्मण्येव तस्यैव बाहुभेन कर्मा विनिश्चितं, भवती फलरूपमक्तिविद्व-
येम् । संन्यासो विषये स्वीक्रियते अनेन कर्मणेन तात्त्विके विचारः संन्यासपरणम् । इति
सनातनितार्थः । 'अथ आदौ भवित्वाये कर्तव्यत्वाद्विचारे'त्यनेन मतिमार्गीयस्यैव तात्त्विक-
विषयस्यैवोपमानात्वात्तेनैवोपपत्तयः । स्वनिश्चितविद्येन । शान्तमार्गीयं तु प्रमर्शविधितमेन,
स्वयमनुदितमिति भावः । अन्यथाकारणे बाधस्याहुः अन्यथेति । स्वयं विधितात् फल-
मार्गीयादनुदिताय शान्तमार्गीयकारण्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्यात्
साधनात् पतितो भवेत्, निरुद्धाचरणात् साधनेन पतितो भवेत् । ननु श्रमणां स्वप्राप्तक इति
ज्ञेयो स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनानुत्पत्तयत् कर्मवदमित्यनेन सूत्रस्यान्यविचारे प्रयुक्ता भक्ति-
मार्गीयमोदा सुचिता । स्वसंज्ञाविधयस्य सिद्धयेति कर्मफलकर्मणेनैवविधिविद्ये कृष्णप्रसाद
एव साधनम्, तद्विफलमेव च साधनसंयोगतादृश्यादकर्मितनुमद्देशसाधनासाधनत्वं सुचिताम् ।
नन्वेव एति स्वस्य दानमत्तमावाति, अत एव प्रशान्तौति 'इति श्रीकृष्णादासस्यै'सुखम्,
अथवा च 'वैश्वानराग्रहणस्यै'तिशयेनाभिविद्विकाराय रूपमेवेत्यम्, अतः कथं निरोधपरिहार
इति चेदुच्यते । कथा भवतो 'जीवय सुनिव दाम'मित्यादिवानर्ग्यमप्राप्तमनुच्यते, तत्र
स्वात्मफलक श्रमणसिद्धलादस्य च साधविधलादभिप्रादकर्मणेनोपपत्तयत्तम्, न तु
कर्मविद्यारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रयुजेति स्वार्थकर्मणेन दास्यसामुपपत्तयैवाभिर्भावा-
चद्वयस्यैव तथाविधलादुपपत्तयत्तम्, न तु विधिवारोपितम्, अतो यथार्थविद्येनाज्ञाताश्र-
नपदजितप्रमाणार्थन्यमिति तदनुग्रहभावेनैवमन्तव्यम् । एवमेवातिप्रसारपरमेत्यपि भगवान्
'वाचनां पदप्रधानां'त्यादिपुत्र तदातीत्यमित्यादिकं कथयतामुच्यते वचदुक्तं तत्त्वसर्वजनारोपि
सर्वेति ज्ञेयम् । एतेन निरुद्धप्रमाणवत्त्वकर्मणेन भवेत्तत्त्वः स्वस्य भवत्त्वमेव सुचिता
भवति, साधुप्राप्तयत्तवत्त्ववत्त्वमिति परं न तथा प्रतीतिरिति निधाननीयम् । एवंवि-
धादिकरमेति 'न पश्येद्'मित्यादिवानर्ग्ये भवत्त्वप्रकारक दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमनिर्णय
प्रत्यक्षलोचनत्वेन स्वामिनीदास्यसत्त्वमनुत्पत्तमिति भावः ॥ २२ ॥

स्वीयेषु कृतयोक्तस्य प्रत्यक्षात्त्वमन्तव्यम् । वदनामन्तव्यलोका न्याकृति प्रतीतवगात् ॥१॥

इति श्रीविद्वत्तेशात्मजश्रीबह्मचक्रुता संन्यासनिर्णयस्य

विष्णुसिः सम्पूर्णम् ॥

संन्यासनिर्णयः ॥

चाचाश्रीगोपेशविरचितविरुतिसमेतः ।

निपन्थे 'विदग्धं परिहृयित सर्वज्ञानानिरोधि क्त' इत्यादिपक्षीयेत्याम विदग्ध-
विनयकेद्रसाधनताप्रसादप्रवक्तृपक्षेण बुद्धिगर्भाजिनि बुद्धीनाथमत्तेन विदग्धं दृष्ट्वा पञ्चासा-
पमाप्रसाद, भक्तस्तदनुदयाय बुद्धिगर्भासंन्यासस्य विचारस्मारपन्थे ।

पञ्चासापनिर्णयार्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विजये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विदोपतः ॥ १ ॥

कलिकाकलनपक्षोपासनात्वात् कर्ममागीपस्य निरुप्येन कलनकलनात् ज्ञानमागीपस्य
च परित्यागस्य पक्षोपलभ्युद्भास्य बुद्धिगर्भापपरित्यागस्य निप्रयोजनं, कोन शुद्धः, किं वा
साधनं, का च परित्यागिनी व्यवस्थितिरित्यादिविचारः कियते इत्यर्थः । तथा पक्षं विचार्येन
परित्यागे विनाति सत्सम्पद प्रवृत्तनुदयात् पञ्चासापादुदय इति भावः । स इति । यस्य
परित्यागे विनाति सत्सम्पद प्रवृत्तनुदयात् पञ्चासापादुदय इति भावः । स इति । यस्य
विचारः कियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिगर्भा ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्मव्यत्येन प्रोक्त
इत्यर्थः । विदोपतः इति । मार्गद्विजयोक्तवति ज्ञानमार्गे विदोपत उक्त इत्यर्थः ।
तथा च वेदस्तुतिपुराणेतिहासेषु सर्वेन प्रसिद्धाद्विदोपेयोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुम-
द्विदोपमन्त्रानन्दलुभयदोप्यतासम्पदकतिपदाधुमकार्य भगवदनुमपरणकस्तद्विदोपेयप्र-
सिद्धाद्विदोपेन नोक्त इति भावः ॥ १ ॥

ननु मार्गद्विजयोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममागीपः, तथा च तत्तानिचारे को
हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्मव्यः सुतरां कलिकाकलनः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्मव्यत्यागविचारणा ॥ २ ॥

यस्यात्ते ज्ञानमार्गेति न भवत्य एव, अन्तर्गतविधि सिद्धिप्रत्ययार्थ, परन्तु ज्ञानमार्गे
देवात् ज्ञानशिखी वाधिन्यपि सिद्धिः, काः कर्मव्योनि, कर्ममार्गे तु न कर्मव्य एव-
त्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम् । तत्र हेतुः कलिकाकलन इति । कर्ममार्गे देश-
कालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसौकर्यात् कर्म तु देशादीनामनुदयात् कर्ममार्गेव्यापकत्वार्थसिद्धिः
यत्तद्व्यपेति कथितेव्यापकः । तथा च कलिकाकलनपक्षोपासनात्तेनाकर्तृव्यत्यागविचारोपि
न कियते इति भावः । अत इति । सत्सम्पदविदोपकलनको विदोपेनोपपन्नोप्यम-
अतो हेतोः ज्ञानमार्गेपरित्यागविचारस्तु एवमेव भक्तिमार्गेवि विचार्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥
तत्र प्रथमं परित्यागप्रत्येयं विचार्यतः प्रत्येयनानन्तरमाश्रय दूषयति ।

अवगादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यमद्येत् स नेष्यते ।

सहायसहसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानाभिधोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेर्वाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अद्यपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाकान्तः पाषण्डी श्वात्तु फालतः ॥ ५ ॥

विषयाकान्तदेहानां भावेऽपि सर्वदा हरेः ।

अतोऽप्य साधने भजति नैव स्वामः सुख्यायहः ॥ ६ ॥

मेवजनकअवगादीनां कर्तव्ये व्यासज्ञान्द्वारेण सम्प्राप्तिद्वेः, प्रसङ्गेन सिद्धार्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेह इत्यर्थः । अनिल्लो हेतुमाहुः । अयमे सहायः अवग-
कारविहाय तत्सहसाध्यत्वात् अवगच्छेत्सर्वः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहितेन
स्वित्तिरेष्येति भावः । ननु मातु अवगार्य, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष
इत्यत्र आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणदिषाधनानां साधनमादीनां हेतुमायात्
सतोऽप्रवर्तमानानां प्रपञ्चेन कीर्तनस्मरणादियु रक्षणात् साधनानां प्रवर्तनमिति भावत् ।
तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि यत्नेन प्रवर्तनमधिक्येणमासादयन्तीति भावः । एवं पा-
दसेवनादिषु सर्वेतिद्वयप्रवृत्तौ स्वयमूहम् । दातव्यार्थं हेतुमाहमाहुः अभिमानादिति ।
यथा सर्वं परित्यक्तं, बल्लभः कोऽपि मास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादिस्वर्गः । तथा चैवं गर्वं सति
सर्वेषामुद्देगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकधोषद्वय इति भावः । तन्व-
निकान्तत्वाये को दोषोऽत्र आहुः मिथोगादिति । ईश्वराज्ञानप्रपञ्चदेहादेरित्यर्थः । तथा च
वेदादिप्रसिद्धवतिषर्मातुष्टाने सति अनुष्ठानरूपत्वात्तद्वत् अवगच्छ सम्प्राप्तिद्विः, तदनुष्ठाना-
भावे त्यागजनित एव सादिति निवोपादुषद्वय इत्यर्थः । ननु साधकमपि कुर्वीत न निर्नि-
येत पापतः । मत्तयाधवगादी वा अन्धो यावत् यावत् इति वाक्याद्वगपदीवैकततः सन्
अवगादीनि कुर्वीत सत्तद्वयज्ञात् अने अने सत्तः अन्तर्धानेन्द्रियो गर्भमयत्तुमेव उक्तया-
वगातिषर्मानपि मातुतिद्वन् सत्तद्वयतिरिक्तं सर्वं परित्यागेयं को दोष इत्याशङ्कतुः तर्ह-
मैरिति । बुद्धिमाणीपरित्यागमदीत्यर्थः । तथा च बुद्धिमाणीपरित्यागदुर्गवैकताक्षिकजनन-
द्वयरूपपरित्यागे भावनासिद्धमात्रविरिक्तानुस्थापनानामभिमतात्वात् भावधोषकविराजानु-
वातिरित्यावगाद्यवगाद्यं व्यासज्ञानजनकत्वेन तदनुष्ठानमाशिक्षयामहूः मूलतपरित्याग-
पदैः विरोधत् परित्यागकदापीमूलधोषजनकजनकविराजित्यर्थं कर्तव्यो नेम्यतः । तथा च वि-
चारपालनत्वात् प्रवृत्तमयोजनमतिरिक्तपरित्यागजननम्, तत्तुल्यं विराजानुधवातिरित्यावगो-
जनकः परित्यागः बुद्धिमाणीनमत्तानां बुद्धिस्त्वपि न प्रभवति, कुर्वीत कर्तव्यतेति चेदन् । ननु
भावनिरोधित्यागमास्तु तत्तयावर्गं, तदन्तु बुद्धिमाणीनमयोपरिद्वयकारेण साध्यकाने भावकत्वाये
परतानन्दसा साधने प्रतिस्पर्धीमूलभावविराजने को दोष इत्याशङ्कतुः गृहादेरिति । सा-

पन्थार्थं साधनं भावसाधकद्वयं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तथा च प्रतिपन्नक-
निवृत्तिवशं सम्पादनीयेति पृष्टादेर्भावेत्यसौ प्रतिपन्नकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसामान-
विद्यार्थमिति भावः । दोषबाहुः अशेषीति । तात्पर्यार्थविरुद्धी प्रतिपन्नकैवेत्यर्थः । तथा च
कृतेऽपि भेषजे न धान्तो व्याधिरिति न्यायपात इति भावः । नान्यथेति । ये अन्यथा अत्राप्या
व्यापकाः साधका इति साधकं ततो न भवतीत्यर्थः । तयोक्तं निषन्धे विवृती 'रन्ति प्रसभार्थे
प्रज्ञा नत्वेत्याशय भवति' इति । यद्यपि 'प्रतिकृते च्छेत्त्यने' इति निषन्धे श्लोकं, तथापि च परि-
त्यागः पूजानिर्वाहमनकलेनोपगतः, न त्वेतदेवावसान एव भवत्यावन्तरूपफलावधिंति पूजानि-
र्वाहको भिन्नः, नच यं निज इत्यनुसन्धेयम् । तथा च पूर्वनिर्वाहके तु महाप्रसङ्गेत्यादिनो-
क्तमेव दूषयामित्यपि ध्येयम् । तर्हि प्रकृतपृष्टादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु
पृष्टादि निष्ठकविरतयेव तन्मात्राधिकोपदिष्टमकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धमावच्छेदसाधनः सन्
पृष्टादि सर्वं परित्यजति विरहादुभयार्थं, न तु साधनविद्यार्थमिति सर्वमवदातम् । ननु बाधकं
पृष्टादि परित्यज्य सर्वसत्त्वहितं सन् साधनया भावच्छेदने साधनं साधयेच्छा को दोष इति
यत बाहुः कथं चेति । आहारादिनिषयात्मा द्विष्टः कन् तदेव व्याप्य विषयाकाशतः
स्वात् । ततो मनसिन्द्रियाणां स्वरम् विषयावारपदयान्यः साधयन्ती तु भवेत्, तथा च
नामरूपेष्टमिदृशेषु रते, प्रसुतानिष्टमिदिरिति भावः । नन्पिन्द्रियनिष्ठे सर्वभुतवत्त इत्यत्र
बाहुः काशत इति । कलाविन्द्रियनिष्ठस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः । विषयाकान्तात्वे साधक-
त्वम्, एकमिन्द्रियमन्ता द्वितीयं वक्ष्यदमिष्टबाहुः विषयाकान्तात्वेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य
त्वम्, एकमिन्द्रियमन्ता द्वितीयं वक्ष्यदमिष्टबाहुः विषयाकान्तात्वेन (वक्ष्यत्वेन)
सौक्ष्म्यपर्यन्तमनवरत्युपपीकमानलादेष्टदेवोक्तिः, एतत् लिङ्गशरीराव्यभूत्वेन (वक्ष्यत्वेन)
तद्भेदं नममान आत्मैव (देह) त्वेनोच्यते, तथा च विषयाकान्तात्मनां भवत्वापेक्षा
कदापि न भवतीत्यर्थः । इत्थं च कदापि सर्वोन्मुक्तमन्तत्वेवासिदेवेष्टदेवानिष्टमित्यर्थः । उप-
संहारमि अतोऽप्रेति । यत् उक्तदूषणानि अतो भवन्ती अपादित्तिद्वयं अत्र साधने
वक्ष्यमावच्छेदसाधनविद्यार्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरावच्छेदित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।

विरहादुभयार्थं तु परित्यागः प्रज्ञासमो ।

श्रीपञ्चननिकृतस्य वेधः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौचित्तनो गोपिताः प्रोक्ता मुरवाः साधनं च तत् ।

भावो भावजया सिद्धः साधनं नान्यदित्युच्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथासाध्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं तुजास्य तस्यैवं कर्तमानस्य साधनतः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् सौम्यात्वेन विद्योपितात् ।

भावना साधनं यत्र कलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तारदाः सत्यलोकादौ लिङ्गान्त्येव न संशयः ।

बहिःश्वेतप्रकटः स्यात्मा बहिःपत्रविशेषादि ॥ ११ ॥

तदेव सकलं वन्धो भावमिति न चान्यथा ।

शुणास्तु सद्ब्रह्मस्वास्तीत्यनर्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वाच्चात्र बाधक इष्यते ।

सात्त्विकभावार्थं न कर्तव्यं दशतदुर्न विवक्ष्यते ॥ १३ ॥

दुर्नभोयं परिख्यामः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३३ ॥

निरोधत्वात् 'इति' इति । कदा चोपास्यतादिति तत्र ही'त्याहुस्तत्राकारेणान्तररम-
यान्त-पातिसमयेवविशेषात्तुभवेनोत्पद्यतेऽकस्मिन्निशेषेन निषीदितानां भागस्वरूपमिष्टव-
त्तद्व्यपेक्षामन्वयार्थेति हि विरहस्तदनुपपन्नं परिख्यामः प्रज्ञस्त इत्यर्थः । प्रयो-
गमुपस्था प्रसारमाहुः । अस्मिन् परिख्यामे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेदो यन्मुनयस्तदन्व-
यादिविषयमेवैव स्वीकार्यः, न तु सस्वात्वेनेत्यर्थः । कर्मावदन्वादित्यत्र तत्त्वबोधन
चोपस्था गुरुमाहुः । अथवदमेव सर्वविषयसत्त्वमात्रं कौण्टिहन्वो गुरुः, गोपिकास्तु
सर्ववस्तुषु गुरुष्व इत्याशयः । गुरुत्वात् साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् गुह्यमासीत्-
सिक्तेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत आहुः भाष्य इति । ननु भावे किं साधनमित्यर्थ-
श्चात्रमाहुः साधनमेति । भावे भावदेव साधनम्, अन्यद् साधनान्तरं तद्विषयसम्मत
नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरिग्रहे अथममकनदिविधत्त ज्ञान मोक्षे साधनं, तथा
साधनया सिद्धो भावः कुरुष्वानन्दे साधनमिति भावः । साधनमुत्प्रेक्ष्यमानस्य ज्ञानिस-
यस्य दशान्तासी वेत्तत आहुः । विकलत्वमात्राद्यनुसन्धानादित्यत्र । अस्मात्प्रयमनिष्ठ-
विद्यार्थलभावेर्यापदित्यभिर्नैदादितिहृष्टिरिति यावत् । तथा च सद्ब्रह्मवतिभावे भगवति
आराधु चक्षुरागविद्यासद्ब्रह्मनिष्ठाभेदतनुतामिवमिदृशित्वपानाशेन्मादृशीन्तास्तु नव-
सप्तसाप्त निषदनिदृतिपर्यन्तानामस्वात्म्यवदेन स्वात्मोन्मादृशीनां विकलत्वमि-
हमेवोक्तिरिति ध्येयम् । एव च अस्मात्प्रय विकलत्वं च भावनासिद्धभाववत्कं मरुतिः
स्यात्तः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निषयेन प्राकृतं न, प्राकृत्यः सत्वरजस्तोगुणास्त्र-
यम्बन्धि न भवतीत्यर्थः । ननु गुणवन्प्रज्ञैवाति जडोन्मादृशमन्वयसाधनमात्रं भवति
विकलत्वं, तथा ततोऽगुणवन्वयमादृशोदायनैरपि तत्रावते । एव तदोगुणवन्प्रज्ञैवनिषि-
पदत्वेति यदि लौकिकविषयान्नमोरेपि सादृश्यात्त्वम् । तथा चेति विकलत्वासात्त्वे प्राकृत्ये
एवेत्याशयमाहुः ज्ञानमिति । एव कर्तमानस्य विकलत्वासात्त्वमसहितोदायभाववतो निर्दु-
ग्ममपि ज्ञान बाधकः, शुभा अपि बाधकः, तथा च कवचविरह्य निर्गुण ज्ञान सात्त्विकसम्प-
सृज्योदयः, यदि च सत्वरजस्तमसि स्फुट्यता शृणुज्ज्ञानार्थेनिकविषयलोभप्रदानोदाया-
नेव प्रतिवन्वत्तन्मात्रं अथ अथ एव मोक्षयेत्यन्वयात्तुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां बाधक-
मिथ्यादिकलत्वासात्त्वमेवोः प्राकृत्यत्वं दुर्नचक्षित्वाशयः । न च वतिक्षितवेद्यमेवादितिहृमि-
हिनस्त्वपर्युत्तरपि प्रतिवन्वित्यतिति वाच्यम् । तस्यास्तुप्रज्ञानविकलमात्रान्तरेण प्रतिवन्व-

सादित्याद्यहोः भगवानिति । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भगवानन्दात्तुनयपोष्यताजनक-
विरहनाशजननेनास्मान्पादगमात्, सपमेव प्रतिपन्धकः स्यात्, तथा च प्रलम्भप्रत्यक्षस्य सा-
प्राप्तीप्रतिपन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः । नन्वदिदं स्यात् कदाचिदिदं नास्य मनसि फलप्राप्तिसन्दे-
होदयजननमस्त्रारण्यं सातद्विदित्यर्थं सन्देहनिवारकं यत्नं वक्तव्यम्, यथा मद्यानन्ददानार्थं
यत्मानं वारदं प्रति 'गन्ता वज्रवतामयी'स्तु कथांस्त्रयेत्याशङ्क्यः स्यास्थ्येति । कर्तुमेव
योग्यं न मनसि यतोऽयं दयालुरनुग्रहवर्ती यतश्च स्वयं न विरुध्यते । निरोधी नातो हेतोः,
तथा च स्तेनश्चातुष्टयं दुर्लभपरित्यागवर्धनं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुत्ववत्
स्वप्रत्यक्षभाषेत्येवमपि प्रतिपन्धकं न कृत्यापानतोऽभिरोधी, इत्थं चापि कदाचिदनुग्रहको भगवां-
सपिच भगः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च वज्रवन्मस्त्रारण्यमिति तादृशप्राप्तं प्रयो-
यनामावात्र कर्तुंश्रुतमिति भावः । इदानीं बहुवचनित्याद्यभिप्रायं पदस्य उपसर्गद्वयस्य
दुर्लभोपमिति । श्रुतवार्त्तावैषाण्यमिवान व्यसनकृतं प्रेम साधकम् । तथा च प्रेमवानधि-
कशील्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रह-
कसाध्यत्वादुन्माय इत्यर्थः ॥ ७-१२३ ॥

इत्थं प्रकृतपुनरुद्भूतं ज्ञानमार्गीयसंन्यासे किमिदं ह्युक्तम् ।

ज्ञानमार्गेण तु संन्यासो विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जनमज्ञातैः परम् ।

ज्ञानं च साधनार्थं यज्ञादिभ्यस्यात्मतत्त्वं ॥ १५ ॥

अतः कस्ती स संन्यासः यस्यास्तथापि नान्यथा ।

पापविद्वत्त्वं भवेत्तापि तस्मात्तज्ज्ञाने च संन्यसेत् ॥ १६ ॥

श्रुतरां कलिदोषाणां प्रचलत्मादिति स्थितम् ॥ १७ ॥

विचारित इत्यभिप्रायेति सिद्धयभिदेष्टाहस्तुतोऽपि न किमिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः ।

तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतमित्याद्यभिचार एव प्रसङ्गाद्व्यवशोक्तिर्यत्तल्लोक इत्यादिना ।

परमवशित्वतो विविदिषासंन्यासः, तस्य तुल्यत एवेति न किमिद्वि विचार्यमस्तीत्याशयः ।

यन्निष्ठस्त्वयस्यामाहुः ज्ञानार्थमिति । उत्तरस्य साधन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्त्यमानस्य

नोधस्य ब्रह्मपरम्पराया प्रयोजकः, न तु साध्याजनकः, तथा चैतद्व्यापारित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं

नेतिकेनेत्याशयः । दोषमाहुः सिद्धिरिति । परन्तु तत्फलभवेकैवेन्मभिर्नवतीत्यर्थः । ननु

स्वतमेव कुतो न वचतीत्यत आहुः ज्ञानं नेति । यज्ञा आदिर्परोक्षप्रभवाद्भवति, यतः

साधनार्थं मत्तं साधनशालेभ्यं संश्रितं सर्वैरित्यर्थः । तथा च योर्गीनस्यगन्तानावाचन्यकत्वात्

कृतिर्ज्ञानमेव अत्यमुचितम् । इत्थं च मानसवशव्यवशयोक्त्यनुद्विग्ननिमग्नधीनत्वात् नि-

ग्रहस्य श्रुतवाच्यसंन्यासार्थोक्तैरिति वन्वधिः सिद्धिर्द्वैतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निष्पत्ते

'तपसा वेदश्रुत्या च प्रसादात् परमात्मनः । किमां प्रयोक्तुंश्रुतेषः कथितं सत्यस्यैव शुभा'मिति

व्येष्टम् । इत्येवार्थमाहुः अत इति । सत्यस्यैव कदाचिदसि सिद्धिः, कस्ती तु यस्यास्तद्विचारिकं

विनष्टि पठं न मयतीत्याशयः । चेति । अस्मिन्ने न सचिद्विप्रतिपुष्टिरित्यर्थः । अथमेष्ट-
सिद्धमात्रमात्रं न, किन्तुनिष्ठसिद्धिरिति मयतीत्याहुः पापविट्त्वमिति । यद्येतादृश-
पर्याप्तमनापर्याप्तदमार्गोक्तोः पापविट्त्वं, चकाराद्यस्तोमि स्तादित्यर्थः । उपसंहरन्ति
तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्यमकर्तव्यत्वस्याप्युपेक्षा-
ज्ञानमार्गिसंन्यासस्य स्वरूपानिश्चयननाशेन पुनर्कर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कतिदोष-
शयत्वात् सुतरां न कर्तव्य इति लिखे, अथमेष्टोक्तमप्युपेक्षाशयः । तथा चोक्तमपि न
कर्तव्यी, समानदोषतादिति यावः ॥ १४-१५२ ॥

एवं मार्गान्तीपयोः सदोपलभ्यतया प्रकृतस्य सपुष्टिके निर्दोषतामाहुः ।

अनिकमार्गेपि चेदोपस्तादा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अप्रारब्धे न बाधः स्यात् दृष्टान्तस्याप्यभाषतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादप्यः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरथ न चाकोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् सन्धैः पुत्रपुत्रां कथित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि बाधयेन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मभयदः विषयापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भद्रपते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

अतिमार्गे परित्यागकृती यदि दोषकमात्रमात्रं तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च
परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो येत्याशङ्क्यां समाधानमुच्यते इत्यर्थः । समाधानं गदन्ताः
अथमेष्टपुष्टिकस्यचक्रवर्त्तनं दोषमाशङ्क्य तदभावनमाहुः । अथास्मिन् परित्यागे आरम्भे
प्रवृत्तौ नाशो विद्ये न भवेदित्यर्थः । ननु मातु प्रवृत्तौ प्रतिपत्त्यसदभावात्तुमनिकलत्
वन्तु पठे प्रतिपत्त्यकान्तरात्तुमात्रे को दोष इत्यत्र आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्त-
साधेयत्वात्तदभावात्तुमात्रं न उच्यते इत्यर्थः । अतिशब्दात् सदोपेक्षकत्वात्तुमात्रादुपेक्षा-
शयः । ननु लौकिकनिष्पन्नानुपपन्नं सर्वोपेक्षकतन्मात्रादुपेक्षाशङ्क्यानितावाचास्त्वस्यशयेन
कालप्रतिपत्त्यस्य दोष प्रवृत्त्यतिशयोक्त्याशङ्क्याः स्वास्त्येति । स्वास्त्येदोपेक्षाशयना-
शक्येत्यर्थः । तथा च मयजानन्दसिद्धिकृतमद्वैतापविषयार्थं प्रथमेष्टपुष्टिकस्य परित्याग-
त्वाद्वैतापविषयमद्वैतापविषयः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः । ननु काळप्रमेयप्रतिपत्त्यस्य
स्युता आहुः हरिरिति । अपरे कलप्रमेय इत्यर्थः । पूर्वप्रतिपत्तिं मयजिह्वात्तुमात्रः अन्यमेति ।
प्रमे पादप्रमेय इति दुष्टेष्टप्रमेयप्रतिपत्त्यार्थं निवारणं पुनरुक्तमर्थं पुनरिति लिखे । अन्यथा
मातरो बालान् सन्धैः पुत्रपुत्रां कथितार्थः । तथा चेतान्तरात्तुमात्रादोपेक्षाशयना-
शय सर्वसंभवास्त्यथा तत्र किमुच्यन्त्येष्टा इति शङ्काः प्रथः पुनरुक्तिस्तत्र बाध्यः । इत्यं च

ययसन्भानितमर्मरूपोपाभावमश्लीलादा भगवत्कृतपाधमिति मनस्त्रानयेः । एवं चोभयवर्ति
 सशयिपाणाकमानमिति भावः । ननु देवात् मित्रिता ज्ञानिनः सानुभवज्ञापनपूर्वकं सशयौ-
 पदेशं कुरुस्तदा का गरितत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिपन्नं न जनयति, परन्तु
 सर्वमोहितस्य भाषा येनमोहमुत्तमं मार्गोत्तरद्वयितकथनं प्रतिपन्नं जनयेदित्याशङ्क्याहुः ।
 ज्ञानिनामपीति च पापपत्रं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेत्तांति देवि भग-
 वती हि सा, यदादाहृत्य मोहाय यदाभाषा प्रयच्छती'ति यास्येनेत्यर्थः । एवं यास्मिन् कास्ये
 ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु नयमानमिहलो ज्ञानिमोहनमव क्वासा शक्तिर्न तु भक्तमोहनमव
 इत्याशयः । मोहेति । अतीतप्रीतानमोहयोरभावस्त्येतन्मार्गात्पश्चात्तुपपत्त्येव निश्चितः, परम-
 वशिष्यते सन्दिग्धसम्बन्धो भविष्यमानः स तु पात्रिवेति दोषः परिहरणीय इति न मोहवि-
 ष्यतीत्यनेन परिहित इति शेषम् । ननु भगवदिच्छया दुरुद्धतरव्याघ्रमवतः स्वतन्त्रमन्त्रात्
 कदाचित्कथनमपि मोहयेदत आहुः आत्ममाद इति । तुभ्यो देवा परात्मविषयमोहविषयव्या-
 तु गीवकृतिशास्त्रप्रपन्नमित्येवः सन् भक्तमात्रमपि प्रकीर्ण दददुद्धरः, तथा देहानि न भवति,
 उदासीनोति न भवति, अपि तु मित्रः, तथा च प्रयोजनयोः लोभदेवयोरभावात्पि मोहवि-
 ष्यतीत्यर्थः । अत्रापि अतीतप्रीतानमोहयोरभावस्तु परमात्म्यद्वानुपपत्तीय निश्चितः, अवशिष्टस्य
 त्वप्यत एवेति शेषम् । इयं शक्तवर्तित्वाने दोषाभावनुसंगतं प्रकृति निदधति । यस्यात्मा-
 येषा निरपेक्षता आहुःकमकारेण 'स्वीयपन्नविशुद्धयर्थं वेत्त' इत्याहुःकमकारेणैत्यर्थः । स्यादतिर-
 हातुमवलक्ष्यसामर्थ्यमनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किञ्च प्रमादमता आहुः इति मे इति ।
 निश्चितं साक्षात्कृतविरसा मरितेय प्रमादमित्याशयः ॥ १७-२१ ॥

मन्त्रप रीत्यागः किं तुरीयाशयः, किं वा यत्किमातीतं साधनविशेष इति सन्दिहानं
 कलाहुः ।

इति कृष्णमन्त्रादेन बह्वनेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्त्यावन्यथा पत्तिनो भवेत् ॥ २२ ॥

इति समाश्रये ग्रन्थ इत्यर्थः । मन्त्रावसन्नतया हेतुवृत्त्या साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्ती
 बलिमात्रे संन्यासवरणं परित्यज्यत्यधो भगवदश्रीकारः । तथा च नायं तुरीयाशयः, न
 वा यत्किमातीतः सत्कृतिशब्दः आपन्नविशेषः, किन्तु मन्त्रादुक्तो श्रीन्यासीत्यश्वरूपेण
 वर्तमान इत्याशयः । अन्यथाश्रीकारभावे पत्तिरुत्समाप्त्यर्थात् च्युतो भवेत् । तथा चैत-
 न्मात्रमुक्तिः पत्तिलोभेति पत्तिरुत्पन्नोय इति बोध्यम् । इत्यं च भगवत्पि स्वविजयाप-
 तीकिसलीकिविपयेभ्योन्मत्तत्वं निरूप्य यदि यास्मिन् व्यसने सम्पादयेत्तदायं पत्तिमात्रे
 बहवान्भानुमन्त्रोन्मत्तासम्पदबन्धिरहातुमयार्थं कर्तव्यः, नो चेत्तद्विषयेन सेवा कर्तव्येति
 श्रीमहाचार्यवर्तमानामश्वोऽनिरुद्धमुत्तमैव । तथा चोक्तं विद्वन्मन्त्रे श्रीन्यासपुत्रपैः
 'सम्पादनीयं भवति विद्वन्मन्त्रे'ति ॥

याथाश्रीगोवेदाकृता संन्यासनिर्णयविहृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीमद्-बाल्यभाष्यार्थ-सहास्रम्-विरचित-श्रीरघु-वन्दन-वर्ण-पञ्चदश-

निरोधलक्षणम्

सङ्गमिष्टीकृतविरचामलङ्कृतम्

१. आद्या श्रीगोपेशानाम् ४. श्रीबलभद्रानाम्
२. सप्तम श्रीबलभद्रानाम् ५. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
३. श्रीहरिरामानाम् ६. श्रीब्रह्मरानाम्

परिमिश्रयशोभेत्तम्

१. श्रीहरिरामानां ब्रह्मन् अलङ्कृतं श्रीरघु-
२. श्रीबलभद्राङ्कृतं-विशेषार्थं वाच्यते-
रघुभूषणवर्णनविराजं.
३. श्रीबलभद्राङ्कृतं-निरोधलक्षणविशेषार्थं-
ब्रह्मभूषणं. श्रीमन्मार्गवत्तम्

श्रीमद्-बाल्य-भाष्यार्थ-सहास्रम्-व्यापक-निधायीत्य-विदत्त-श्रीमन्मार्ग-
१००८- श्रीपुरुषोत्तमभक्त-श्री-सहास्र-श्री-सैतन्य-सङ्ग-
व्यापक-श्री-श्रीमन्मार्ग-१०००-श्रीबलभद्राङ्कृत-सहास्र-
व्यापक-
व्यापक-
व्यापक-

वि. सं. २०३७

श्रीबलभद्राङ्कृत : ५०३

સંકલન :

બોમ્બાઈની ૧૦૦૮ બીર્મીસાહસીની મહારાજ
બીર્મીસાહસીની મહારાજ, મહારાજ, મહારાજ,
મહારાજ, ૧૯૫૦-૧૯૫૧, મહારાજ.

મહારાજ મહારાજ ૧૦૦૦ પ્રતિ

મહારાજ મહારાજ ૧૦૦૦ પ્રતિ

બીર્મીસાહસી ૫૦૦

મહારાજ મહારાજ . બીર્મીસાહસી મહારાજ મહારાજ

મહારાજ :

મહારાજ મહારાજ, ૧૯૫૦-૫૧, મહારાજ મહારાજ મહારાજ, મહારાજ, મહારાજ-૧૦૦૦૦૦૦૦



ગોસ્વામિજી ૧૦૦૮ ઓગસ્ટ-૧૯૭૭

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकर्मसौम्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

निरीपलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाभयुने बुवराजके आत्मके प्रिय राजा रहे और माधव रहे के लिये लिखा था. एक निबन्धकीके अनुसार इतना रचनाकरत नि. सं. १५१६ ई. ^१

श्रीराजी वैष्णवकी बातकी अनुसारत इन दोनों भाईकी कथा माधवराजने भी मिलती है :

“राजा दुबे — माधी दुबे के माता-पिता मरे मरे सब दोऊ केदानवी कहें—‘मम हमको या मने श्रीरामछोड़कीके दरसन करावी तो चहोत आओ.’ सब के दोऊ कोली भाई करि माता-पिताकी बैठाई श्रीरामपुरकीकी सब ले चले श्रीरामछोड़कीके दरसन माता-पिता-की कराये. सब तहा कष्टक दिनने श्रीरामचार्यकी द्वाराजने हूँ .. सब राजा दुबे — माधी दुबे कोजामरी दुबे—‘इहा कहु कथाचार्य—ममभक्तमर्माहोत होई तो तहा चले .. सब एकने कही—‘श्रीरामचार्यकी कृष्ण—परिचया करि इहा चमारे हैं सो कथा चहोत भावी कहुत है’ .. सब दोऊ भाई प्रथम होई जाने भाई केहे. सब श्रीरामचार्यकी मन्त्रमहोत्सवकी वरने — श्रीरामभक्त दशमकर्मने पावने लम्बायकी वरने निने ही लम्बायकी लीलाकी प्रकट अनुभव दोऊ भाईमकी कराय दिने. .

.. श्रीरामचार्यकी बात कहे मरेरे जाई निवली निने— ‘महाराज । तुमकी सरणि लीजिये.’ सब श्रीरामचार्यकी दोऊ भाईनकी केरि म्हुनईके नाम सुनाये बह्मसम्पन्न कराये पावे श्रीरामचार्यकी कहे—‘जब तुम मरणसीवा करो ।’.. ही श्रीरामचार्यकी श्रीरामपुरकीकी मन्त्रमहोत्सव कराई राजा दुबे — माधी दुबे के जाने बचराये और राजा निने—‘सब कोहेत मम म्हुनई निरीप करि अकशेवा करो.’ सब राजादुबे—माधीदुबे निवली करि श्री—‘महाराज! निरीपकी स्वरूप कहुत है?’..

सब उकार दोऊ भाईनकी श्रीराम करत स्वभाव केतिके बह्मसम्पन्न जावी निरीप-स्वरूप कहे हैं जाकी आत ‘निरीपलक्षण’ ग्रन्थ करि दोऊ भाईनकी बात करावके कहें—‘तुम दोऊ भाईनकी निरीप लिख होईये’ सो ललाल दोऊ भाईनकी मम अन्वेषिक है मरी श्रीरामभक्त अनुभव होत लामो सब श्रीरामचार्यकी कहे—‘मम मरण पर जाय तवा करो.. देवी जीव जाने जिनको नाम दीयो. तुमकी निरीप लिख मरी और श्री कृष्णारी मम मम ललामके करोतो ताहुको निरीप लिख होईये’

तो अपने गाम बसुंदमे आये, घरमे दीऊ माई भगवतीका करुणा लाने, कसुड इत्य गामे हठी लाने निर्वाह करे, कसुडो बहोत बीजे नाहीं, बी जाये तापर हवा गरिजे खानपानको समायान करे, भगवद्वासी करि दीऊ माई बीजाकरबीबी लीलाके रहने काल रहते !”

मगवान्को भवतीमे तथा भवतीमे मगवान्को तत्कालीन ही ज्ञानीकी कथा मान्यरुके दशमः अङ्कमे विरोधशीलताके रूपमे वर्णित हुई है- मगवान्की इस विरोधशीलताके फलस्वरूप, यह कहा कहा गया है कि उन भवतीमे ऐसी स्थिति हो गई कि वे तोड़े-बाँटो, चले-वातीसल करके, पीटा या मारा करके और मोसल करके हुए भी अपनी छारी सुभ-रूप लोकर केवल भीक्षुपणमे ही तत्कालीन रहती थे— “अपवात-नाशनाशनी-बाधनाशनाशनिनु न विदुः समस्तसामानं नृण्यस्य कृतचरितम्” (भाग १-०-१८, ४६) यह विरोधका परिनिष्पाद स्वरूप है-

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोंका विरोध माना गया है—“योगश्चित्तवृत्ति-विरोधः”, केवल चित्तवृत्तिका विरोध किन्तु अनिष्टाचारमें लपकाई जाना गया है, पुष्पि-मनितक विरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् विरोध की सह्रादित अनुमूल करना है, केवल चित्तवृत्ति ही नहीं किन्तु देह-इन्द्रिय-आत्म-यन्-बुद्धि-अहंकार-चित्त-अज्ञाना, तथा अन्य भी आत्मीय वास्तु और परिणामों का कल्पवृक्षमें विनिर्वाण का लक्षण ही जाना पुष्पि-मार्गीय विरोध है

इस प्रतिबन्धी निरोधकी भावना उल्लेख (१) कार्यसमय (२) मजदूरी (३) कार्यस्थान एवं, (४) प्रयोजनस्थान के आधार पर चार तरहों की जा सकती है।

बालगणेश द्वितीयसम्बन्धों दृष्टि से अध्ययनशील छात्री काटिका—“निरीरोधता युगमन्त्रावमनः
यद् भवति हि ” में निरीरोधके कारणमन्त्रावमनः विरक्तव्य हुआ है, श्रीमद्भक्तप्रिये श्री बालगणेश
निबन्ध (१-१५-१६) के अन्तर्गत विवेचन किया है, यहाँ यह समझना पड़ा है कि अन्तर्गत
द्विधाराय अन्तर्गत श्रीमद्भक्तप्रिये का अर्थ श्रीकृष्णका इस चरित्रपर आधारित अन्तर्गत होता निरीरोध है, “निरीरोध”
के इस अर्थ के अन्तर्गत “निरीरोध” शब्दका अन्तर्गत यही किन्तु श्रीकृष्णके निबन्धित होता है
अन्तर्गतका अर्थ—निबन्धित अन्तर्गत और अन्तर्गतका अर्थ—निबन्धित निरीरोध अन्तर्गत अन्तर्गत है—
इसके अन्तर्गत होनेकी कारणवत्ति यह पताची गयी है कि अन्तर्गतका अर्थ—निबन्धित अन्तर्गत अन्तर्गत
अन्तर्गत होती है ऐसे अन्तर्गत, अन्तर्गत विमुक्त अन्तर्गत किन्तु अन्तर्गतके द्वारा, जो रोम निबन्ध
अन्तर्गत है, उसे “निरीरोध” कहते हैं, क्योंकि श्रीकृष्णके द्वारा निबन्धित होते हैं वे अन्तर्गत अन्तर्गत
हो गयी है, अन्तर्गतके अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत किन्तु श्रीकृष्णके
द्वारा अन्तर्गत निरीरोध अन्तर्गत है

समाचारकागजों में प्रकाशित भगवान्‌जी के अनेक लीखाओं का एक परिचालन गट्टी दिखाने की गयी है कि वीही पत्र-पत्र लीखानोंमें सम्बद्ध चकत्त भीकुरणोंके प्रति प्रकट आकर्षणके कारण उपलब्धता बहुत कम भीकुरणोंके अनन्ततामा आकाशक ही गये है.

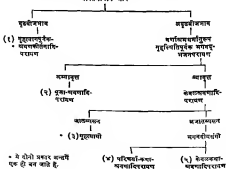
उपर्युक्त विवेचन एवं प्रयोग की अनुसंधानोंका धारणा उपर्युक्त आधारों पर आधारित है। अतः यह मान लेनी चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"। अतः यह मान लेना चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"।

अन्यथाकारणत्व

निरोधके कारण-अवधारणा यह मानने के बाद अन्यथाकारणत्व अनुसंधान हो जाता है। अतः यह मान लेनी चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"। अतः यह मान लेना चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"।

अतः यह मान लेनी चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"। अतः यह मान लेना चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"। अतः यह मान लेना चाहिये कि "अन्यथाकारणत्वमेव अनवधारणा नृपिण्यारम्भे प्रमाण्यते"।

अन्यथाकारणत्व



• ये दोनों प्रकार के अनवधारणा-
प्रमाण्यते हैं।

(4) पुरुषोत्तमत्व-
• अनवधारणा-
प्रमाण्यते

(5) पुरुषोत्तमत्व-
• अनवधारणा-
प्रमाण्यते

भक्तिवर्धनीयमे इव बोधो कर्तव्योऽपि (अर्थात् स्वयमुद्भूत मनवत्तेवा-कथा-यम जीवनयापन, सम्पत्ता ऐमे किन्तो मनवदीपके समीप पर वलाकर रहना और परिचर्यामे एवम् कथा-धर्मगार्थे उक्त मनवदीपका उक्त करता, यो बोधो कर्तव्योऽपि) अर्थात् एकाद-“वीराया वा कथाया वा सम्पादनित्वा मयेत् वाचनजीव सत्य वाचो न मनवतीति वदित्वेन” आत्मगान्धारा श्रीमहात्मन् निरोधतिष्ठिकी वाता ही वचसा रहे है क्योंकि निरोधने अर्थात्-“हरिणा ये विनिर्मुक्ततामे माना मनवताये ये निवृत्तास्त एवम् श्रीमहात्मन् एवम्” इस निरोधनजन एवमे वचनके अनुसार मनवताये मान होना निमित्त माना गया है अतः वरगुह्यो भी मनवत्परिचर्या तथा मनवत्कथाधर्मन भी अर्थात्तेमे निरोधकी विधि रकोकारमे ही वक्षती है कर्तव्यजन

कारण और स्वकपके विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होने-वाले प्रभावोंका विचार आनन्दन हो जाता है

औ वला प्रभावकी विमर्शके साथ भवसाधुमे आश्रित और जाता है, उसे भवसाधुमे मवीध एवम् निरोध की अनुभूति सीधतामे होने वक्षती है जैसा कि वचनकीके वारेमे कर्तन मिलता है- “वीराया परमकन्द आलोन्वोदिन्दस्वमे उक्त मुक्ततामिद वाता केन विनामम्” (भा १:१५:१५) भक्तिवर्धनीयमे इस अवस्थाकी ‘मनवत्कथा’ कहा गया है निरोधकी स्वकप निमित्त होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यवहनकथा स्वकप होने लग जाती है भव-वक्षनीयमे वरमात्मकी अनुभूति और एक क्षण भी मनवत्-विधीन यह न पाला यह निरो-धका कार्य माना गया है- “मनवत्निरोधतामिक-वचनमुक्तकारणमे एति भववक्षनीय-तामधिकपरमानन्दतामकान निरोधनम्” (निर्वाणार्थक).

भववक्षनीयता-वक्षमे मनवत्तेवाका अकसर भववक्षनीयतावुभूति है तथा अनवर निरोधनवुभूति है अत कार्यकथन भी अवतारकथन और मनवत्तारकाल बोधो परिचर्याकीमे सम्बन्ध हो जाता है

मनीजनलक्षण

आदलतम वला भावराजावे-विमर्शमे भी निरोधका प्रवीधन वुभूति एवम् आधवतामार्थता रवीकारा गया है- निरोधस्वाधुक्तनगतामन यह वनितवि धुनिद्विमानवतामन स्वकपमे वक्षनीयति, मानात्मन निरोधक स्ववधामनवीयते न आधर पर कहा परमानमेति वक्षते” (भा २:१५:—५) इसी तरह मानवताम निकलमे भी कहा गया है-“मनता पूर्वमे विदिता है रीद्वता विमुक्तते, कपमे निवृत्तकरणात् भवता मुक्ता वक्षति हि” (भा नि १:१५:—१५) और “हरिउक्तमे इनुक्तो मुक्ततामिति वक्षितम्” (भा. नि १५:१५)

वीरतामपरी निमनवतीमेति इमेमे बोधता यह अन्तर है कि बहुत निरोधोत्तर की अवस्था (१) धुनि और (२) मानवतामार्थता रवीकारमे गई है वीरतामनमे जबकि निरोध-

लक्षण पत्रके बाद आते सेवाफल प्रत्यक्ष सेवाके तीन फल (१) अलौकिक सामर्थ्य (२) सामुग्य; और (३) वैकुण्ठदिगु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं स्पष्ट है कि इनके 'सामुग्य' और 'पुनित' लक्षणार्थों पर है, इसी तरह 'वैकुण्ठदिगु सेवोपयोगिदेह' और 'आत्ममायापति' भी अर्थात् एक ही अवस्थाके संज्ञक है

बहुत लगे 'अलौकिक सामर्थ्य' के अर्थ होनेका प्रश्न है तो उत्तर यह ज्ञात है कि भागवतके प्रथमस्कन्धमें सायब राजा एवम् अस्त्रिज प्रचारके मतोंके चर्चितों में मायवित एवम् अज्ञानवशा का कभी कबल, प्रमाण प्रमेय और सायब के कल्पे हुआ है सायबके बाद तीनों ही प्रकारके मतोंके फलानुपाय भी वर्णन किया गया है। विशेषकी वही फलानुपाय सेवाफलके अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है, इसे 'अपलोपित-कुलार्थ' 'मन्त्रिप्राप्त', 'मानकी सेवा' अथवा 'कालविरोध' कहो यात एक ही कही है

पौरुषात्म्य पुष्टिमागीचोके निम्न श्रीमहाभूमि प्रकट किया है, पुष्टिवाहमर्षात्त सामकी — 'मन्त्रात्म्य हि फल न वयमिर्धेयं भुवि पुनस्तवकवर्धनेन तथा सेवा फल भवेत्' (वा १७) चर्चिताने यह सायबाबा ही कहा है कि पुष्टिमागी फल एवम् मन्त्रात् है, ये पुन या तवक के धर्मों जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हो, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है, एवम् तवकवापत्त इस भूतलपर भगवान्का चरतीके बीच प्रकट होना पुष्टिमागीय फल है इसी तरह पुनसायकी अर्पित द्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है दोषी ही तदुक्त भगवत्कालधर्मके कारण मन्त्र प्रकटकी भूलकर भगवत्काल ही प्राप्त है हर भूतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस वैकुंठे मूर्तके बाद कलवात्त मन्त्रमन्त्र और धर्मोंका अथवा वैकुण्ठ अर्पित लोकमें सेवोपयोगी देह मिलेगा ये दोषी ही फल इस भूतलपर चरित होनेवाली अनुभूति नहीं है, अतः पुष्टिवाहमर्षात्त रूपमें परिष्कारित पुष्टिमागीय फलानुभूति की तुलनासे ये कुछ नीचे अनुभूतिना हैं अतएव इस अनुभूतिके सामर्थ्यकी 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, यद्यपि इनके लौकिक अनुभव होनेकी कल्प ही नहीं उठ सकती है, कालविरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीकेवासी तरह, अतः उनके अनुभवकी 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है अथवा भूतलपर पाँट होनी अनुभूतिकी कोई लौकिक लक्षण कला है मानविकता अथवा यह है कि यह इस लोकमें चरित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है

विरोध करने होता का, अर्थात् सायबविरोध एवम् कालविरोध, ये इस लोकमें चरित होनेवाली अलौकिक घटना है "प्रधानी नीतिन हरे" अथवा श्रीमहाभूमि उत्पन्न भाग्यार्थक प्रयत्न अर्थात् इस लोकका प्रलेख करती है इस भूतलपर चरतीके बीच भगवान्का सायब-विरोध है और ऐसी नीलाके कारण अब भक्त अनुभूति भूलकर उपरीधर्म अनन्तरता आकाश ही प्राप्त है तो यह कालविरोध है इस स्पष्टीकरणक बाद विरोधका प्रतीक-लक्षण सुगम ही जाता है

भगवद्व्यवहारकालमें भूतलपर सकल हीनेवाले भगवद्भुवकी यह सीमा कि जिसका प्रवीजन जीवात्माकी अवस्थानावका प्राप्त करता हो वह 'विरोध' कहलाती है। अवतारकालमें सामुद्र-मुक्ति या भाग्यवशावशाति प्रदान करनेके लिए, जो विरोधभुव भगवान् करता है; और इस तरहके तीव्र विरोधमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के भुक्तानमें उत्पन्न हो जाता भी विरोध ही है, ये दोनों तरहके मध्यम भगवद्व्यवहारकालमें हैं।

अवतारकालमें जीवात्मा स्वयं अनु-विज्ञा केवा के होती है और भुक्तानका स्वयं भगवद्व्यवहार अवलम्बन-विज्ञान के होते हैं। अनुभूति विरोधका प्रवीजन जीवात्माके अधिक अतीतिक सामर्थ्य, सामुद्र एवम् अनुभूतिजीवने केवीजकी देह का लान माना जाता है।

भगवद्व्यवहार ही या भगवद्व्यवहारकाल सम्बन्ध पुष्टिजनकी भक्ति विरोधविज्ञान-विज्ञान-विज्ञानकी ही होती है। भक्त केवल भगवान्की ही चाहता है, भुक्तिकी नहीं, पर भक्ति अवशिष्ट फलप्राप्त करता ही है। वह सुखीय-सम्बन्ध कहना चाहता है। अतः प्रवीजनप्रदान भक्तके भाव-विज्ञानके पुष्टिजन एवम् नहीं दिया गया है किन्तु भक्तके स्वभावकी पुष्टिजन कर दिया गया है।

इसका अन्तर्गत एक और पुष्टिमें भी विरोधका मध्यम-व्यवहार किना जा सकता है यह है:

- १) करण-विरोध
- २) व्यापार-विरोध
- ३) कर्म-विरोध

१) करण-विरोध

सुखीयकी तथा भाग्यवशाव-विज्ञान के लक्षणप्रदानके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदला स्वयम् जीवके लिए करीबा अभाव का है। अतः जीवके सांख्यिक पक्ष या सामान्य स्वभावके अनुसार स्वयं कारण कर बनना, जब भूतलपर सकल होती है और पक्षीके जीव सीमा करते हैं, उन अपने-अपने स्वभावके अनुसार जीव भगवान्के स्वयम् एवम् जीवात्मा के जाताता हो ही जाते हैं। इस सीमाविहारी जीवात्मामें भाग्यवशाव कारण सांख्यिक विज्ञानमें अन्तर्गत अन्तर्गत स्वयम् एवम् काती है। अथवा स्वयम्पुष्टिपक्ष केवल भगवद्भुवविज्ञानकी आवनाके कारणपक्ष हो जाती है। वह विज्ञानपर परिपूर्ण विज्ञान जीवके कारण सम्बन्ध होता है, जब भगवद्व्यवहारकी करणात्मक विरोध माना जाता है।

'करण' यदि अन्तर्गत कारण, अन्तर्गतमें भक्ति अन्तः-विरोध, अन्तर्गत— जो जो अन्तर्गतपुष्टि और हृत्प्राप्ति की सिद्धि मिली, अन्तर्गत अन्तर्गत कारण अन्तः-स्वभावानुसार अन्तर्गत एवम् अन्तर्गतीता ही है। अन्तर्गत कहा गया है—'ते माधोतपुष्टिप्राप्तः मोक्षीयमहत्तमः अवतारप्रकाशः साक्षात्प्राप्तुमानता केवलम् हि माधो गीष्मः वायुः नगा

मृदा: केन्द्रे मूत्रपित्री तापाः, सिद्धाः वाय्वीमुरज्ज्वाः, यं च बीमेन ग्रीकोन दानवततनोच्चैः
 म्माक्यास्वाध्यामसन्धाये प्राप्नुयाद् मलबालनि" (भा. ११।१२।७-९). यहा जिस तापसंग
 बीर जिस भाव को स्वच्छातिमे भयबान्धुने साधन माना है, वह स्वयम्भूता कीलासक संग तथा
 कीलासकितक्य भाव ही है. अन्य सभी बीम साध्य दान वत तन यहा म्माक्यान स्वाध्याय
 एकम् संग्याय रूप साधनोकी अकिञ्चित्कृता रक्षयम् भयबान्धुने ही वलित कर दी है
 इसे 'साधननिरीध' अथवा 'भयबान्धुका चक्षुषीमे निरीध' माना जाता कहा जाता है.
 इसे 'साधननिरीध' अथवा 'भयबान्धुका चक्षुषीमे निरीध' माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि अकर्तृक सत्वात्मकगुण अकर्तृकी शीला, अकर्तृक निरोध अकर्तृक प्रवृत्तिविरुद्ध और अकर्तृकविरति का असाधारण कारण है।

५) **अवकाश-मिशन**

५) व्यापार-विरोध
कारण दो तरहके होते हैं : (१) उत्पादन (२) निमित्त बिहो पड़ेका उत्पादन कारण होती है। पचन दवाओं काटि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं निमित्त कारणके निमित्त बिहोवर कार्य उत्पादन नहीं होता। अतः सक्रिय-निष्क्रियकारण कारणके कारणको 'कारण' का 'उपकरण' कहा जाता है।

या 'अपकरण' कहा जाता है.

भगवत्प्रीत्यागे निर्दोषकी उत्पत्तिमें कारण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी होना चाहिये. अतः प्रपञ्चवस्तुत्पत्तिपूर्वक भगवत्प्रीत्याग यह भगवत्प्रीत्याग व्यापार है. जैसे चायतेका छिपना या दूधमें छिपना, इस व्यापारीके कारण चक्का-दण्डा आदि अपकरणकी 'करण' कहा जाता है.

4) **संसाधन-संग्रहण**

[illegible]

अज्ञेतिगोत्रे विध्या-नामिक प्रयत्नकी तरह यह प्रयत्नका व्यपञ्चन नहीं है, न नैवावि-
 कोत्रे अविना प्रयत्नकी तरह यह प्रयत्नका नाश ही है। साधने जात प्रयत्नकी तरह इसे
 विवर्जिता प्रवृत्तिमें पुन लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है, प्रयत्नके ब्रह्मत्वक
 ही अनेका सात्विक केवल इत्यादी ही है कि दुष्ट-जीवको यह ब्रह्मात्मन होनेपर भी वेता
 विमर्श नहीं होता है, पर निष्ठ भक्तकी दृष्टिमें अपने विपक्ष परमात्माके अनाया अन्व
 कुछ जाता ही नहीं, फलतः अद्वयत्वमें विविध पदार्थ भी उसे सम्बन्धान्तरमक विवर्जनी
 पड़ने लगते हैं इसी तरह जीवजगत्में भी सभी रूपोंमें ब्रह्मत्वकज्ञाना भाव होने लगता है-
 अद्वयजीवात्मक अवस्थाकी अवस्थाएँ एकम् दु सादृशता विरोहित ही जाती है, इस सर्वमें इस
 अवस्थाको कभी 'प्रयत्नब्रह्म' या 'प्रयत्ननाश' कहा जाता है यह फलनिरोध है अर्थात्
 प्रयत्नका प्रयत्नानुमे निरोध है इसका प्रयोजनफलमके अन्तर्गत विचार हुआ है
 यथा एकैवमेव भगवान्को लीलाया सर्वत्र अनुष्ठी हुमा है :

(१) अमान-निरोध

(२) प्रमेय-निरोध

(३) साधन निरोध

(४) फल-निरोध

(१) भगवान्की अमानकथा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुसू
 धारण किये उसे भगवान्की आज्ञा पाता है अतः ऐसी लीलाकी 'अमान-निरोध' कहा जाता
 है, अमानलीलाके कारण अनन्तर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेरक के प्रेरक होता है, इसका
 फल भक्तके हृदयमें प्रेमकी विचरता होती है

(२) भगवान्की प्रमेयकथा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुसू धारण किया गया
 भगवान्का रूप—प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा सादृश ही जाता है अतः ऐसी लीलाकी
 'प्रमेय-निरोध' कहा जाता है प्रमेयलीलाके कारण अनन्तर व्यापार भक्तके हृदयमें अद्वय-
 तात्विक—भगवान्के अन्तर्गत अन्य सभी विषयोंमें अन्वि—के रूपमें प्रकट होता है, इसके
 फलस्वरूप भक्त अपने मदीरमोंके अनुसू धारण भगवान्की रूपकी प्रतिक्रिया प्राप्त होता है

(३) भगवान्की साधनकथा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुसू धारित भगवान्की
 रूपकी प्रतिक्रिया साधनलि भक्त उत्तर हो पाता है अतः ऐसी लीलाकी 'साधन-निरोध' कहते
 हैं साधनलीलाके कारण अनन्तर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवान्की स्मरण के रूपमें प्रकट हो
 जाता है अतः भगवान्की विद्या भक्त रह नहीं पाता फलस्वरूप अपने मदीरमोंके अनुसू धारण
 एकम् भगवान्की लीलाकी अनुसू धारण उसे होने लगती है

(४) भगवान्की फलकथा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुसू धारित भगव-
 द्गुणी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है अतः ऐसी लीलाकी 'फल-निरोध' कहा जाता है
 फलनिरोध लीलाके कारण अनन्तर व्यापार भक्तके हृदयमें माननी सेवा, सर्वोत्तम

आन्तर-संयोगमुख और संयोगमें स्वस्वचानुसृष्टिके कारण मिलते जाइयें संयोगमुखकी अलगमें रहकर स्वीकार्य क्या है, आन्तरमुख-दान रहनाशन है तथा बाह्यमुख-दान रहना प्रत्यक्ष-योग है, यह 'बहुवीर्य' स्तोत्रकी सुबोधिमिति सिद्ध होता है, अतः उत्तररत्नमें अन्तर्निष्ठाके अंगमें कलकत्ता तथा विरहृष का धर्मिनिप्रयोग के अंगमें साधनरूपता है, केवल विरहृष के फलस्वरूप हीनका उत्प्रेषण श्रीमद्भक्तभूमि कथना भीममुखरूप के किसी भी कथनमें मिलता नहीं है, आन्तर-संयोग-मुख प्रदान करनेवाला निप्रयोग स्वयं संयोग प्रदोष है, जबकि केवल विरहृष आन्तरसंयोग-मुखके अभावके कारण, मुक्ति का साधनमानावर्तिता का अंगरूप विरहृष माना जाता है, इसे 'केवलमुख-वृत्त विरोध', 'धर्मिनिप्रयोग' 'केवल विरहृष', 'मुखान्न विरोध' या 'साधनदानस्वरूप विरोध' कुछ भी कहें तब एक ही होता है.

इस तरह निरीधके कारण-स्वरूप-कार्य-संयोग-एक बहुविध सङ्घटन, विविध स्वरूप-कारण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-सुख-उपभोग और केवलमुनसुख निरीध के कारणे ओके-संघा-चैत-उपदेशोंके विस्तृत विमर्श करानेपर निरीधसङ्घटन स्वयंको समझना एकदम सरल हो जाता है, फिरभी धर्मके अनुयायनो पूर्ण एक और स्वयंकीकरण अथवा आत्मिक है, जो केवलके बाद ही सम्मानाचार केवर्गे.

[illegible]

विपरीतपक्षी संयोगसमय—विपरीतपक्षी संयोग

निरीक्षणार्थे संयोगसूत्र-विधीगण्डवकी भाषणा
 निम्न भक्तानि मेवा और कण्डा दोनो निम्न पायी हो कहे कानि पावने अनुसूच मेवा
 कहे समय होकुलकी भाषणा और कवाके समय कृष्णधर्मकी भाषणा करनी चाहिये.

गरी समय सीपुनकी भावना और कबाले समय कृतज्ञताको भावना को प्रतीक के रूप में प्रयोग किया है।
गोचारणके लिए प्रतिदिन सायान् नुवादन तथा छे है, उन गोपुनको महत्त्वभावनाके
कार-परीक्षा करि कलको छया पुचारणानवाली गीतिकाको को बने विमोहन पुनको अनुभूति
होती है, वंसी दुसापुनति-विपुलता हने कलाकायमे कव हनी ।

कार्यकाल बीनारण कर भगवान् मोक्षुन छोड़ते हैं। सब मोक्षुनमें मोरिनाझीकी वस्त्र भण भी सभी यजमानियोंकी वस्त्र रीतिमें भगवत्तोषाहारा जैसा मंजोमनुष्य विमला है, वैसा भुज देवाने समय भगवान् भुजें कर प्रदान करे !

इस तरह शासनकाल-प्रकरणके "शासन-प्रतिष्ठापन-सद्वर्तन-प्रवर्तन-प्रवर्तन" भवनमें बगित यथोक्त-विधी-रूप व्यवसायि विधीमते कार्य भुज-दु-रुकी भावना करनी चाहिये।

विध भगवतीके सेवा-कथा एक साथ नहीं विम जाती, ऐसे सम्मानाधिकारियोंकी वही, यजमानोंकेव्यवहारमें बगित तीव्र विमयीक-वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथा-प्रवर्तनकालमें अन्तर्विष्टाके साथ शासनप्रयोग-भुजकी भावना करनी चाहिये।

उक्तमें सब आनेपर उक्तके साथ भगवत्कथाके व्यवहार-प्रवर्तन-कीर्तनमें जैसा एक भुजहान् उक्तप्र प्रकट हुआ, वैसी व्यवहारकी अनुकूलि कथा-प्रवर्तन करते समय हमारे मनमें सब होती । मोक्षुनमें शासन-शासन-शासनके व्यवहारकी और कथा-प्रवर्तनमें शासन-शासन-शासनके व्यवहारकी उक्तके साथ भगवद्भुजप्रवर्तन करते समय जैसा शासन-भुज अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें सब प्रकट होता ।

केवल कथाका शासनप्रवर्तन करनेवाले भक्तकी ऐसी भावना करनी चाहिये, इस तरह यह मोरिना कार्यकाल भीमहृदयभुज सुचित विधा है

विधीमते कार्यकाल भुजप्रवर्तनी भावनाप्रवर्तनी

कार्यकालकी सुचित करनेके बाद भीमहृदयभुज विधीमते कार्यकालप्रवर्तनी सुचित करना चाहते हैं।

सुचित भावनाओंकी करनी रहनेपर भी हृदयमें भावनाका प्रवर्तन नहीं हो जाता है। यहान् भक्तोंकी कथा होनेपर ही भगवान् ऐसी कथा हृदयपर करनी है कि हमारे हृदयमें भाव अनुभूति हो पाये है, इस बीच भावप्रवर्तनी—भुजप्रवर्तनी भगवान् भीमहृदयके रूप भुज कीका एकम् नमो का सकीर्तन हमें करना चाहिये, इससे अन्तिमार्थपर हमारी भावना हम भुजप्रवर्तन करने बह प्रवर्तनी।

भीमभुजप्रवर्तन प्रवर्तन करनी है कि "आहुती प्रवर्तन कार्यकाल भावनाप्रवर्तनी, भीमहृदय-प्रवर्तनीका अन्तर् भावना व भावना...भावा भावनाका विष्ट रति भावनाप्रवर्तनी, उक्तप्रवर्तनी-विष्टाका हृदि भावनाप्रवर्तनी अन्तर् भावनाप्रवर्तनी, भीमभुज तथा भुजप्रवर्तनी भावना-प्रवर्तनी—भुज भीमभुजप्रवर्तनी की कथा होनेपर भगवत्प्रवर्तनीका प्रवर्तनी अधिकार प्राप्त होता है।

भी भुजकी हृदि कार्य ऐसी और कभीभुजकी भावना ऐसीके अन्तर्में बहुत अन्तर सब जाता है। इसी तरह भगवत्प्रवर्तनी अन्तर्भावाके पूर्ण भगवत्प्रवर्तनीके भुजके, कभीकी हृदिभुजकी भावनाके साथ, भगवत्प्रवर्तनीका व्यवहार विष्टा भुजप्रवर्तनी है, उक्तप्रवर्तनी अन्तर्भावाकी भुजके लिए उक्त दीक्षाके कोटिप्रवर्तनी केवलकर, भगवत्प्रवर्तनीके भुज होनेवाले अन्तर्भावाके भुजकी भगवत्प्रवर्तनी भुजना भुजप्रवर्तनी होने बह की कथा कीर्तन प्रवर्तनी है, भगवान् मोरिनाके भुज-

मानने देना। कुछ भीकुसुमनि जैसे निर्लेख आत्मप्राप्त मुनिधोने मिलता है, होता उन्हें अपनी ब्रह्मलीनपत्नी अनुभूतिने भी नहीं मिलता है, अतएव भीकुसुमे—“परिमित्यतोनि नैकुले उत्तमसलोत्तलेलता गृहीतयिता रात्रये आत्म्याय मयधीनताम्” (भा. २।१।१२) बचनेकी व्याख्याने श्रीमद्भक्तभूति विवेचन किया है “आत्मप्राप्तो रात्रयै नुच नो गृही है ऐसे रात्रयेय बचनेके अनुसार आत्मप्राप्तवशापी गुणातीत स्वार्थिने नित्य निपत होनेपर भी आत्मवशके रखकी अनुभूति होनेपर, उसकी अग्राह्यता—दिम्पता लगाने जानेपर, भीकुसुमे यह समझने आया कि ब्रह्मने जोन होनेवालेको जब सत्त्विक—अनन्याकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दने भी अधिक उल्लसद योगवशके मन्त्रारण्यके छोड़कर जीन समाधिने अनन्यरने गये ।”

इस योगबहुगुणालके कारण भक्तके हृदयमें भवनदासकितरुच स्वायी भाव, जब मयबहुविरहवशके कारण दायमुक्त हो जाता है, तब हृदयमें छिपे हुए भावात्मा बचानु बचानन्द श्रीहृण्य ह्वायुना होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आत्मभवन-विभावके रूपमें

भावात्मा हृदयमें विराजने अथवा भावके आत्मभवनरम्यता बाहर प्रकट हो, भववान् गर्वत लाँचा आत्मभवन हो होते हैं। इस आत्मभवन परमात्माका सर्वात्म्यभावे रूपमें प्राकट्य जब परमात्माकी वदनहृत्तामसी आत्मप्राप्तभूति है वह क्या सुसुती है बलके हृदयमें भावके रूपमें बरा हुआ है, भवनबहुगुणालके धन-कीर्तनके मण्डितवाहने महानिध तरे जानेपर एक दिन छलक जाता है । इस तरह कि कलने देह इन्द्रिय प्रत्य भक्त करण आत्मा तमन मय भी आत्मीय बलुभी की यह अपनी अन्वीकित ब्रह्मभूतिमें व्यक्तित कर देता है ।

अतः सदानन्द श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध नवीन् भूतिमार्गमें मवीकृत बीयाकी बाह्यने कि लारी लीनिक आत्मनिधोकी छोड़कर केवल मयकाके गुणवाचने के उत्तर हो आय गुणवाचने कारण अन्तत सर्वत्र ब्रह्मकलाकी अनुभूति मयकी रूपमें देह इन्द्रिय-भक्त करण तथा आत्मा के भी होने लगेगी। प्रत्ययकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो भूति कहो होगी ? कलकलमय प्रत्ययभक्तभूति और भवनदासकित रूप विरोध निरुद्ध हो जाता है

विरोधके मलकितित स्वकलके अवशेषक भीमहृत्तम्

आत्मीयभवननिधुर्न जाता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश का कर लकने है, पर यदि तो आत्माने ही निरुद्ध कलने है, आत्मकी जब विद्या निरुद्धी है तो वह निरुद्धत होती है—“ते होयुरवकीलता सीम्य केरलकविद्या आत्मविद्या च, आत्मी-रु ते गति कला” (भा. २।२।२२) “आत्मकीर्तनेन निरुद्ध विद्या गतिरिष्ट प्राकटीति” (रा. १।१२)

योगवश (२।२।२।२) व भी गुणकपाकी महता ब्रह्मपद-लोभकलके रूपमें प्राप्तित हुई है—“रहमैरु लाला न वाति न केनना निरुद्धाद् मुहोक्त न लपता नन जलानि-गुर्गविना ब्रह्मादरवीधिकन सर्वोक्तकलोकगुणबुद्धात्, मन्त्रुयने आत्मकवाधितत विवेकमार्गोद्भूतिन गुणुलोभता लती गन्ताति आनुये”

इससे निश्चय होता है कि आचार्यशर्मणों आचार्यकी महत्ता असाधारण है अतः तत्त्वम् भक्त्यान्वये भी आचार्य ही हैं कि "आचार्ये वा विजयावीर्यात् वाचकान्येत कश्चित् न मत्वेन्दुद्वया-
मुक्तेः शर्मणैरवमयो वृषः" (भा. १.१.१७।२७). अर्थात् आचार्यकी आचार्य भगवद्भूष ही समस्तता चाहिये — सर्वेन्दुद्वये आचार्यकी देखना आचार्यके साथ अनुयायिका व्यवहार है. आचार्यने प्राप्यमये ही भगवान् अपनी प्रति व्यक्त करती है—"आचार्यैरेवमनुया एवमपि व्यक्तता" (भा. १.१.२१।२५).

विरोधके कारणतथापि यह समझना क्या था कि इस भूतजन्म भक्तियों की भगव-
वान्का प्रकट होना कल्पविरोध है, अर्थात् भगवान्का भक्तियों विरुद्ध होना ही है. अतएव श्रीमद्वाक्यविरचनाय भूतजन्म प्रकट होना उनका भक्तियों विरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तम-
स्वीकृत के बाद मानी—"श्रीमद्भगवत्पुस्तके-असाधारण-विरचना.", "अनद्विष्टाकृते कल्पमन्त्रिकद्वद्"
तथा "कल्पिकतो भगवत्प्राप्तमन्त्र." के अन्तर्गत करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीमद्भगवत्पुस्तके अन्तर्गत कल्पमन्त्रिकके—"श्रीमद्वाक्य तद्वये कल्पमपि मनुया प्राप्नुयु रीद
देवीपुष्टिमन्त्रां न भूमाश्रितकलपरहित देव वीर्यवरीया" कह कर श्रीमद्वाक्यविरचनाके प्राकट्यके
कारणविरोध होनेकी पुष्टि की है. तत्त्वम् श्रीमद्वाक्यविरचना भी—"अयं तत्त्व विवेचित्
नहि विन्तु रीदवानप्राप्तकले कल्पमन्त्र विद्याय मानुषतन्त्र वा व्यासवत् धीपति. एवमपि न
कृपावशेनानुद्वद् मन्त्रादयोह पुनः भूतान् प्रकटीकरोमि" (मुक्ते. १.१.११) कह कर अपने
प्राकट्यकी विरोधकप्रकृति ही व्यक्त की है यही कारणविरोधकप्रकृति अपने प्राकट्यकी
श्रीमद्वाक्य "अह विरुद्धी" मन्त्रद्वारा कहा प्रकृत कर रहे हैं.

पुष्टिमन्त्रीय श्रीमन्त्री भगवत्प्रकृतिय और तत्त्वविरुद्धि के कही कोई बाधा न था जाने
भूतजन्म अपने पुष्टीपरिक्रमा करके उनके समस्त तत्त्वम् भगवत्प्रकृति तथा भगवत्प्रकृति के असाधारण
अप्य कही वस्तुओंकी विरुद्धिप्रकार उदाहरण रचानि किया. इस व्यापारविरोधकी ही महा
'रीमै' पर द्वारा प्रकृत करती है.

इस व्यापारविरोधके कारण ही कल्पविरोध भी अपने अनुयायीओंके प्रकट हुआ है.
अतः भूतजन्म सर्वोत्तमस्वीकृत—"आश्रितमन्त्र-द्वद्-धीकल्पमयेवा" द्वारा श्रीमद्भगवत्पुस्तके की
दिना है कही 'विरोधवशी' है. किन्ते श्रीमद्वाक्यके पुष्टिमन्त्रमें भगवान्के द्वारा निरुद्ध या
अवीर्य देवी श्रीमन्त्री विरोधके निरुद्ध कारण की है—"रीमै न निरुद्ध निरुद्धानां नु रीमय
विरोधवशी कही अह है विरोध नर्ममन्त्रि".

अपना चार्जमें इस देख रहे हैं कि राजा-आपने उनके अपने आचार्य की भी—"अह अपने
पर आचार्य सेवा करो, देवी श्रीमन्त्री अपने श्रीमन्त्री नाम कीकी तुमकी विरोध निरुद्ध भकी और
की निरुद्धी यह करके तादृकी विरोध निरुद्ध होवती!" यदि कही मान कहा भी श्रीमन्त्री की अन्तर्गत
की द्वारा—"रीमै न निरुद्धी विरोधवशी कही अह निरुद्धानां नु रीमय है विरोध नर्ममन्त्रि"
जैसे श्रीमद्वाक्यकी सेवा-असाधारण विरचना — कल्पविरोध तथा व्यापारविरोध-के राजा-

तत्त्व लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं है। अतः इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवद्विषयोंमें भी तबेतर इनका अनुपयोग ही जाता है।

मुनीश्वरी (१।१७।४६) ने श्रीमहात्म्यमें इसका विस्तृत विवरण दिया है—“प्राणिशरीरं सारह्य सारह्ये वृत्तिषां होती है। दस कर्मवर्गसिद्धियोंकी वृत्तिमा, चार अन्तःकरणकी वृत्तिमा, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति और एक अज्ञानसम्बन्धी वृत्ति। इन सभी वृत्तियोंकी भगवत्सम्बन्धी—भगवद्विषयक वृत्तिले सर्वभजनसमर्थ—सर्वमावाप्तय भगवान् प्रकट होते हैं।”

यही ‘भूषामुख’ कहकर ‘सर्वोत्थान’ कहलाता है, ‘भूषासम्पसादाऽनुदेष्टा’ (१।१।८) ब्रह्मसूत्रमें यह विवरण दिया गया है कि सभी वृत्तियोंमें भगवदनुभूति भूषामुख है—“ये च भूषा तामुखं नामो मुखमस्ति”, “यस्य सत्पत्त्यस्यसि भाग्यम्बुधोति सत्पद्विजानाति स भूषा” (छान्दोग्य ७।२.३।१ और ७।२.४।१)।

अतः इन्द्रियादीकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोंमें दुरुपयोग में उनका अहित—अनुपय हीता है। भूषा—मुखीत्वमें श्रीकृष्णमें उन्हें बोधित करना उनका वास्तविक अनुपयोग एवम् हित है। इन्हीं ही ‘समन्वितवृत्तिपूर्वक भगवत्सम्पत्ति’ भी कहते हैं। यह भक्तका भगवान्में विरोध है। भगवत्समकर्ममें यह मुख विरोध जिनके सिद्ध एवम् न ही उन्हें भगवान्में सुनोके अक्षय-अनरत-सीतलम् अथवा चित्त लगाना चाहिये, बुराईकी भगवान्में सुनोमें आश्रित और समन्वितवृत्ति सिद्ध हो जानैवर, न ही समन्वित सीतलम् अनुभूति होती और न भगवद्विच्छासीतली ही। भगवान्में सुषामुखात्में भी सत्मात् भगवान्की तरह सुषामुखात्में ही।

केवल मुखहृत् विरोध

इस केवलमुखहृत् विरोध द्वारा यदि भगवान् मुखदान न करती होती तो उन्हें यमादिके बजाय कुर ही मानना पड़ेगा, क्योंकि सार्वभारतके कारण लौकिक सुनोके बुरा जानैवर, भगवान् यदि भक्तकी भगवत्सम्पत्तिमें अक्षयमें मुखदान न करते ही तो, अहित दू लौकिक ही यानी जानैवी, मुखदान नहीं परन्तु मुखहृत् विरोधमें भी सुनो लागने है कि भक्त साधारण केवल और भगवद्विच्छाकेवल केवल, योकी है उच्चर लक्षता है।

भागवत (१.७.७।७२) में कहा गया है—“अपि दुर्गे आत्मसम्पत्ति भक्तोंकी सुषामुख करानेके सिद्ध भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं। इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध सीता मुखान्तर प्रकट करते हैं। ऐसी भगवत्सम्पत्तिके मुखान्तरमें नैलेबाले भक्त भगवान्में परम-परीकीके बीच निवास करीगले हूय परमहृत्की सुखमें अहित होनेकी कारणसे निवृत्त परिवारीकी बीच देखैवर जो, अक्षय्य या साधुभगवत्ति नै कारण नहीं करते हैं।” यही लौकिकीमें कहा गया है—“सीतलीवीय कृष्णस्य चरित्वाचक्यमेवि तादृश आश्रयी

माना गया है, इस सर्वोन्मुखीकरण व्यवस्थापकीय कारण भी लौकिक विषयों में विराम स्थिर रह सकता है.

इस विषयबेराखीके साथ भगवान्‌के गुणोंके अङ्गीकार सहज-स्मरण-निर्लानके कारण गुणोंके साध्यममे सर्वदुःखहारी श्रीहरिना अन्तर गुणत्वसे बना ही रहता है, अतः दुःखी होनेवा सो कोई संभाव ही नहीं रहता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानस्वात्ममें भी होती है और भक्तिस्वात्ममें भी। ज्ञानस्वात्म सर्वात्मभाव आन्तरात्मक होता है, तथा भक्तिस्वात्ममें सर्वात्मभाव समास्य भुगार मध्य बाह्यत्व या बाह्य भावात्मक होता है। ज्ञानस्वात्ममें सर्वात्मभाव के बल आत्मना बहुल-त्वाकी अनुभूति होती है पर भक्तिस्वात्ममें सर्वात्मभावमें सर्वोन्मुख भक्त करने तथा ज्ञाना से भी ज्ञानवाक्यकी अनुभूति होती है, अतएव भक्तस्वात्मकी सुखोपिनीमें यह कहा गया है कि सकल दृष्टिमें ही अतीत अतीत-वर्षमानकी सकल दृष्टिहीन विषय समाप्त भुवि की ओर है, यही सुख अनुभव है, यही भक्तिस्वात्मकी कारण सुख है (सुखी १.१७.२५-२७)। दृष्टिस्वात्म-वर्षमान के स्वयं-स्वरूप-वर्षमान के कारण यही इस तरह विद्यमान है यह स्वयं, ज्ञानस्वात्म बल और भक्तिस्वात्म के विषयकी सुखान्तर, यही कारण है।

हृदिकपत्रों पर अक्षर-दीर्घाओं से सामान्यविधियों की प्रतिबन्ध व्यवस्था कला है, अक्षर ही यह कि इस हृदिकपत्रों, अक्षर-दीर्घा-दीर्घा की हृदारी गुण्य कर्मावृत्तियों को सम्पूर्ण कर्मावृत्ता सामान्य न बनाया जाये दूसरे हृदिकपत्रों अवस्थावृत्ति में कीर्ति अक्षरों कला एकविध कर्मावृत्ति को न बनाया जाये अन्यथा यह हृदिकपत्र भक्तिमार्गीय अवस्थावृत्ति निरोध किट कर्मावृत्ति विपन्न ही जाती है—“अक्षरों पर अक्षरों के कर्मावृत्ति सदा गुण्य”.

गुण-अक्षर-अक्षरकला विरोध

अन्यथास्मात्मे जो स्मिच्छता स्वस्वता प्राप्तव्य होता है, अन्यथास्मात्मे स्वस्वता प्राप्त न होने के कारण स्वस्वताप्राप्त विरोध सम्भव है कि नहीं ? यह प्रश्न विचारणीय है।

[illegible]

विश्रामाची गळी हे : (१) साधारणपद्धत्याचे विद्यापीठे अन्तर्राष्ट्रीय पातळीवरील प्रगतीसाठी

अन्धसङ्गदपरिचयः ।

१. सर्वे मुद्रिकर्तव्यं व्यवसृज्यते च यद्वा श्रीमद्वाचस्पतिकेन निरूपयन्तं मुद्रितमात्मनि ।
सर्वं विद्यमानं चतुर्भेदा भेदाचतुर्भेदात्म विद्याभूमिनिर्वाह्येषु मुद्रितेषु दृश्यते । सूत्रमात्रं
पुस्तकं चतुर्भेदोद्भूतमित्यस्यदृष्टम्, अथ सूत्रं मायानं च ।

५ आचार्यश्रीशेखराचार्यविरचितं तुल्यवचनप्रबन्धसंग्रहम् । तत्र तुल्यवचनं च= गद्यतुल्यवचनं चित्रितप्रबन्धसंग्रहम्, पद्य-पद्यीयं चित्रितं चतुष्टयम्, कव्यवचनं चतुष्टयम्, भाष्य-तुल्यम् । शृङ्गीयं तुल्यं चतुष्टयं च पद्य-चतुष्टयसंग्रहम् । चतुष्टयं भाष्य-तुल्यम्, पद्यीयं च चतुष्टयं चतुष्टयसंग्रहसंग्रहसंग्रहम् । पद्यवचनं पद्यवचनसंग्रहम्, तुल्यं चित्रितचतुष्टयं च ।

१. श्रीविष्णुदेव्याय नमः श्रीमद्भक्तिकल्पतरुः । इति ५० । तत्त्वज्ञानसंग्रहः ।
अथ श्रीमद्भक्तिकल्पतरुः । इति ५० । तत्त्वज्ञानसंग्रहः ।

[illegible]

५. चतुर्थं सुदृष्टं स्वामयनं श्रीचक्रमात्रम्, श्रीगीतगोपनीयम् । सुदृष्टमनसा यच्च हृत्पद्मांशुं
पश्यत्यसि । एतं यच्च मनुजसामान्यदम् । द्वितीयं स्वामयनं श्रीचक्रमात्रम्, श्रीगीतगोपनीयम् ।
चतुर्थं सुदृष्टमनसांशुं श्रीचक्रमात्रं श्रीगीतगोपनीयं हृत्पद्मांशुं यच्च मनुजसामान्यदम् । यच्च
यच्च मनुजसामान्यदम् श्री च हृत्पद्मांशुं यच्च मनुजसामान्यदम् । श्रीगीतगोपनीयं यच्च मनुजसामान्यदम् ।
यच्च मनुजसामान्यदम् । श्रीगीतगोपनीयं यच्च मनुजसामान्यदम् । श्रीगीतगोपनीयं यच्च मनुजसामान्यदम् ।

[illegible][illegible]

केवलिकम् महापुरुषाचार्यं पुनश्चकार्यम् । विवेकं येनवा हे कृपया नदि । तद्व्यक्तव्यतां केवलिकम्,
 महा कुरुषु श्रीवकार्यं श्रीहन्त मुद्रमिष्यता । शारीर्याम्हे न विद्वान्ः अन्तर्गतं शारीर्यं । कृपया श्रीकृत्य
 समस्तव्योक्तं कर्तुमुक्तं अविश्वसीति । श्रीव्यक्तव्यतां अन्तर्गतं कृत्यः कृत्यः श्रीव्यक्तव्यतां
 समस्तव्योक्तं विवेकव्यक्तव्यतां अन्तर्गतं श्रीव्यक्तव्यतां कर्तुम्, कृत्यः श्रीव्यक्तव्यतां
 अन्तर्गतम् । अन्तर्गतं श्रीव्यक्तव्यतां अन्तर्गतम् । अन्तर्गतं श्रीव्यक्तव्यतां
 अन्तर्गतम् । अन्तर्गतं श्रीव्यक्तव्यतां अन्तर्गतम् । अन्तर्गतं श्रीव्यक्तव्यतां

वाचनव्यक्तं ११५५. }
 सुम्भर.

सुम्भर. श्रीव्यक्तव्यतां.
 श्रीव्यक्तव्यतां श्रीव्यक्तव्यतां.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवाहभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

यद्यद्दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वान्मम कथित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्तुल्यं रामभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
वद्व्यागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि कथित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया पावद्भगवान् दययिष्यति ।
तापदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्दुःखं कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु क्लेशभोजनरुचायत् ॥ ५ ॥
सुगमामे सुखावाशिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शूरादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्षिप्रमानान् जनान् दह्या कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्मितं यतिः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृत्ततः सत्पुत्रान् श्रुत्वा वर्षाः प्रापयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य भिन्देः सर्वदा शुभाः ।
सदानन्दपरिणयाः मयिदानन्दना तनाः ॥ ९ ॥

जहं निरुद्धो रोधेन निरोधवदयीं वतः ।
 निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते^१ ॥ १० ॥
 हरिणा ये विनिर्मुक्तास्तो मग्ना भवसागरे ।
 ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमापान्महर्षिणम् ॥ ११ ॥
 संसारान्नेषादुच्छान्नामिन्द्रियाणां हिताय ये ।
 कृष्णस्य सध्वजस्तुनि भुञ्ज ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
 गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
 संसारविरहकेशी न स्वातां हरिपत्नुसम् ॥ १३ ॥
 तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा कुरुता मता ।
 बाधदाह्वापि नास्त्वत्र तदप्याख्येपि सिध्यति ॥ १४ ॥
 भगवद्दर्भेक्षामर्ष्याद्विरामो विषये विरः ।
 गुणैर्हरिस्तुल्यैर्वाङ्म दृग्धं भ्राति कर्हिषित् ॥ १५ ॥
 एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो हरिधर्मवे ।
 अमरसैरेलुब्धेष्व वर्णयीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
 हरिर्भक्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
 वर्धनं स्वर्धनं स्वर्धं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
 अवर्यं कीर्तनं स्वर्धं गुणे कृष्णविषे रतिः ।
 पापीर्मलाशल्यानेन शेषर्भावं तमी नयेत् ॥ १८ ॥
 यस्य वा भगवत्कार्ये सदा स्वर्धं न दृश्यते ।
 तदा विनिर्मुक्तस्य कर्त्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
 नातः परतरो मलो नातः परतरः स्तनः ।
 नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परतत्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भक्त्याचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
 समाप्तम् ।

१. उमीति पाठ । २. भूति कृष्ण नीलनेत्रिणि पाठ । ३. हरे-दुर्लभोक्तिनि
 पाठ । ४. पादपेक्षिणि पाठ । ५. कृष्णविषे इति पाठ । ६. लोचनेति पाठ ।
 ७. पादपेक्षि पाठ । ८. वेदमार्गमिति पाठ ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविश्रुतिसमेतम् ।

श्रीमहाभरतमुचोक्तिवागन्धेयुः च सप्तम्येषु तिरोधस्तु निगममानत्वात् तमापधायाः
तदवस्येनापसृपके मनोरथस्वरूपमाहुः ।

यच्च दुःखं यद्योदाया मन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तच्च दुःखं स्थान्मम कथित् ॥ १ ॥

गोपिकानां स्थित्यन्तेन सर्वोक्तता स्पष्टमत्र च सूचितेति शेषम् । स्वार्थिनि
मार्थनार्थं त्विह । कथितेति दुर्लभत्वम् । तथा च बहिरतिर्धृतो भगवान् मातृचरणादीनां
विरहात्तुमवसनार्थं यदा मधुरीं गतास्ता यद्विरहात्मकं दुःखं समवति तद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥

विप्रयोगदशायां तादृशस्थित्यनुभवलाभित्वजन्यमुल्लसिष्यके मनोरथमाहुः ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां प्रजयासिनाम् ।

यत्तुलं समञ्जत् तन्मै भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

स्थिति पूर्वपदेव । ययति साक्ष्यं संयमप्रवासीप्रत्यक्षार्थस्य सिद्धी सन्देहा-
स्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वात् किमुत सर्वसाधनवाञ्छालालप्रधानागोपरम्येति
विभावनीयम् । ननु विदुषः सर्वप्रसिद्धं संश्लेषतुलं कथमान्तराभिलाष इति चेत् । न ।
आन्तरा मदाकृतप्रादस्यामपराधमामसौचोचितत्वादुत्तरांशयोगस्तुलस्य च विजातीयवस्तु-
साध्यत्वादितिह ॥ २ ॥

अथ 'सर्वेन्द्रियगुणाशयोः कथासीत्यभिप्रेत्येति । तत्रासीत्यर्थं तदवस्थादुर्लभत्वं
कथयो निदुर्लभत्वमलक्षितोक्तिकथनमोरसवतिषकरमाहुः ।

उद्धवागमने जाल वरसवः सुमहान् यथा ।

दृन्दायने गोकुले वा तथा मे मनसि कथित् ॥ ३ ॥

यदा मन्वदुक्तं पात्रिकमाश्रयोद्धवः समागतस्तदा जालो यथा दृन्दायने राजा-
मीश्यायां भगवन्मार्थनाम्नारमाभिर्भेदे सति जालो यो वा गोकुले जात इत्यर्थः । सर्वेषामपि
प्रत्येकं विजातीयोक्त्यन्तरकालेव स्पष्टमीयत्वात् सर्वविषयकं स इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

अवान्तरमेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः ।

महतां कृपया पापदूतयान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

‘अस्मिन्मार्गे आसिन्व एव गुरु’ इति श्रीप्रभुचरणोक्तिरनुसन्धेया । तथा च महत्पदवाच्यासा एवेति तावत्सुकृपाभक्तकर्मवैलास्यः । सुखायैति । सुखजनक-
सादित्यर्थः । सुखसमूहकरो यस्यान् यद्यतीताविशिष्ट कीर्त्यते तद्यतीतासहितो ह्य-
निर्गुणः सत्त्वन्तरानन्दप्रभुभावसतीत्याशयः ॥ ४ ॥

इदानीं विद्यातीपदीर्घविषयकं समुदाहृतम् ।

महतां कृपया पश्यन् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु लिङ्गभोजनरुक्षयम् ॥ ५ ॥

साहित्यानां कृपया इति स्फुरितस्य भावतो मस्तीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि स्मृतं
स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेश्यां कुलवैलम्बः । एषां कर्मादासत्त्वैर्गोचर-
गुणभोगेनाह । तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च द्वारतन्मेव सुखजनकत्वे दृष्ट-
माहुः किमर्थेति । रुक्षपदेन रुक्षभोजनम् । तथा च लिङ्गभोजनरुक्षभोजनवैलम्बोप-
सृष्टजनकत्वं यथा तथा कर्तव्यमनोरथीति भावः । एषा महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं वै
इति सुखजनकं यत्किमर्थं मनोरथ इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ननु कर्मादासत्त्वमपि विहितकीर्तनेति अक्षुब्धकादीनां सत्त्वात् कथमपि वाच्य इत्या-
शङ्कमाशङ्क्य समाधानमाहुः ।

गुणगाने सुखायाशिर्गोविन्दस्य मजायते ।

यथा तथा द्रुकादीनां नैषारत्मनि कुलोन्मथः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोपेद्रुतलेनजन्मगोदुःखतामिनि इति भावः । गुणगाने किमपि
यथा आनन्दो भवति तथा निरपमनां मन्त्रावतलनां द्रुकादीनामपि आरमन्ति
न भवति, विस्तृतात्मनेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निरुपलब्धीनामन्त्रावतलनकं निरुपलब्धसंवात्सल्यकं मनोरथसुखेदानीं
तावत्मनोरथविषयीकृतं दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तर गुणगाने प्रयच्छति वदन्तु ।

हिदयमात्रां जवान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वे सदानन्दं हृदियं निर्गते यतिः ॥ ७ ॥

अवेदिति देहहीदीन्यप्येवोपपत्त्यर्थेति । यदा कृपासुखेत् तदा निरुदुःखा-
नुभविगृहदरिद्रिं सदानन्दं मन्त्रावतलनं सर्वं कर्तव्यं मायोदालनेन अपोरोक्षक-
वदित्वं निमित्तात् हृदय एव यद्विरतिर्मेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु 'गृह्यन्ति वापन्ति गृह्यन्तवीक्ष्यन्तः स्मरन्ति वन्दन्ति'त्यादिमर्षादानार्गीय-
यवगादिभिरप्याशब्दो भगवदभिर्वाच्य भवेत्तन्मेव तत्त्वोपमावहो दुःखानुभव इत्याशयवाहुः ।

सदानन्दमपराधाणि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः सत्पुणान् धृत्या पूर्णः ह्यनयते जनान् ॥ ८ ॥

तेषां विना कृपानन्दो नेत्याशयः । तर्हि गुणवानस किं फलमत आहुः हृद्गत
इति । सत्पुण्यजनपेन कृपया पूर्णः सन् साकृपावन्देनाहुतान् करोतीत्यर्थः । तथा पादा-
त्मने रासबीजाणां विरहादुपवापनारं 'नयति तेभिरुक्तं यन्मते'त्यादिना कृते गुणवाने
कृपया पूर्णः सन् साकृपावन्दं प्राप्यन्तु, तथाप्याप्यान्तरमणे संकल्पमतिमलो भगवान्
भजनानन्दस कथन तेषां ददातीत्याशयः । 'यद्यपि गतिस्मितमेधुने'त्यत्र गुणवानं नोपा-
मान्तरमणे, तथापि बाधरमणान्तरमण्यन्तर्गमे विनापि गुणवानं आन्तरमाश्रय, परन्तु
साधनदक्षापामेवच्छरीरावच्छिन्नात्मनीयमेव शरयिति ध्येयम् । ननु विकलतासाध्य-
नाशकान्तरमणसम्पादनं भगवतो नोक्तिमिति चेत्, न । निषयोगसीधोऽपकमिदमा-
न्तरमित्यधिकरासाध्यदिव्यस्वयोर्यनकमेव । तथा चोक्तः श्रीनन्दनरसद्वयेन श्रीगोपी-
जनपक्षमेव 'गयाधनो सम्पन्नो प्रगटे तस्मिन्वात्मविभूतो न वेदे'ति । तथा च
किञ्चित्कालिकोऽयमाभिर्वाचो विर्पणसत्त्वकातिकथनस्य इव मतस्य सत्त्वप्रतिभाते
भगवत्सत्त्वमेव संयोगसत्त्वाहुतायः । तदन्तर्द्वयान्तरविकल्पमप्यसत्त्वं विकलत्वं च
भवतीति ध्येयम् ॥ ८ ॥

एवं कृपेद्वैकयनकसुगमान्मानस्यकमिदमाहुः ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरिर्मेधाः सन्निदानन्दता सन्तः ॥ ९ ॥

निरुद्धैः पुष्टिर्मागीयेः सदानन्दपरिः श्रीकृष्णमात्रमिद्वान्तःकरोति एवंहती
स्वगौडनमित्यिदानीं सन्निदानन्दता सुजातीत्यर्थः । तथा च गुणवानं तु कृपेद्वैक-
जनार्पणेवेवं तु सन्त एव भवतीति भावः ॥ ९ ॥

नन्वीरकालीकिकपणने किं प्रयागमित्याशय आनुभवमेव प्रमाणवाहुः ।

अहं निरुद्धो रोषेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

निरुद्धः पुष्टिर्मागीयोऽहं रोषेन कथमावन्द्यतिरिक्तपावत्यलैवो निवृत्त्या निरोध-
पदवीं निरोधविकरयतां प्राप्तः सन् निरुद्धानां पुष्टिर्मागीयाणां रोधाय रोधविरुद्धै
वदविकरयतामहं प्राप्यतां निरोधं कथयामीत्यर्थः । ते इति वाटे कदापि वक्ष्यमाणशङ्का-
कन्तनविशुद्धीकृत्य ते पुन्यं कथयामीत्यन्वयः ।

ननु निरोधस्य भगवतामे सम्पादयित्वनापत्वात्त्रिरुद्धत्वमिति वचः कथं सङ्गच्छत इति चेत्, न । भगवतो निषयाध्वनिचारिण्यामेवनिषयस्वरूपानन्ददित्वायां सम्प्रदानत्वेन निषयीकृते पुष्टिबीजे सिद्धवत्कलेष निरुद्धपदप्रयोगेन कापिदम्बगुणपत्तिरिति ध्येयम् । ननु कोऽयं रोधः, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते । लोकवेदसमाधिभावाप्रसिद्धपञ्चगुणादिपुररोचनमसाधुन्यान्तयावच्छेदोऽप्येव निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकारोपाधिकनिषत्वा-निवन्तनी भगवन्माद्योपाधिकमिवलानिषयन्मा भगवत्सत्ता निरोधः । रोपे भगवान्नान्दाति-रिक्तपादलक्षितिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोऽपि निरोधता, यतो भगवान् स्वायं न शिवः, किन्तु स्वात्मनि भगवदर्थमेव शिवो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्यथमेव नितरां रोधो न स्वात्मनोऽपि निवृत्तिः । तथा च रोधनिरोधकोऽयं वेदः । इत्यत्र च 'न का रे पुत्रस्य कामाय पुत्र शिवो भवत्यतमनस्तु वत्साय पुत्र शिवो भवती'तिश्रुतेः सर्वज्ञासोपाधिकत्वेन शिवस्य, तद्विषयत्वेन च प्रपूतिः, अथ तु स्वात्मनो भगवत्तस्य निषत्वे भगवन्निरोधाधि-रिति भगवन्माद्योपाधिनिषयमेव भगवद्विविची प्रपूतिर्ममज्ञानन्ददित्वाविषयीकृते जीवे परे रोध सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यत इति भावः । ननु निरोधो भगवतः प्रीत्या, लक्ष्यमिव लक्षणमिति चेत्, न । रोधनिरोधयोः सम्पादनगति भगवतो निश्चिद्विद्वत्तयामेव निविर्गते, न रसतिरिम्पत इति शिद् । एहि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्धयर्थं श्रीमदाचार्यकृतं निरोधपर्यन्तं कुरोचतुल्यत इति चेत्, न । 'नयामि हृदये रोपे जीवाद्भौगति-वशापिन'मित्युक्ते'निरोधवद्वी मन' इत्युक्तेभ्यस्तदन्तःकरणे श्रीमद्भौपी-जनपदयोः भगवत् रममाणश्चिद्यति । तथा चान्त-करणयोः भगवन्निरोधाचार्यान्मानन-सरोगेन पुष्टिबीजताल्लक्षणाकरोऽसिद्धयर्थं निरोध पर्यवस्यतीति वदतीति ध्येयम् । उच्छेदोऽप्युक्तोऽर्थः श्रीमदाचार्यपरमैदंजनपदस्य लक्षणाप्याय'सौतशिसाम्य भुक्तुन्दन साधुनाम् । ईवावशिः सम्भगजनन विशुद्धात्'मित्यस्य श्रीकल विषये 'भगवता सहित-तदन्त-विषयो भगवन्नेकोऽन्यः प्रपञ्चो'लनेन समसमितिपदस्याप्यन्तानेन 'पापस्य वदा तदा म्याम्य सादुर्भूत जनस्य हे'ति सरोऽनये श्रीकलसुपरमोकेर्ममप्यनुपारविन्दोऽन श्रीमदाचार्या इति तदीर्घविरलमाह्वयिपमिति शिद् । इत्यत्र च भगवानेव निरोधपर्यन्तं निरोधस्य कर्तृत्वस्येन ज्ञानसुतायोक्तलक्षणेन निषर्जयतीति भगवत्सम्पाद्यत रोधत्वेति नर्तं तुल्यम् । वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यत्र फलं तत्पारं वरपेक्षतावत्तात्तावदेकताध्व-नंति त्रिवेगिरस्यकरीरिणि साम्यवर्द्धिर्वापनीयम् । निम्नज्ञानार्ता रिवति तुल्यसाधनार्थं न पर्यवस्यतीति भावः ॥ १० ॥

ननु कुतः सरोऽर्थे न निरुप्यत इत्याह्वयानाहुः ।

ररिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मया भवतावरे ।

ये निम्नज्ञाना पयाय मोदमाप्यान्वर्तन्निज्ञान् ॥ ११ ॥

सर्वेदुःखहरंति येऽन्धनिषेधेभ्यो निमोघ्यः सत्स्वरूपस्त्रिधातो न कृताद्योपा बन्ध-
भाभ्यानामर्थे कथं निरूपणीयमिति भावः । यद्यपि तेषां मार्गान्द्वारेण यत्किञ्चिदपि
फलं ज्ञापयाम्, तथाप्येतदतिरिक्तमर्थेषु सामान्यबुद्धिरेव श्रीमद्भार्याचरणानामत एव
अप्यस्मादगरे भद्रा इत्युच्यते इत्यारम्भः । श्रीमद्भार्याचरणेति 'सर्वोपवर्गनरकेभ्यश्चि' इत्युच्चार्यदर्शिनः
इति ॥ ११ ॥

भावनानामनीमृता भावनानामनीमृता निरोधदवाभ्यां भावनानाम् ।

संसारविषयादुद्धानामिष्टिष्याणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्वगत्युनि भद्रा ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्ववत्तत्त्वाद् दुष्टानां चक्षुरक्ष्मादिभिरिष्टिष्याणां नि-
विष्टानामनिराजनकानां कर्मेन्द्रियाणां तत्त्वोपनिरोधनपूर्वकं तत्त्वफलशिद्धौ सदानन्दस्य
सर्वाङ्गं रुचादीन् पदार्थान् तत्त्वनिष्ठयस्योभ्यान् योजयेदित्यर्थः । नन्वनवरत्नमन्त्राद्वा
मन्त्रैर्ब्रह्मज्ञानस्य भगवत्तत्त्वं तत्त्वोपपुष्पां सर्वे पदार्थाः कथं योजयितुं शक्या इत्या-
शङ्कायामाहुः भूय इति । ईशस्य सर्वसमर्थस्य भूयः पशुतात् । तथा च भृगुपद-
नेत्रेषु अनेषु मातृदाहमेनाविधेयति भगवति सर्वेषुपपद्यत इति भावः । योजनप्रकारस्तत्रै-
वक्ष्यते ॥ १२ ॥

ननु मन्त्रोभासयोजनेन निःप्रसूतं त्रय्यरूपं रूपरसादिविषयपैराभ्य-
जनकमधिदितुं त्वं विहाय कथमेव निषयको प्रवृत्तिर्वादिनेति शङ्कानिरास्य ज्ञानमार्गे
यत्परमफलं तदनं गुणार्थकस्य विविदाभ्यस्तनीकतां यन्मन्त्रोऽनाशासमानधीतसदान-
तिस्पर्श इव मध्येमार्गनिर्दमनान्तरं फलमित्याहुः ।

गुणोपनामिष्टविज्ञानां सर्वदा सुरदैरिणः ।

संसारविरहहेतुः न स्वातां हरिचरस्तुभ्यम् ॥ १३ ॥

संसारस्य विरहो लीनिक्रियविषयोपकथ्य इव हेतुः रोगादिकथ्यो
ह्यपि न भवेत्तदित्यर्थः । न हि यत्तत् कृष्णानीय निषत्तां पाप्मनां पालकानामप्यनी-
यात्तत्कृष्णानीयविरहो यत् हेतुः वा । एव प्रकृतेष्वनवरत्नानिस्त्वान् नवरूपपादीन् बुद्धानस्य
स्वरूपानन्दानुभवात्तत्त्वोपपुष्पां न संसारविरह इति भावः । हरिचरदिति । स्वरूपानन्दो यो
भगवत्तात्त्विको स एवाभेदेति भावः ॥ १३ ॥

ननु गुणवाननिष्ठस्य कृत एव करोतीत्यशङ्कयामाहुः ।

तदा भवेत्तदपान्तरमन्यथा कूरता मता ।

यावत्तद्व्यापि भास्वस्य तदभ्यासोपि शिष्यति ॥ १४ ॥

यदि गुणवाननिष्ठस्य न कुर्यात्तत् कृतं मता । इत्यप्युक्तं न स्वात् । तथा च

निसर्गदत्ताहु भगवत्स्वरूपं रूपमन्यथा भवेदित्यन्यथा कुरतेत्यस्यार्थः । इत्थं च सर्वतो
 यत्कृती ह्यन्यथाशुभनितिरिति सुविश्लेष्यतेति भावः । एवं ज्ञानमार्गोपास्तेऽन्यत्वे मनो-
 बोधनेन यत्कलं ग्राप्ये तदत्र गुणमात्रे मनोबोधनेनेति ध्येयम् । भिन्नस्मृद्वित्यत्राहुः
 बाधेति । देशकालादिसापेक्षतापन्नत्वाप्यप्यक्ते हि कालादिकृतमतिपन्नत्वाद्वा सादरं तु
 भगवदनुबन्धातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तत्कदेति भावः । ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति ।
 तदप्यसौऽध्वरात्मता । यद्यपि तेषामिहा तथापि गुणमात्रेण संसारानेकनाशे सति
 स्वस्वरूपसङ्गतिरनाशस्तमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमध्वरं भवेति
 ध्येयम् । तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावस्था निवृत्ती नमबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि
 वस्तुलभावाद्भवति इति ॥ १४ ॥

रूपेत्यत्राहुः ।

भगवत्तमेत्यामर्ष्याद्विरामो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात् दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

ज्ञानमार्गे 'भगवत्सर्वास्ति'तिवाक्येन यत्पूर्वकमवित्यादिभावनेन यत्कलिनैर्द-
 क्तोऽक्षिरश्च भवति, प्रकृते तु कर्मनस्वत्वादिसिक्ताभगवत्तमानन्दमात्रकरादनुलो-
 दरत्वादिभगवत्तमैर्भूतां सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रकृतेः कर्म्येषु विषयेषु
 जायमानो विरामः स्थिर एव भवतीत्यर्थः । अविहितेत्यत्राहुः गुणैरिति । सर्वदुःखार्ह-
 येषु च तस्य सार्वादीपतत्त्वम्पमानादित्यर्थः । तथा च सर्वास्ति तदनुभवस्य भगवतो
 विभातीत्यनु-सम्पादनेन हरिष्यमाणत्वादयं स्वर्गभावनेषोक्तमिति ध्येयम् ॥ १५ ॥

उपसंहरति ।

यस्य ज्ञात्वा ज्ञानमार्गोऽनुत्कर्षो हरिचर्यते ।

अमरसरैरनुज्वलैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

यत्कर्षो गुणेति वादे ज्ञानमार्गोऽनुत्कर्षमे उक्तार्थेऽस्ति एवं ज्ञातेत्यन्यथा ।
 अमरसरैरिति । एतन्मार्गीयभगवत्कृतेषु द्वैपरहितैषोपायमवतरानेतद्व्याप्येतेन मायात्मक-
 भागदानकत्वात् च द्वेयो यन्मत्तस्यैवतापी भवतीत्याशयः । अनुत्कर्षैरिति । सर्वान-
 विभगवदीपतत्त्वत्वेनेदस्तीममनुपतिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रसङ्गिकमुक्त्या प्रस्तुतिमिन्द्रियबोधनमकरणाद्वा ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शने स्पर्शने चैव तत्रा कृतिमती सदा ॥ १७ ॥

अवर्णं धीर्गमं वपुः शुभे कृष्णमिव रतिः ।

पापीनेलांशव्यागेन शेषमात्रं तत्र नयेत् ॥ १८ ॥

सुखं तु विजातीयमनुसङ्गमिति उदङ्गमपात्तु सङ्गत्वादपि दर्शनादि सर्वे
 बाधयेदित्यर्थः । अत्रा'धुष्णतां फल'मित्येतद्व्याख्यायां 'मगपता सह संतप्तो दर्शनं
 मिहितस्य च । आधेयः सेपनं चति स्वर्गमाप्ति तयाविषः ॥ अपराधताने च योगो
 तेमोद्गमसाथा । तत्कृतितानां अनवभाषणं चति सर्वतः ॥ सदन्तिकमतिनिर्लमेव
 तद्भाषणं सदे'लेतसर्वमनुसङ्गमेवम् । स्वर्गानं स्पष्टमिति पाठे नयेन लोके प्रपञ्चाधि-
 दैविकसुखं 'काशपर्वं सुखमुत्पुष्टं कृष्णो मुंके न चापर' इत्यनुसङ्गेयम् । पुत्र इति ।
 सङ्गत्वाद्यालत्वात् सङ्गत्वात् पुत्रे कमे इत्यर्थः । यत् एव 'अवदानसी'तिस्त्रीरूपिणो
 'कामलितानहं मन उदादितया'मित्यनेन कामविज्ञानहृत्पुके मनस इति ज्ञेयम् ।
 नन्वय काम आत्मावशक्तिः आद्योऽन्तो वेलाद्यव्यामाहु कृष्ण इति । अतीतिक
 इत्यर्थः । उक्तं 'वात्मानोऽन्तरीय'दिलेतद्यालत्वायां 'किं सर्वोपि हैवान परं कामो
 न विद्यत' इति धर्मशास्त्रपरमैरिति ज्ञेयम् । रतिरिति । अतीतिकं तदुद्भाष्य स्वर्ग-
 विशेषो भाषनीय इत्यर्थः । नन्विन्द्रियेषु कामोरपि सत्त्वात् तस्य का वतिरित्याद्यव्या-
 माहुः पायोदिति । अतीक्यतामवैषय्योऽनवकस्योऽनवधनुःकनिर्घकस्य सुखानव-
 कस्यास्य औपचार्यं गौतमं ज्ञात्वेदित्यर्थः । तथा चाकिमित्यव्याख्यायैवेति भाषः ।
 चाधुनिति पाठे अत्रावश्यं न्यतीतिवत् स्पष्ट एवाव्ययः ॥ १७ ॥ १८ ॥

तर्हि श्रीगुणपदविशेषयोः का वतिरित्याद्यव्यामाहुः ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

विनिग्रहस्तिस्रोऽङ्गमपनेति यावत् । तथा च यथास्मादीनि मलानि च
 तयात्रुपयोगात् गुणपदविशेष इति तस्य निगद इति भावः । चेति विकल्पादेकस्यास्तु-
 योग इति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

एवं निरोधपुण्या साधुदिकानि ।

नातः परतरो मज्जो नातः परतरः स्वयः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मज्जो मननीयो नितरां योगीश्वर । स्वयो मयवत्सादरेतुः । विद्या काम्य-
 मानमावर्धसाधनम् । तीर्थं त्रिपन्थकीश्वरदुस्तिनिचयनित्यवर्धकं तज्जादिसम्पादक-
 भावयेयोऽवैकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीविष्णुस्यारप्रशुपरम्परात्मजश्रीचनक्षयामतनयश्रीमोपेक्षधर्मोत्तमि-
 धिरचित्ता विरोधलक्षणविशुद्धिः समाप्ता ॥

श्रीरूप्याय नमः ।

श्रीगौपीजनवह्नुभाय नमः ।

श्रीनदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविरुतिसमेतम् ।

देवानु शार्पित मज्जमनुकृतकठद्वयम् ।

व्यासेन च समासेन फलत्रयमुक्ता खणम् ॥ १ ॥

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम । निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत भवेन तदवस्थितिं कथनं प्लुतश्चित्तम् । तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधभावकमित्यर्थः । तत्र लक्ष्यं द्विविधम्, स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति । तत्र स्वरूपलक्षणं यथा 'सल ज्ञानमनन्तं मल्लै'ति । कार्यलक्षणं यथा 'अ-नाशस्तं यतः' इति । तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे षडुपा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्धर्माभ्यन्तरे यथोक्तमित्यर्थः ।

यच्च दुःखं यशोदाया मन्दादीनां च मोक्षुले ।

मोषिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्वान्मम कथित् ॥ १ ॥

मन्दादीनां येषामादिपदेन उपक-दाद्यः । यकारेण अन्तरङ्गमोषा । तथा च यशोदाया मन्दस्य उपकन्दादीनामन्तरङ्गमोषायां च यद् दुःखं येन पूर्वोक्तप्रयाग्या दिवा यन्मज्जे भगवद्विश्वकर्मन्तरङ्गमोषायां च तानीं शुभमानं सद् दुःखम् । यकारात् पूर्वोक्तानां यदुर्गां सुखं लीलसुभक्तस्य निरोधलक्षणं भगवदावधिकार्यमित्यर्थः । मोषकृतसुखं कामसासदि सर्वलभ्यमन्तरङ्गमोषायावधिकारिकसु सुखम् । अन्धेषु लक्ष्येष्वन्यस्यालभिकार्यात् साधारणेनैव तानि निरूपयन्ति मोषिकानां द्विविति । 'मिन्दुर्दु' ज्ञेयं कास्यं नित्यलोकं दुःखं च निरोधकमित्यर्थः । इदं तु भविन्मम सात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः । अन्यस्यावृत्त्ये तु खण्डः । यकारपथे इदमिति दुःखं निरोधकमित्यर्थमिति सङ्गृह्य ॥ १ ॥

सुप्रकृतं निरोधलक्षणमाह मोक्षुले इति ।

मोक्षुले मोषिकानां च सर्वेषां तत्त्वव्यवस्थितानाम् ।

यत्तदुर्गं मनभृन् सन्धे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

मोषिकानां यनारेण अन्तरङ्गमोषायां यत्तु यत्तु पुत्रेदत्तुमनकृतम् । सर्वत्र-
यमिपदेन अन्तरङ्गस्य कल्पने । इतिमन्तः यशोदादाय । तथा च यत्तुप्रमत्तं

रक्षसीलार्थवत्त्वं समग्रं तदपि निरोधलक्षणम् । अन्यस्याभोग्यमज्ञो भगवान् मे किं विधास्यतीत्याशयेत्यर्थः । अत एव हेतुज्ञाने सिद्धलक्षणयोगे मन्वेवेत्येवकार उक्तः ॥ २ ॥

आत्यन्तिकविरहाद्युपवर्त्तुं सुखं लघुनमाहुः उद्धवागमनेति ।

उद्धवागमने जाता उत्सवाः सुमहान् यथा ।

पुन्यायने गोकुले वा तथा मे मनसि कथित् ॥ ३ ॥

उत्सव आत्यन्तिकविरहाद्युपवर्त्तुः । इत्यत्र सुखफलत्वविद्यान्तात् सुमहा-
निस्तुतम् । अपसुत्सवो गौरीकानां वन्दादीनां च त्रमरीतप्रसङ्गे अस्वायद्भवेनोक्त इति
पुन्यायने गोकुले वेत्युक्तम् । अत्र अन्यस्यानधिकार इति मे मनसि इत्यादिति उक्तम् ।
दुर्लभत्वस्वातन्त्र्याय कथितिति । एतेषु साधेसाधननेन पूर्वं 'यव' ह्यर्थेनोक्ते दुःखज्ञाने
अन्येनापि भवेत्त एवमिति आशय इति सूचितम् । तथा च यज्ञोदाया वन्दस्योप-
वन्दादीनामन्तरङ्गयोगानां च दुःखमुपशान्तिं निरोधलक्षणाणि भवेत्त सपरत्वेनाद्यात्मानि ।
गौरीकानां दुःखमुपशान्तिं, अन्तरङ्गयोगीनां वन्तर्गद्वयतामन्तरङ्गदासीनां मुञ्चन्, सर्वेषां
मात्यन्तिकविरहाद्युपवर्त्तुः । इमानि निरोधलक्षणाणि सारूप्यो द्वैपाणि, न तु सपरत्वे-
नाद्यात्मानि, यजानाधिकारदित्युक्तम् । भगवान् कृत्वा वन्दारवेदेरक्षु, सर्वं नाशसा-
नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

सपरत्वेन आश्रयस्य क्लृप्तकस्यानि फलस्य दुर्लभत्वेन विरहालसाध्यत्वात्
तत्सिद्धिर्धनं हेतुभावाभावात्तर्जं निरोधफलमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया पापद्वयघातं दधमिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

महतामपवसायुक्तानां क्षामिनीनां कृपया भगवान् पापद्वयमिष्यति
पूर्वलोकायोगे कृते सन्धारमिष्यति तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो भगवान्
सुखाय भवति । मुगधानं सुखं निरोधसाधनान्तरङ्गलक्षणं ॥ ४ ॥

सुखफलस्य क्षामिनीकृपासाधनत्वमुक्त्वा अयान्तरङ्गलक्षणं तत्कृपासाधनमेव
वेदमिष्यतुः महतामिति ।

महतां कृपया यदस्तीर्त्तनं सुखदं यथा ।

न तथा लौकिकानां तु सिन्धुमीजनरूपवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रविष्टानां नारदभृतादीनां कृपया यत् कीर्त्तनम्, तथा
क्षामिनीकृपया सजायकीर्त्तनप्रकारवत्सुखं वेत्यर्थः । तत्र हेतुं यज्ञानेन साधयन्ति सिन्धु-
वि । सिन्धुरोचने रूपमोचने च तद्वदित्यर्थः । क्षामिनीकृपा वन्तर्गद्वयतामन्तरङ्गदासीनां

कीर्तनस्य स्त्रिण्यमोजनतुल्यत्वम् । अन्यत्र तु मानसा मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकृत्या-
भावात् कीर्तनस्य सत्त्वमोजनतुल्यत्वम् । महतामित्यस्य कीर्तयमानेनाप्यन्वयः । तत्कृतं
कीर्तनं न त्वन्वेमोपनिषद्मित्यर्थः । मुख्यफलप्राप्तिर्भवति गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥५॥

तत्र कर्मपाणि तावत्पर्यन्तं कमनुक्तिवज्जलेन स्वर्गादिमुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं
गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोचिन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुभादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोचिन्दस्य गुणगाने यत्कारिका सुखावाप्तिरात्मकारिका तुषावाप्तिः
शुभादीनां सिद्धिज्ञानां तथापि आत्मनि आत्मनिचारद्वयमाह नि न यापते,
तर्हि अन्यतः कर्मणः कुतः स्वादित्यर्थः । अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि भर्तुण्य' इत्यादि
वाक्यानि ॥ ६ ॥

तत्कृतकीर्तये विशेषमाहुः स्तिष्ठवमानावितिद्वयेन ।

स्तिष्ठवमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्मले बहिः ॥ ७ ॥

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वरूपान् शुद्ध्या पूर्णः प्रापयते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्यः आनन्दो यस्मिन् तावत् सद्यः स्तिष्ठवमानान् जनान्
दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा बहिर्निर्गते भवति, स कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः ।
कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु क्लेशेनैव भवति, आत्मापेक्षार्थः । सदानन्दस्य बहिर्नि-
र्गमनं विदुष्वपि हृद्गत इति । तद्यद्विद्यो भगवान् स्वरूपान् अन्तोऽनन्दं वर्णितान्
शुद्ध्या पूर्णो भवति । इदं ह्यविद्याप्रापकारिकायां स्फुटम् । सर्वं पूर्णः सन् जनान्
प्रापयते, स्वरूपानन्दं निमग्नं करोति, तेषामन्वर्षादिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं
सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

सतीर्तुं दुर्गसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य विकटैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरिर्मेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञादिवपासं परित्यज्य विकटैर्मेकैः सह सदानन्दपरिः कर्तुमि-
च्छा मेधाः । एतस्य फलस्य अवाप्तत्वं साधयन्ति सच्चिदानन्दमेति । ततो गुणगानात्
सच्चिदानन्दता भवति, अलीलिच्छरीरगत्या वरमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः ।
एवम् इति पठे गुणगानस्यमात्रेण कर्तव्यत्वम् ॥ ९ ॥

ननु वैः सह गुणं वेद्यासौ निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञानकं कथया-
मीत्याहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन विरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं कर्णयामि ते ॥ १० ॥

रोधेन निरोधपूर्णव्याप्तयेन भावविरोधेन अहं निरुद्धः निरोधस्य पदवीं गतां
पूर्वोक्तगुणकल्पपर्यन्तं गताः प्रकृतः । अतो ज्ञेयिकानां त्वितादिभोक्तृकते इव भवि-
ज्ञावकल्पने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यार्थं कथयामीत्याशङ्क्यैव कथितोक्तमभिमुखी-
कृत्याहुः ते इति । तत्र निरुद्धानां सम्प्रति यो रोधसादर्थं स्वभि तादृशभावनिर्द्धार-
विशेषः । विरोधं कर्णयामि भविज्ञानकल्पनेन कथयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

निनिष्ठं कथनाय व्यावर्त्तान्त्वमिति भविज्ञानकथाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मत्ता भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र भोदभाषान्त्वहर्विदाम् ॥ ११ ॥

एवंदुःखदर्शानि दे विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मत्ता इति व्यावर्त्तान्त्वमिति-
ज्ञानकथनम् । निरुद्धानामभिज्ञानकथाहुः ते इति । अत्र गुणकथादी इत्यर्थः । यथा सर्वज्ञ-
त्वमतीक्ष्णं तेनैव ज्ञाने निदर्शनम्, तथा गुणगानादी मोहो विरोधे निदर्शनम् । एवं
निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तेऽसह गुणगाने 'पद' इत्यर्थेभोक्तृकताभिधिपूर्वकं कर्णयाम् ।
फलभाष्यनन्तरं तु तत्प्रत्यक्षकालमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनानुष्ठेति भावः ॥ ११ ॥

ननु परमह्माहर्षवदाम् कथं कथित्रीत्याह मुच्यति येन ते भवसागरे मत्ता
मन्यन्तीत्याशङ्क्य भविज्ञानकथनाभिहितमेतदिति आहुः सुषेष्टित्तिसारैव ।

सुषेष्टव्यापिष्टविज्ञानां सर्वदा मुरचैरिणः ।

संसारविरहलोभौ न स्वातां हरिचत्सुखम् ॥ १२ ॥

तदा नवैदमस्तुल्यमन्वया चरता मत्ता ।

समाचारं तु निबन्धे 'लक्षणशब्देन वैषम्य'मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम् । येन संसारलोभो
भगवद्विरहलोभश्च निरुद्धौ, हेतुनि सुखं न भवति, तादृशगुणपेक्षो यदा भवति तदा
मग्नलो द्वाहलं भवेत् । व्यावर्त्तकत्वपर्यन्तं प्राप्ता पक्षिमासीया एव भवन्तीति
वक्षिमासीयेतु द्वाहलं भवतीत्यर्थः । अन्यथा भक्तिमार्गवित्ताभावे भगवत्तुल्यतां तेन
भोचनम्, येन ते भवसागरे मत्ता मन्यन्तीत्यर्थः । कर्मभावे पुनरावृत्तिजननात् संसार-
नयनम् । ज्ञानमार्गेण 'ज्ञानिनामपि चेतांशी'ति वक्ष्यमात् तदा । इदं निबन्धे शिरीष-
प्रवर्तनान्ते मन्वसावितम् । इदं सर्वं ज्ञानाभिहितमेति मतेऽहम् ॥ १२ ॥

वतु ज्ञानमार्गे मायेव भवति कथिद्विभेदसाधकम् ।

योधशब्दाणि भास्वन्न तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

अन बाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । वन हेतु तदध्यासोपीति । माया हि
सुखारे अध्याससम्पादनेन सञ्जयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनेन अध्यासो भवतीत्यर्थः ।
एह सर्वोत्तमा व्यावृत्तिरिति व्यावृत्तसमुच्चयान् अविशन्दः ॥ १३ ॥

गुणवेद्येन उभयप्रेक्षाभावे हेतुमत्तु ।

भगवद्भूमिसामर्थ्यादिरागो विषये स्थिरः ।

गुणैरिहिसुखस्पर्शात्तु न भवति कर्तृत्वित् ॥ १४ ॥

गीवमाणा ये भगवद्भूमिस्तत्त्वान्ध्यात् विषयैराग्य भवति, तेन ससारहेत्याभावः ।
गुणै हुरिगुलस्पर्शादिरदोहेत्याभाव इत्यर्थः ॥ १४ ॥

वाणी-नोभ्य उ-कर्म स्फुट कर्तृगुणसङ्गति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।

अमस्तुदेरस्तुल्यैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

वतु 'परमि' पार्थनीतिनामवादिप्रियात्मान्मपरस्वस्त सादृशित्वात् । सर्वदा
विषयभेदे गुणानां वयं भविष्यतीत्याशयः तदुपायमत्तु ।

संसारावेकादृष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूय ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्स्वरासिद्धये कृष्णसेवास्य वस्तुनि एते सह योजयेत् ।
प्रपद्ये मन्त्रभाषना कृष्णैरिन्द्रियिन्द्रियान्तमुत्साहस्तुल्यैर्षोडशन्धात्मकः । चक्षते चतुर्षी ।
अमा सर्वोत्तमान्मदर्थमित्यर्थः । भगवदीयैरेव वस्तुनि सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मनो
भावे भगवति विद्ये भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तुत्वमिन्द्रिये सह योजनेन शिद भूताय विवृण्वन्ति हरिभूर्तिरिति ।

हरिभूर्तिः सदा भवेत् संप्रकाशमपि तत्र हि ।

एतेनैव स्वर्जनं कष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अथवा कीर्तये स्वर्गं गुणे कृष्णप्रिये रतिः ।

पापमोक्षांशसमागेन योषमार्गे तनी भवेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्स्वार्थं सदा स्वर्गं च दृश्यते ।

तदा विनिघटस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

जातः परतरो मन्त्रो जातः परतरा स्तुतः ।

जातः परतरा विद्या तीर्थे जातः परात्परम् ॥ २० ॥

आद्यपर्ययेन मनसो भव उक्तः । इन्द्रियावासाद् सद्रूपपादयति । दर्शनसर्जन-
कृतिविधिव्यवर्तिनानि चक्षुरत्यन्तप्राविष्टाश्चोक्तवानन्वयमिति सद्रूपपादयति तत्र भगव-
त्वेर सम्पादनीयानि । भगवद्विषयकाम्येव दर्शनादीनि सद्रूपानीयानि, न तु विषयविषय-
कापीत्यर्थः । मुख्यतस्तु स्वयद्विषयजनानि तानि कर्तव्यानि । तदसम्भवे सद्रूपमात्रमपि
कर्तव्यमिति सद्रूपस्य ततो नीचत्वमुक्तव्यम् अतिशब्दः । भगवद्वर्त्मसाधर्म्यसिद्धिराम्य-
स्वरूपं तेन साध्यं कर्तुं न शक्यतः पापेर्विनिर्गोचराद् दुःखेति । कृष्णमियं पुत्रे रतिः
ततो नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः । मलत्वावस्य पापुकार्यत्वात् पादुमद्वयम् । अत एवा'सिद्धयोः
दुर- पुर्वा नाभिद्रावपागत' इति देशव्याप्त्या अत्रान्वयस्य युक्तम् । भगवदीयेषु रागो भगवन् विराग इति
उक्तेरपाने पादुमेत्येकमेव । कृष्णमिय इति । भगवदीयेषु रागो भगवदीये । तथा च भगवदी-
उक्त्यैव वैराग्यस्वरूपमुक्तम् । कृष्ण. विषयो नश्य तावदे भगवदीये । तथा च भगवदी-
यस्यैव राग इत्यर्थः । पुनरदमुक्तव्यम् । पार्थदिव्यव्येयम् । 'नाहुनस्य लोकोऽस्ती'त्यादि-
पार्थः पुत्रे रागस्य प्रभावसिद्धयेन कर्तव्यत्वस्यैव युक्तम् । अन्यत्र आत्मन एव
विरूपयित्वा विषयमात्रं युक्तम् च 'आत्मा न पुनरत्रमासी'त्यादिवाक्यैरात्मत्वस्य कथनात्
तत्र राग उक्तः । अतः तु भगवत् एव विषययित्वा विषयमात्रमात्रमात्रदीये एव रागीत्याद्य-
विराग इति भावः । नत द्विविधम्, अतितन्मनि आपमान देशकाम्येकम्, अल्लह वाचना-
नमवरम्, उभयपरिधमलनिवृत्तेः पादुकार्यत्वादेककथने द्वितीयकमुक्तं यत्तमिति ज्ञेयम् ।
ज्ञानरसनीयस्यामा विनियोगमाहुः, मध्य वेति । अन्येषां भगवति विनियोगसद्रूपत्वे विषय-
भोगसद्रूपविग्रहोक्तः । एतेषामनुना भगवति विनियोगसद्रूपत्वात्तन्मवात् निग्रहमात्र
कर्तव्यम् । एतेविषयनीयो न सद्रूपनीय इत्यर्थः । वास्तव्योऽकारो । यस्तु एव इन्द्रियस्य
वाच्यं भगवत्तन्मन्त्रि नदा मस्मिन् कर्तुं शक्यं न इदृशते तदा तस्मिन् कर्तुं तस्मै-
न्द्रियस्य विनियोगः कर्तव्यः । तदिन्द्रिय विषयान्तरे न प्रयोजनीयम्, पश्चिमावस्थानी
सोपनिषदः ॥ १७, १८, १९, २० ॥

अनेषु कृत्योक्तम् अन्यस्यास्य महात्मनिः ।

यद्वानतदाप्रोक्ता व्याकृतिः पूर्वज्ञानमात्रम् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वत्पञ्चमश्रीपादभक्तुता विरोधकप्रणविद्वत्तः सम्पूर्णम् ॥

श्रीरुप्याय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृत्तिसमेतम् ।

नमानि श्रीमदाचार्यकृतलक्षणलक्षणात् । निरोधलक्षणाया प्रमुखा प्रकटीकृतान् ॥ १ ॥
पदीयचरणान्मोहं वरुण मुक्तिमज्ज्मोः । तत्पुत्रतः करिष्येह निरोधविमुक्तिं मुदा ॥ २ ॥
तदाविर्भावितश्रीमद्विमुक्तिवारसात्मकः । अस्मात्पुत्रः पुत्रवतु दिवः श्रीविह्वलेष्वर ॥ ३ ॥
नन्दे विदुषद्वाम्मोहं श्रीमदाचार्यमश्रितः । वरुणहृदयमय सर्वसाधनामापवानपि ॥ ४ ॥

अथोपोद्घातनया इदं विचार्यते, को निरोधः ? किम् तस्य कारणम् ? कम् वा तस्य
फलत्वमिति । ततोच्यते । प्रपञ्चविस्फुरितदिता आसक्तिर्निरोध इति । न च आसक्तिमान
स इति वाच्यम् । विपयासक्तौ मयिपयात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्फुरि, किन्तु
विशेषतः तद्विभिन्नेष एव । न चासक्तिविपयातिरिक्तप्रपञ्चविस्फुरितमपसाधारण्येन
अतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य नक्षामान्वाभिप्रायरात् । न च सौक्ष्मिकल-
गतिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्वत्स्य तादृशमूलपीयोत्पादव्यवसात् । न च
प्रपञ्चमानात्मरत आसक्तेर्निर्विषयत्वापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषय-
त्वात् । न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयस्य न स्वादिनि वाच्यम् ।
दोषजन्यवैयर्थ्यास्यस्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भवत्या प्रपञ्चातीतस्य विषयस्योपपत्तेः । किम्,
शुक्लादुत्पत्तेरात्मे सोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमिति एव । अत एव कस्मत्तद्वत्तम-
धेयवदिमाहात्म्यभ्रमणेन दृश्यते अविच्छिन्ना लोकात्मनविच्छिन्नः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य
अपि चैन्द्रियफलमेव, बहुल्वेयत्वेऽपि भ्रमणमेवमात् । 'कथिद् पीर' इति श्रुते'दित्यं
द्वयमि ते चक्षुः' 'तस्मिन् एते ज्ञाने' 'वसन्ति ते मे' 'त एव वसन्ति' इत्यादि-
स्मृतिभ्यश्च निश्चितपदार्थमेवमात् । ननु कथमे प्रपञ्चत्वात् एव श्रुते न निरोधनिरोधण-
त्वोच्यते इति चेत् । न । तस्य ज्ञानवार्तात्मनोऽप्यस्यत्वत्वेन अत्र अनुपपद्यते । अत्र तु
नवमन्त्रयथाशुक्लस्या समवायसत्तत्वेनैव साधयदर्शनेन तस्य तद्विरुद्धिमात्रपर्यवशि-
तत्वात् । अत्र एव 'समवायसत्तात्मज-रूपेदेष्टव्यसत्ताचितस्य' इति सूत्रमयः । उक्तं च
प्रमुनिः श्रीमाधवतार्किकविरचिते 'कथमात्वा तु वक्ष्यामि श्रद्धमेव निशिष्यते' इति । तस्मात्
तद्विरुद्धिमात्रमेव सात सुमनिति । अत एव मर्यादाचार्योप्याह तादृशम् 'वा तु मयान-
सत्तातिनिरोधे न तु कथ्या' इति । व्यपन्न च प्रपञ्चविस्फुरितदिता आसक्तिरेव । अतः

पदेन नीलविषयत्वस्य पारये एवोक्तत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे,
'विषयविषये हरेः शक्ती मापयैव विनिर्दिशते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीकते'ति ।
तं च परमं प्रभुः पुष्टिमार्गं एव आतिर्नीतयतीति 'मदन्वयो न जानन्ति बाह्यं तेष्यो
मनागदी'तिवचनद्वयसीधते । अत एव निरूपितं केनचित् नमकत्वरूपतत्त्वविज्ञेन
'समुष्णम्' इत्यादि । तदेतन् सर्वमाचार्यैर्वैषाम्येकं स्वयतिविषयविज्ञम्' इत्यत्र निरूपित-
मिति उक्तद्वयेनैव एव विभावनीयम् ।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्निरोधो लोके इव वास्तव्या जन्मत
इति वक्तुं शक्यम् । तस्मा अनुभववन्कत्वात् । भवततय साक्षात्कारात् प्राक् लौकिक-
विषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अवलम्बत्वात् । साक्षात्कारे तु विषयवर्तिमानेन तदात्मकत्व-
त्वात् । 'दिश्यं ददायि ते चक्षु'रिति वाक्यात्, 'कथिन्धु धीर' इतिश्रुतेः । नापि मस्ति-
सा हि दिष्टा, मर्यादाशुद्धिमेवेन, तत्र न तावदाद्या, तस्मा 'भक्त्या स्वकल्पया,' 'विद्यते
पदनन्तरम्,' 'ज्ञानतोयस्य मस्तिष्ठो मैत्रुष्यो भक्तिप्रसङ्गः, द्वयोरप्येक एवायौ भगवच्छब्द-
लक्षणा' इत्यादिवाक्यैः साधुर्वैयुक्तिकतत्कलेन निरोधाशङ्कत्वात् । ननु 'भक्त्या सञ्ज्ञातया
भक्तये'त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिपक्षिपत्तकत्वेन तस्मात् न निरोधसाधकतया कर्म न
परम्पर्येतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिमर्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यैतेन नवी-
द्यापामज्जलतेः । न हि साति साध्यानिरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साध्यात् तस्मात्भक्तये
निविष्टमात्रं सा । अन्यथा 'कुप्येन चोदता' इतिवाक्यं विरुध्येत । न हि निरोधः
कदाचिदति सकृत्साधयैः सिध्यति । अत एवोक्तमाचार्यैः 'आसक्तिः श्रेयपूर्तिं श्रेयानि
हरिणा कृत'मिति । अत एव प्रवसीमश्रितनीत्येव निरोधः सिद्धः, नाप्येव, भगवता तदैव
तया सम्पादितत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं 'यदा साङ्गसमं कृप्ये कृपायैः
सात् तदैव ही'ति दुर्लभत्वयैवोक्तम् । तर्हि किंवाकस्मिकतैवेति चेत्, न, स्वरूपसीधानुमद-
निरोधसद्वृत्तयः हेतुत्वात् । तद्विरोधस्य सर्वात्मयानुपपत्तत्वेनैवेति चेत्, न, यद्यपि
माध्यानुपपत्तनादेः साधयता श्रुतेः, तथापि फलस्य निःसाधनत्वमद्विष्टा बोधधेय-
साधारणं सम्पत्तत्वादाय सा यत्कल्पेति भावः ।

अथ कर्म तस्य फलमिति चिन्त्यते । सुखदुःखानामव्यवहारत्वाभावात् ।
प्रत्युक्तमतेः स्वविषयमात्रया दुःखसद्वृत्तत्वादेति । अथमर्थः । निरोधो हि प्रथम-
विरुद्धिपक्षिना आसक्तिः, सा च सातिपक्षविषयकविषयमतेरप्यवनयो भावः, तस्य
च स्वरूपत्वेन सुखकृतत्वात् । 'एतं हि एषां कल्प्य आनन्दीयकती'ति श्रुतेः । प्रथम-
विरुद्धिपक्षत्वेन प्रापयिकदुःखामावकृतत्वात् । किञ्च, फलं पुण्यार्थः, तत्त्वं च तेन
सद्वृत्तितयेवमाप्तवम् । तथा च आसक्तिरप्यपत्तिदुःखमन्ताति आकाङ्क्षावत्येन तदा-

गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्वातन्त्रित्वानामेव सम्पादितं दुःखं मम कश्चिदपि सादित-
 श्चिमेव सम्बन्धः । एवं श्रीवसोदानन्दारिदुःखं भगवतो दानवत्वेन प्रार्थयित्वा अतिदुःखं
 गोविन्ददुःखं प्रार्थयन्ते गोपिकानां न्यति । तुल्यः पूर्वस्मादीकतत्त्वैकध्वन्यादि-
 योपकः । गोपिकानां प्रहसितनिकीर्णामात्यन्तमत्तनश्यत्वादिति निर्भयः सर्वथा निरुद्धानां
 पत्न्यरूपात्पत्न्यं स्थापयन्तया प्रतिहं श्रीमानवधारी, वस्तुतो भाषांशभूतावपानन्दरूपं
 लहृःभ्यं मम कश्चिदपि देहेन्द्रियप्राप्तान्तःकरणेषु स्वादिति न्यमितम् इत्यर्थः । ननु
 मनवाशिनो हि सर्वेति सर्वथा सर्वस्वभावेन भगवन्तमानन्दमिति श्रुत्याः परमानन्दसमुद्-
 निमशा दुःखलेशसम्भावनाद्विज्ञाः स्वातन्त्र्योपनिरोधनसमर्थाः आनन्दपृष्ठिसमुत्पत्ताः,
 तदुःखत्वायेनवसम्भावितमिव भावीति चेदुच्यते । 'रतो वै छ' इति श्रुत्या भगवान् स्वातन्त्र्यं
 ह्यमविवादम् । स च स्वातन्त्र्यसिद्धयकारक एव स्या भवतीति प्रयोरपि तया मन्त्रार्थं
 स्वमकामेवति तया । तथा च पूर्वस्मरीत्या स्वरूपानन्ददानं 'मालना प्रथमा लीले'
 स्वायुक्तप्रकारेण प्रथमा देहेन्द्रियप्राप्तान्तःकरणेषु आनन्द इति तेषामतिस्वकृतया
 तद्विज्ञास्वरूपानन्दस्यापि स्वकृतेन प्रथमां तय सुखसम्बन्धद्वारः, वसोदानन्दो रसदायक
 तन्मकामेवेति तन्मात्रकृतया तद्विज्ञास्वरूपानन्दस्यापि तयात्वेन पद्विमाकृतयानामात् तय
 दुःखसम्बन्धद्वार इति तन्मात्रम् दुःखमित्युक्तम् । वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दयन-
 स्तम्भविभूतावसमुद्भूतमिदमिति सदृश्यः तत एव विभावनीयमिति दिष्टम् ॥ १ ॥

एवं भावनार्थं नावयवमोक्षं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीवसोदानन्दारिदुःखप्रार्थनस्य रास-
 श्रीभावपरितविप्रदत्तेन साक्षाद्योग्यतया तदप्रार्थ्यं गोपिकानामेव सुखं भाषोत्तरांशभूतं
 प्रार्थयन्ते गोकुले गोपिकानामिति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां भगवत्पतिनाम् ।

परशुलं समभूत् तन्मे भगवान् किं विभावयति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्वातन्त्र्ये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव तामिच्छिते सर्वथा अनु-
 मते सहेनेव च तय सुखमिति । तय प्रथमं गोकुले भगवतो लीलाभिर्बलमुत्पाद-
 यन्वहीयद्वयस्येयनृतगीतपीठकनन्यवादिमिर्गोपिकानां सर्वथा परितृहीतानां प्रकाश-
 तदुत्पत्तयेषां गोपिकानां श्रव्यस्वरूपसुखसमीकरणमिदमित्यसद्विज्ञेन सर्वेषां मनवाशिन्यां
 तत्सम्बन्धिसम्बन्धिन्यां अवयवीनां च परशुलसमुद्भूतयानतीकतत्त्वसम्पादकमभूत् तत
 किं मे मम तत्सम्बन्धी वा हृदयस्थो भगवान् किं विभावयति निश्चयेन करिष्यति
 योपविष्यतीति वार्तः । किमिति श्रव्यैकध्वन्ययामेवेव एतत्सुखमापेक्षीत्यरूपप्रमुमाकृता-
 पीनतया पृथीकदुःखाशितो दुर्गमत्वं मुचिषम् । अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभाव-
 यावद्विज्ञाः भगवानिति । स हि सर्वेष सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपावामन्द्यापि तया
 करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं ध्यानाय मायां हृदयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतिथीवधिरुभाचो लती नाशसम्भाष-
नात्तामुद्राचमनञ्जितोत्सवोऽपि तथामादनिर्गन्तव्यं स्रुतिविषयो वात इतिमाचान्तः-
पतेति लीलाञ्जनितमुपनिषत्सुक्तान्तरैरुद्देशयितुं तन्मन्त्रं प्रार्थयन्ते उद्देशममन इति ।

उद्धवागमने जाल उहसथः सुमहान् यथा ।

पुनर्दायने मौकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

[illegible]

एवं अष्टौषिकसामर्थ्यात्सुखो मुख्यो शिरोऽयः स्यासीति सप्तशोधननिर्देशः प्रथमशोधनेन स्रवणसप्तमैव कृतः, अन्येषां तु मगधान् महासुखप्रदप्रकारं तदधिकारावृत्तयेन सासुख्यं सेव्ययोगनिर्देशं पादशालीजविषायेन सप्तशोधनं विहितप्रकारमाहुः आह्वयमिति ।

अथवा अथवा पादभगवान् इत्यपि पठन्ति ।

महतां कृपया पावद्गवान् इषोदिवसान् ॥ ४ ॥
तावदानन्दसन्दोहः श्रीरामानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

[illegible]

‘श्रीयमनोभिरावा’ इतिगुणानुवादविशेषमुक्तवान् । इति मुक्तोपमर्थः । कर्त्तव्यं
विषयानन्दगन्धोदररूपत्वे गुणस्य इत्यन्वात् ॥ ४ ॥

ननु रीतेन हि तुल्यतावनयः, तत्र महता कृपयेति को वापह सभाकमण्डितः
 कुल सत्येति प्रथेयत्वात् अतर्नां कृपयेति ।

ममतां ज्ञापया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न त-यः लौकिकानां तु शिष्यभोजनमवधातु ॥ ५ ॥

[illegible]

ननु सुप्रसिद्ध दशमस्कन्धे धीरतनूः कर्मवृत्तेन निरूपितः, तत्र 'नरति
 शोभना-नरि' 'महामण्डोदय-मण्डोत्पत्ति' 'सर्वविभूति' इत्यनेन द्वे सन्निवृत्त्या सुप्रसिद्धे
 ज्ञानान्तरस्याप्येवमेव किं सुप्रसिद्धे इति चेत्, तत्राह सत्यमान इति ।

पुण्यमान मुग्धावातिर्गोविन्दश्च प्रजापते ।

मत्ता मथा शुकादीनां नैवात्मनि कुनौन्यतः ॥ ६ ॥

यथा मोक्षिन्दस्य योगोऽप्युपार्थेन साधनाभिपक्षं गुणानां गाने रतुनिवृत्त्यर्थं
 कथने शुभादीनां विद्वज्जनपक्षनामपि सुप्रसू, तथा केशवैव आत्मनि स्वात्मविषये
 ज्ञापयामि ज्ञानात्मकत्वेनैव सुप्र न लभेत्यर्थः । यथा यथा भक्तिं क्रियमाणे गुणगाने
 तत्त्वज्ञेन योगि-दम्प प्रभो सुखजालि-विद्वत्सु यत्र वायम्भी-लितान्तात्, तथा वत्कर्तृ-
 नास्ति शुभादीनां आत्मनि य-त-कथने नेत्यर्थः । तथा च प्रयोगविधिप्रयोग-

एव मयसीमन्तिनीनां गुणवातेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्स' इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । 'अदेवोक्तमाचार्य' 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तु-
प्यति कल्पयित् । मक्तानां देवमेवैक हरितोषणसाधन'मिति । सदानन्दहृदिसमितिपठे
सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्वयं भगिन्नादिकं वदित्वैवैतं भवतीत्यर्थः । अथमाचार्य ।
'कश्चु सुस्तर'मित्यादिना गुणवाक्यमप्य एवादिदेव्यवाते यदा कृपापुच्छो जातस्तदा तत्र
साधिप्राप्य प्रभुर्नैव 'मया करोक्ष भक्तता,' 'न पारयेद्'मित्यादिना आदिर्भाजित इत्यन्यत्रापि
गुणवाते केकेन प्रादुर्भूय सत्त्व्यं ज्ञापयित्तीति तदाशक्तं गुणवाक्यमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥३॥

ननु किमिति कृपानेक्षया गुणवातेन ज्ञेयं सम्पादनीयं, ज्ञाननिष्ठया मन्निष्ठमेव
सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहु स्वर्गानन्दमयस्यापीति ।

स्वर्गानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृङ्मनः स्वमुक्तान् भुञ्ज्या पूर्णः ह्यनवते जनान् ॥ ८ ॥

'स्वस्तेरानन्दम्यास्यापि कृतानि मात्रागुणधीरन्ती'तिश्रुते सर्वत्र सिद्धौ य आनन्द
स भगवति प्रादुर्भूय वर्तते इति तदाश्रित्य वायुपानन्द-रसा-ध्यामसानन्द न कस्यापि
दुर्लभतम्, 'सर्वं मक्तितोषणेन' इतिश्रयणादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य
आनन्द, भगवत्कर्मणा साक्षात्पिबन्तया आनन्दरूपराजः । यदा, पुष्टिर्भाष्यप्रवेशात्
कृपादुपद्रवस्या कृपया य आनन्दो भगवत्कान्दात्म्यं स सुतरां दुर्लभः । मयानन्दम्यापि
दुर्लभतम् । 'सुदुर्लभं मयान्तात्मा कोटि' इति महाभुज' इतिश्रयणात् । भगवानन्दस्तु
दुर्लभ एव । सम्भवति साधनमिह किंचिदिति चेत्? गुणवाक्यमेवेति पृष्टव्यं । अतः
एव दुर्लभतमं तन्मोक्षा भीमदाचार्य । 'सोऽपि कृष्णो वनिद्वन्ताद्वारा पुरीये मयेव,
सानन्दम्यापनाधीय योऽप्यस्यापि विकृतिता, अतो हि भगवानन्दः श्रीपु सम्पत् विपादित'
इत्यादि । एतदर्थमु तत्र एव विमान्यताम्, विस्तरमिषात् न लिख्यते । तथा य
पनेक्ष्यन्नुपहृन्नेतद्विरादिनात् तदानन्दम्यापिनिरेतद्विमित्वाधोक्तं कृपानन्दः
सुदुर्लभ इति । 'श्रीभागवते' 'नेम विरिष्य,' 'जाय सुपान,' 'केना विष' '
'आमामदो' इत्यादिशान्तिदुर्लभत्वनिवृत्त्यात् । कथं दुर्लभ इति भास्वहृत्पा तद्विरूपक
करार्थमाहुः, हृङ्मनः इति । हृङ्मनः हृदयप्रतिष्ठं स कृपानन्दः साक्षात्पानक स्वमुक्तान्
गीयमान् भुञ्ज्या कर्म' अतिशय प्रदीप्तानो साष्टस्या तन् जनान् जननादिषवे-
भुजानपि साधयने म्यादिर्भाजितमनिन्धी निमज्जतीत्यर्थः । अत एव 'वहोतीति'तिथये
म्यामिनीनां एषि तैस्तुमिन्सु गङ्गाया मास मत् प्रभुज्ज प्रतिष्ठो'जननरत्न'मित्यादिभिन्ना-
दभिन्नुपभारणेन केहेतिपञ्चाशान्ता कथादिषु 'एवं वीदावयवतानेन सम्पादितरा'-
नित्यमिदित्यर्थः । अत्र ज्ञेयतायाः संप्रयोगरूपीने 'अन्व प्रतिष्ठो भगवान् गुलादुदत्त कर्मयोः
दुर्लभिरप्यते भगवत् यदा भवति सुमित' इति ॥ ८ ॥

मन्त्रेषु भागवच्छतं वर्षायाभीत्यर्थः । सर्वमात्रविद्यापदान् सप्त सर्वदेवदभिविधेयः
सूचितः । अत एवातिफलम् इति श्रुतिः श्रीमत्प्राप्तके विशेषं निरूपितमाचार्याणां ।
स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इत्याहुः त इति । स्वस्त्यम्भित्वा तेषां स्वस्त्यम्भित्वं
निरुपेयं वा । अत उभयवर्ति सर्वेषां भार इति भावः ॥ १० ॥

मन्त्रेणान्येषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रकीर्तयन्त्याशङ्क्य तदभावात्मेव
हेतुत्वेनाहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसामरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमानान्त्वहर्निशम् ॥ ११ ॥

ये इति भाग्यरहिता यत्तत्र हरिणा सर्वदुःखहर्त्राणि भवन्ता विशेषेण कित्वा
मुक्ताः सर्वेषां लब्धाः । उपसर्गद्वयं कथयति तेषां प्राप्त्यभावात् । 'नियन्थायास्तुती
स्ते'ति प्रयोजनान्निमित्तम् । 'मात्रप्राप्त्यर्थे'ति शिरश्चतुर्वेदार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित्
तत्त्वव्यपे सति शक्तिस्तु प्रवेशपक्षेनेतिदिम् । अत एव म्यातोपि श्रीभागवते 'विना
यत्तुमा'दित्युक्तम् । ननु तेषां किं फलमित्याशङ्क्यानाहुः ते मग्ना इति । ते आहुराः
कर्मिणो देवा अपि भवः जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरश्च मग्नाः सर्वास्तुल्यभानरहिता
इत्यर्थः । तस्य सागरत्वं नम्रदिनित्यसम्भावयता, तत्र तथा पुनरुत्पन्नतासम्भवा,
एवमपि कामादिभिर्मात्रेण पुनर्बोधमार्गप्रवेशासम्भव इत्येतद्वर्गस्थानेन निरूपितम् ।
निरुद्धाणां व्यवस्थानाहुः ये निरुद्धा इति । भाग्यता ये निरुद्धा महापुरुषद्वारा सतो
वा भाग्यमाकृत्यास्त एवात्र गुणवान् मोदमानन्दमाप्तमन्त्राद् यान्ति प्राप्नुवन्ति । एव-
मोत्तमान्धेयान्निरुद्धाणां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम् । तेषां गुणैश्वर्यैः ।
तदुपिष्टु भवतदनुमोदयैव । अत एव ननुत्तरमपिश्रीषांभावानुग्रहावन्तरमेव 'वाणी
गुणादुत्पन्न' इत्यादि निरूपितम् । उक्तं च तथैवास्त्वग्रशुष्यैर्बैतिहमे 'तद्विदितस्यैव
परमकार्यत्वा'दिति । अहर्निशमिति । न तेषां कथमपि सांसारिकदुःखासम्भव इत्युक्तम् ।
'महावर्षाज्यामाना'दितिवाच्यम् । सामान्यमप्येतद्वर्तमानत्वे गृहदेवमप्यकृतमित्यहर्निशं
तथाप्ये किं फलमिति स्वर्थः ॥ ११ ॥

ननु गुणवान् निरुपलक्षणत्वात् कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां धेनुत्वे न
सम्पत्तीनि तत्रिषैरुत्पन्नानाहुः संसारान्धेयानुत्पन्नानिति ।

संसारान्धेयानुत्पन्नानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

गुण्यस्त्य सर्वेषस्तृनि भूत ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारस्य भङ्गजायमानात्मन्येव प्रत्यक्षमिन्द्रियमादक्य य अत्रैव सामान्यता-
दिभिर्विषये प्रवेशमेव दुष्टानां भगवद्भिरुत्पन्नदोषानुत्पन्नानामिन्द्रियाणां पञ्चरादीनां
हिताय भगवत्पूजना दिनं ननु सर्वेषस्तृनि दशान्तरपुण्यदीनि गुण्यस्त्य

सत्तामपेक्षणीयत्वात् । यत् एव 'कुर्वन्ति' यौनत्वापद'मित्यत्र सत्तापदमात्रकरचोक्त्या 'अहमेतदाहो अथ मम खासी'त्येतान् संज्ञाः स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । गुणविशिष्टतत्वेऽग्निह्नितृतिरेव न, किन्तु दृष्टाविरपीत्याहुः हरिपत्सुखमिति । यथा हरेः सर्वदृष्टाहर्तुः भगवतः सर्वदेवान्तर्धानदृष्टाधामनि मातृसाहित्येन सुखं पूर्ण-
नन्दत्वात्, तथा गुणविशिष्टाधामनि अन्तस्त्रयानिर्वाणान् सर्वदा प्रमुखादित्येनान्त-
र्यामेवानन्दपूर्णत्वात्, तेषामपि सुखमित्यर्थः । 'यदा सत्ताह्नुमुक्तानामवसीर्य यदा मयेत्,
तदा दयातुता दैवदर्शनान् नु हरेर्भवे'दित्याह्वयेनाहुः तदा भवेत् दयातुत्यमिति ।
यदा पूर्णोक्तीत्या गुणगान सिध्यति तदा भगवतो दयातुल आहुर्नोर्भवेत्तुम्भं भवेदित्यर्थः ।
अन्यथेति । यत्तानायेकैकतत्वाभावे भगवतोपि पूर्य भगवैश्वर्येण मया सर्वशक्त-
सम्पत्ता इत्यर्थः । अत एव 'देवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रबोर्निजशामपूर्णस
निद्वज्येकद्वयानामप्रद्वीतुः कथमपि किङ्करनिवेदितागुमाहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा
च पूर्णोक्त्यापेक्षैव भवतीति सर्वमनवयवम् ॥ १३, १३॥ ॥

तनु स्यात्कर्मसमावहिरिभिर्बुद्धिनाशोदेवादिरोपैः प्रतिपन्नशुभमे कथं गुणवान-
निर्वाह इति चेत्, तनाहुः साधकाद्यापि नास्त्येवेति ।

साधकाद्यापि नास्त्यत्र तदप्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

भगवद्भूमेस्सामर्थ्यादिरामो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्वर्गाच्च दुःखं भवति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अत्र गुणानि कालादिबाधकाङ्क्षे च न, यत्ने भगवतौक्त श्रीभागवतो, 'न कर्हि-
दिन्यसरा ज्ञानावस्थे गच्छन्ति नो निमिषे केहि हेति' इति । अन्यानि 'आमुर्हरि
वै पुसा उपसक्तवपससी । तस्यै वा ह्यसौ नीत उत्तमस्तोक्याविति । एव गुणानि
बाधामावमुक्त्या सर्वत्र तदवभासकस्य प्रसूत साधक सर्वदाहुः तदप्यासोपि सिध्य-
तीति । गुणगाने एव भगवत आभास सर्वानवपास सोमवान्तराह्वयस्य सुखं
निदिधित्यो मविष्यतीत्या । अन्तस्तपद पटादिकर्षकदायेतु भगवदवभासस्य बाध-
प्रसूतत्वेन प्रसूत आसक्तिप्रमोपनाय । अन्यथा पटादेः सुखोद्यमानिस्तत्र स्यात् ।
न हि पटादि साध्यात् तदभिज्ञ, किन्तु परम्परया । तस्मात्सत्त्वतया तद्वत्ता तथान्तात् ।
अन्यथा तावत्सर्वविशिष्टत्वं तेष्वाप्यभिदध्यात् । ननुच्यन्त एव प्रत्यक्षी सविद्वान्द-
दप्येवमिति चेत्, अक्षरगुणानामेव तेषा तदुक्तिर्या व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा
पटोनिजसादयोपि व्यपदिश्येरत् । न चेष्टमिति, तदसाधारण्यनर्वाणामप्यत्र कथनस्यानु-
चितत्वात् । किञ्च, सर्वेषा धर्मीया साधारण्यतो तज्ज्ञासाधारण्यधर्मनामे कक्षगामादा-
निरूप्यता सर्वधर्मस्य सर्वविशिष्टत्वेनाप्यनवीकृत्य च स्यात् । तस्मादभेदसाधारण्यमाधि-
करणत्वेन तदर्थव्यपदेश एव, न पुन्योपमधर्मगन्धोपीति शुभम् । नन्वेवमीदृशो व्यपदिष्ट

एव, किं न ते दुरुक्तोक्तमपनी इति चेत्, सत्यम्, तदर्थम् एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन
 द्युमिच्छता तेषां तत्र सङ्गत्वात् । यतो व्याप्तादिष्वपि तदिच्छनेन तत्सङ्गातः । 'हुतं
 पौः स्त्री' इति वाक्यात् । एवं सति 'उक्तम् दुरुक्तस्तन्यः,' 'दुरुक्तं स नरः चार्थः,' 'मैद्व्यन-
 देशावे'त्सदिश्रुतिसूत्रीभाष्येण अक्षराभेदः दुरुक्तोक्तमभेद इति भेदाभेदबाधोक्तस्याकर्मिणि
 दिक् । ननु 'निवृत्तार्थैश्चानीपमाना' इति वाक्यात् यैरात्मस्य गुणगानादत्वेन अतिदुर्लभसा-
 मावेद्वद्वाक्यत्वेन कर्म फलविशिष्टिरित्याह्वय उद्वेगैर्नैव बहिष्यतीति साधनसाधकत्वरूप-
 मुक्त्यर्थमाहुः 'अनायद्वर्मासामध्या' इति । 'अनायद्वर्मा' गुणगानं, नीपमाना ये नगकतो
 पनी ऐश्वर्यवीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामध्याद्वस्तुमतेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये,
 चिरागो राजावापः, सिद्धः अन्यापरिमाण्यो यस्तीत्यर्थः । 'सा शरपानस्य निवृद्धमाना
 निरतिमान्मय करोति पुनः' इति वाक्यात् । यत्र, भगवद्वर्मा लीलद्वयं, सत्त्वगन्धर्वादासक्ति-
 जननरूपत्वादेव विषयविकल्पकचिरागो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते, 'वरिणिष्ठितोपि
 मैतृण्य उक्तमस्योक्तलीलया पृहीतयेताः,' 'इत्थं भगवतो हृदि' इत्यादि । ननु भगवद्वर्मा-
 यामध्यायं मुक्तसाधनेषु विषयेषु तिरागे गुणगानव्ययं दुर्लभं सादित्यादायाहुः शुची-
 हरिस्तुल्यरूपवर्णादिति । गुणगानं साक्षात्पित्राभावात् तैरेव हरिस्तुल्यस्य प्रत्युत्पन्नविशुद्धस्य
 हरिपदेतो स्पर्शात् सम्बन्धादिप्रविरागेण श्रोतव्यगुणादिसद्वैति कर्हिपिदमि दुर्लभं न
 वाति, भगवदानन्देन पूर्वोक्तमितिः ॥ १५ ॥

एवं सौम्यविकं गुणगानकर्तव्यतामभिधापोपसंहरति एवं ज्ञातयेति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकृतेन ज्ञानमार्गादुत्कर्षार्थे ज्ञातयेति । अत्र बाधकद्वयं ज्ञानार्थमाहुः
 परित्यज्य सदा कालात्ययवशेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र बाधकद्वयं ज्ञानार्थमाहुः
 अमत्सरैरलुब्धैरिति । मासर्वतोयमोक्षान्तपापकलात् सात्वतस्य । 'निर्मलसत्त्वा
 सता' इति वाक्यात् । सोमय लोभिकक्षेपादिगुणवशादादकलात् सात्वतः । अत एवोक्तं
 वक्तव्ये 'वृत्त्यै चेत् कृपितलोभिक क्षे'त्तदि ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रामतत्त्वादिवशीकृतपिच्छया न कर्म निरोधार्थेलादिति तत्तद्वद्वि
 नीपमानादीलविशिष्टरूपव्याप्तं ज्ञपनमाहुः हरिर्भूतिः सदा ज्ञयेतेति ।

हरिर्भूतिः सदा ज्ञयेया सर्वकल्पादपि तत्र हि ।

दुर्धानं स्वर्धानं स्वर्धं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अथर्धं कीर्तनं स्वर्धं तुल्ये कुप्यन्विषये रतिः ।

पापोर्मलघातियामेन ज्ञेयमानं तन्वी नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्वर्धं न दृश्यते ।

तदा विनिमद्वलस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

इरेः प्रभोः मूर्तिः स्वरूपं कदा ध्येया सारणीयेत्यर्थः । नन्वरुद्ररूपस्य कथं ध्यानविद्याशङ्क तस्यान्याशङ्कमनोरथपूर्तेः सर्वथा निःसाधनस्य ननेन्द्रस्येव रक्षार्थं भगवान्ना-
निर्भक्तीति न दर्शने दीर्घत्वमिति श्रापयितुं हरीति । ननु योय इव कल्पितमूर्तेरुपास-
नापामित्र सम्पादित्वाभ्यस्तकियात्रिण्यप्रयुक्तमूर्तीनां शान्ति इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानविद्यानि
अविष्यतीत्याशङ्क्यतु मूर्तिरिति । मत्तमानिर्भूतरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्मयाशङ्कतेत्यर्थः ।
अन्यथा कल्पिताकारत्वे कथाकथामिदृशित्वेय इत्येव वदेत्तु । ध्येयेति कृतप्रत्यये-
नारम्भकस्य चोक्तितम् । ननु ध्यानसहितमुपमाने किं भवतीत्याशङ्क्य तद्व्यान्तरफलमशङ्क-
सङ्कल्पादपीति । ध्यानस्य का कथा, यत्र सङ्ख्यादिचारमानादनि तत्र ध्यानविषय-
पशुसङ्कल्पे सादृशीपाकुराणतो दर्शने सर्वोपपन्नस्यैकनरूपम्, स्वर्शानं पर्यादित्वाशङ्क्य,
यथा कृतिः शिरसि कताम्बुवधारणादिरूपा, गतिर्विलासकृत्वा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वक-
गुणभावेन सङ्कल्पमादात् सादृशैवमनसङ्कल्पे स्पष्टमवधारितम्, न तु ब्रह्मपतीत्या, प्रति-
क्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः । ननु शुक्लां शुभं कीर्तनेन सिरीकृत्यानां गुणानां गानं सम्म-
यिनि तदर्थं भवत्यकीर्तने अशुभं भवत्यकीर्तनमिति । भवत्यकीर्तनं हि भवत्यङ्गभक्त्या
पद्माचक्षणा शक्तिस्तत्सर्वनिर्धार, तदनु कीर्तनं क्षुत्तस्य स्वीयेन्द्रिये शुभं सुखं सप्त-
सर्वं कथनम्, एतद्वचनं सङ्कीर्णविक्रमकृत्या कर्तव्यम् । अन्यथा भवत्यकीर्तनपरिसम्भा-
वनाविपरीतभावने सात्ताम् । अतएवोक्तं श्रीमदाचार्यं श्रीभक्तमवतारवदीने 'सर्वथा सङ्ख्या-
हारं नामोच्चारणेन वा, समस्यामपि कुर्वीत निर्भयो निःसङ्कलत' इति । औत्तारेण
कीर्तनम्, तद्विषयेन गानमिति तयोर्विषये । ननु 'कथमवयवं शुभम्' इति क्षुत्ते सर्वथा
ध्याने सङ्ख्यामन्तरं पक्षिभिर् कथमवयवम् शुभभावे कीर्तय कामं कर्तव्य इति तमाहुः
शुभे कृष्णमिति इति । शुभे सङ्ख्याशुभे सङ्कल्पोत्पत्तेः कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य
असीक्तिके सर्वशक्त्यागपूर्वकभाविसङ्कल्पमात्रविलासकृते कामे इतिः प्रीतिः कार्येत्यर्थः । एतेन
सर्वोत्तममात्रभावेन सर्वदा कर्तं वमित्युक्तं भवति । तस्य साधनफलस्य कामस्य शरीरवति-
वर्तनसङ्क्षणं चतसाहं पायोरेति । पायोः सर्वशरीरगतमव्यभिक्तानस्य समताशमाने-
नैवाविकलशरीरदोषिकलापादवस्य सम्प्र-भी वो मलांजो तैत्तिकविषयसोपगत-वन्मस्य
सर्वोत्तममात्रभावेन 'सन्त्यज्य सर्वं निषया' नित्यादिव्याप्यं सकारणस्य त्यागेन तनौ क्षीरे
सा प्रतीतिरिषकामरतिः । औत्त-भावं मत्तद्विद्याशङ्क्य भगवत्सम्प्र-वयोगतापादकं नपितुं
आरम्भेदित्यर्थः । शुभं उक्तिशान्तावपदवस्यार्थस्यातिशयोक्त्येन प्रयोगवादाद्युपनाय । नन्वे-
तादृशस्यापि 'तादृशस्यापि सत्त्व'मित्युक्त्यापाद् दुःखद्वन्द्वं भावनानाशतन्मावाद्युपायमाहुः
पश्येति । यस्य शुनादेरिति-व्याप्यार्थं शेषाशुभमनादि स्पष्टं कतिपयत्वेन न
हृदयते शिक्षायामपि, तदा सति आनन्दं तस्य विशेषेण मयादिकमङ्कल्यानि निश्चयः ।
कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सत्या शक्ती तद्विषये 'अप्रतिविद्ममुक्तं भवती'ति न्यायेन

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम् ।

प्रकृमावात्यरूपाय तन्मायैव्यवकाशाय च । तदभावात्तदीक्षायां साधार्यप्रमये नमः ॥ १ ॥
विद्यामादिभिद्रष्टाणां ये निग्रेहे सति साधनेः । यमादिमिथ विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्कृतम् ॥ २ ॥
तदभावेन सर्वेषु प्राकृत्यांशनिवृत्तिः । भक्तिमार्गे कर्म साध्यात् फलं भवति तत्ततः ॥ ३ ॥
निःस्वाभवाद्दीहृतस्य सात् फलं रोपयो यथा । उदये साधनं रूपं तस्य साध्यनि कर्मते ॥ ४ ॥

प्रथमे दशमार्गेनिरूपणे निरोधसम्भेदेन 'निरोधोऽस्युत्थापनमात्मनः सह शक्तिभिः
प्रथमे षीकने हरे' इति वाक्यात् साक्षाद्भावात्परीक्षनमुक्तम् । तत्परीक्षने लीलासुखान्तर्गत-
पञ्चानां अवयवविस्तृतिपूर्वकं शक्यतेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दृश्यसंस्थे भक्तानां विच-
रुषिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गे । तत्र पुनः प्राकृत्यवस्थायां तु साक्षाद्दीक्षितानां पुष्टिप्राप्ति-
यौष्ठमावादादुत्तराणां परमभाम्यवस्थां गतसम्पत्तिर्वा निरोधः साधयेत्येव कृतः, साम्प्रतं तस्या-
कल्याणावादाधुनिकानां साक्षाद्दीक्षानां समार्यापयत्साधनाश्रयत्वात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरो-
धसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावादि श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानवर्गीयसाधननिषेध-
पूर्वकं स्वमातृविनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं कृतव्ययत्वं तद्विरूपयन्ति यन्त्येति ।

यथा दुःखं यदोदाया नन्दादीनां च मोकुले ।

मोषिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम कथितम् ॥ १ ॥

अपेक्षानुगतम् । मोकुलं तु विविपमिदृशेन्यजननितमहनकृपया साक्षाद्भावात्
पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतमतः स्यात्तददानीयं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपपीडनसाधननि-
वृत्तप्रमया तदनुकूलोद्भूतभावात्कुर्यात्प्राप्तिरिति तद्व्यवस्थायादुःखमपि तत्र स्थितम्, येन
साक्षाद्भावात्माकृत्यमवच्छेद, अथ सुखादिकर्मपीडनानां स्वपीडनानामपि तादृशनिरोध-
मार्गिणां तादृशेनैव दुःखं लक्ष्यनिरोधेन कल्याणव्यवसायकम्, यदप्येतेषां साधितसम्भवा-
यथा सर्वदा साधनीयमिति लक्ष्येणात् इति लक्ष्यवन्ति । तथा हि । भगवदार्थेषु स्यात्
एव । यदितानिर्वचनीयत्वमुक्तम् । यथातोऽप्यर्थकः सम्भावयामात् । तथा च सुखं तु
दुःखमेव । दुःखमपि चेत्सादिति । एतद्दुःखं नन्दाकन्दलापि तुल्यकर्तृत्वात् सर्वो-
त्कृष्टत्वेनातिदुःखभाषिकारक्यवनाय सम्भावनीयोऽयम्, न तु शार्पणम् । तस्मात् कथितम्

एवं निरुदानां दुःखमुखाभिहाय स्वस्तिनिरूप्य पुनस्तद्वस्तुज्ञानान्तरं निश्रमोप-
लभिते दुःखेऽपि विवक्षानुसन्निवेशोत्पादकः कथनोत्पद्यो जायत इति तं सम्भावयन्ति
उद्धवाममन इति ।

उद्धवाममने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

शृन्दायने गोकुले या तथा मे मनसि कथित् ॥ ३ ॥

यथा देशान्तरगते विधे उत्प्रेषितशृङ्गेनस्रगमने वनमात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च
विपकृतस्वस्मरणवित्तौत्पन्नपनिधेपेभ्योत्पन्नो भवतीति लोकप्रतिः, प्रकृते तथोद्धवस्य
मगपडायेन सर्वदोःस्वरूपस्य विवसन्देसद्वयकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः श्रुता-
मर्त्यैकिकत्वेन महान्प्रभा जाता, सुमहत्त्वेन तथोत्सवस्य तदनुभवीकृत्यत्वेनस्रगम-
नैवचनमुक्तम् । कुपेलाप्रजापामाहुः शृन्दायने गोकुले वेति । वेति चार्थः । तेन
शृन्दायने श्रीसावित्रीनां गोकुले श्रीमातृपरमानाभिनि विविकः । तथा मे मनसि कदापि
भविष्यतीति तमपेक्षित इत्यर्थः । उत्सवस्तु मानसोत्सादकस्तो मनोवर्ध इति मनस्येवाभिहाय
उक्तः । अथार्थ भागः । मगपदीयस्य मगपदस्यपनिधि समागते साक्षाद्गमनेवागत इति
ताण्योत्साहः सर्वथापेक्षितः, नो चेत्, तत्त्वैव न भवतीति सिद्धान्तः । एते तु सर्वथा
प्रसन्नः परममगपदीया इति तेषां सर्वदोःस्वरूपस्योद्धवस्यागमने प्रपन्नं स्वस्वरूप-
दर्शनेन कोपं भगवद्देशपाठीति निवृत्तयेनोत्कम्पकृतोत्पन्नो जाता, यथास्रगवदीयत्वेन
निर्धारितत्वेऽस्माद्विपस्रम्बन्धी पृष्टे समागतः, तथापि परममर्त्यो निकटवर्ती ज्ञातै, अतो
महद्ग्राह्यमस्रदीयं पयोऽस्नात्तु उत्सम्बन्धितत्वेऽप्यमवागतः प्रेषितो वा, नो देशगप-
दीयस्योद्धवस्य किमर्थं गच्छेत् । तेन प्रमुक्तप्यस्यास्तु भविष्यतीत्यपि ज्ञातै, यत्स-
त्कृताऽभवे मगपदीयस्यावर्धनं न सम्भवति । किञ्च, तद्वहमेव न भवति यत्र मगपदीयो
नावाति, वत्सज्ञानमने भगवानप्यगमच्छतीति प्रमुखेदमवशाद्दुःखेऽपि उत्सम्बन्धित-
नवितनिरुपविशेद्दयात्वात्वेनोत्सादमरदशाच्छास्त्रवदतिस्तरणे परबोत्पद्यो जाताः । कथि-
रित्येतावत्स्य दुर्धर्मत्वमुक्तम् । एवमापुनिक्रियामति निरोधमार्गीयानां तत्सम्बन्धा-
भावयतिदुःखं सर्वदोःक्षितम्, मगपदीयमने जायत एवोत्पद्योऽप्यपेक्षितः । एवं
सर्वोत्पद्यो विहादिनिरोधे जाति तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया मुक्तमति दास्यतीति
मात्रेऽपि ज्ञाप्यत ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानमार्गे तु निवृत्तिरोधे एते प्यानादिना व्याप्तमुक्तं भवति, अथ दुःखेन
विवृत्तिरोधेति दुःखमेव सिद्धीति क उत्तरार्थमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया पापद्वयवान् दपयिष्यति ।

तापदानन्दसन्दोहः कीर्त्तयमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

तेषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दात्तत्वावधे महानुत्पद्यो भवति सर्वदा

भगवद्वैराग्यम् । स्वयमपि उत्साहकृत्वा अन्तराह्वये भक्ता महान्तः, तेषां कृपया वाचस्पत्य-
यान् द्वां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूत सारूपानन्दं दास्यति, तावत्तत्त्वज्ञानप्रचुरभारिभोग-
यदीयैः सह कीर्त्तयन्तामो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाभ्यासादि साक्षरुते
विधाय सुखाय भवति, न दुःखायैति । हृदयस्य एव तत्तदिन्द्रियेषु स्नानन्दं पुरुषोत्तमैः ।
यत् आनन्दसन्दोहरूपः । यथा सूर्यं तावत् तथा गुण्य अस्ति, तेन कीर्त्तनद्वारापि तथा
आनन्ददातेति गुण्यज्ञानमेव तेन करिष्यम्, अन्यदिशि ज्ञापितं भवति । अनेन तदुत्तममपि
समाधातव्यकमानन्ददात्मकम्, न तु लौकिकनिष्ठात्मकम् । यत्र दुःखमस्ति रसानन्दात्म-
कम्, तत्र सुखमस्ति रसानन्दोत्तमैः किं वाच्य इति सूचितम् । किम्, अथ प्रसूदमायां
हेतुत्वेन बहुकूपीका, तेन महान्णदैव स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते । यत्तु रससाक्षात्मेव,
मगवानपि सदपीव एव रसाधुनयं करोतीति सत्कृत्यजसाये प्रचोति न इवेति महत्सुखमैव
सर्वं भविष्यतीति सूचितम् । अत एव 'तद्वाच्यं गुरोरे मो'दितम् 'तात्पर्यमुपहारे'त्युक्तम् ।
मयथा तत्त्वज्ञानरूपसौभाग्यवृत्तयेव महत्तद दत्तमिति ज्ञाप्यते । तेनाधुनिकानां श्रीमद्वा-
चार्पणैवैव प्रसूः कृतां कृत्या भगवद्वैराग्यं करिष्यतीति वाकः ॥ ४ ॥

ननु भगवद्भक्त्या तद्वैराग्यं किञ्चेत्, तेन न सर्वेषां सुखमेव भवति, निश्चयानां तु
के विशेषः, तथाहुः महतामिति ।

महतां कृपया पदार्थकीर्त्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु शिन्धन्मौजमरुक्षयम् ॥ ५ ॥

महतां पदार्थज्ञानं कृपया साक्षादन्तःप्रकृता कृपया यथा कीर्त्तनं मित्रो-
पार्थीयानां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परपुत्राधुनये श्लेच्छिततरमेव सकलेन्द्रियाणां
सारूप्य एव मित्रोमेव मयमपिस्मृतीपूर्वकं तदात्मन्दमा एव तिष्ठन्तीति सुखदसमाधाना
न गच्छतीति सदैव्युक्तम् । तथा लौकिकानां समाधायर्षेनिष्ठानां साक्षात्प्राप्ता-
यत्तं यत्तानां ज्ञानिनापि तथारूपप्राप्त्यवसायात्तत्त्वज्ञानं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः ।
तत्र दधानं शिन्धन्मौजमेति । एवं शिन्धन्मौजम्, अन्यदसम् । शिन्धन्मौजं
यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्तायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु तत्त्वप्राप्ता-
द्वारात्तमेवेति तथा । लौकिकनार्थिपनामात्मवस्तु यत्तु ज्ञानिषु च लौकिकरूपदत्तमेव
यथा लौकिकलौकिकनार्थिपनामात्मवस्तु, तावत्तत्त्वज्ञानमेवोत्तरीति ज्ञाप्यते । एवं सति
निश्चयानां कीर्त्तने महत्तेव निश्चये उक्तं ॥ ५ ॥

ननु सुखदमेति दुःखं तु सर्वदा तिष्ठमेवेति न उक्तं गुणगाने, एतद्वैराग्यं
ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽन्तःप्रकृत्यवसायात्तदात्तमाधुनयः सर्वोत्तम
अमापितम् इति चेत्तथाहुः गुणमान इति ।

गुणगामे सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुक्लादीनां वैशात्मनि कुलोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रत्नालकतीक्ष्णविशिष्टस्य गुणगामे सुखावासिर्वैशा-
निरुहानां जायते प्रकर्षेण, तथा पूर्वज्ञानिनं यथाप्येकान्वयतानां शुक्लादीनामात्मनि
आत्मसुखानुभवदशायां नैव भवति, कुलोऽन्यतः भक्तिरहितेऽपि तर्हः । एवेति निश्च-
यार्हः । गानद्वारा सुखमासी प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्रत्यक्षजनित एवेति ज्ञेयम् । यपनि
श्रीकृष्णैवेयं लीला परिष्ठा, भक्तिरसेवापि ते पूर्वाः, तथाप्येवदामन्दाधुनयस्येयमपि न
जज्ञ इति मुख्यतया लुप्यदभेदादौ दृश्यम् । एवं सति लक्ष्म्येवायमात्मन्दः प्राप्य,
गान्ध्या । तत्रैतदुत्तमेव साधकमिति तस्मैव परमपुरुषार्थत्वम्, गान्ध्यामेति । यथाज-
सुखापेक्षया तदुत्तमापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र किमु वक्तव्यः सुखोत्कर्ष इति वैकुण्ठिकन्दानै-
नापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

गङ्गा परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्थापयति मन्दरान्, किं वा कदापि
पदिः सुखमपि प्रपच्छति, तत्राहुः क्षिद्व्यमानानिति ।

क्षिद्व्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गते पदिः ॥ ७ ॥

एवं क्षिद्व्यमानान् साक्षात्स्वरूपमन्यामिषाप्यनित्यपुराणां प्रतिध्वन्यूर्ध्वभाग-
प्राप्यवस्तुभेदेनापि ज्ञेयानुभवं कुर्वन् स्त्रीयान् जनान् दृष्ट्वा प्रहर्षदा कृपायुक्तो
भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं सर्वशुद्धं सदानन्दस्वरूपं तददिश्विषयेषु भावात्मकतया
सर्वशेतानन्दपौर्णवं हृदिस्थमतीन्द्रियस्वरूपं वा साक्षात्स्वरूपं पदिर्निर्गते प्रकटं
करोति, पदिदानन्ददानार्थं हृदयान् प्रकट्ये भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमप्यमात्मन्दः कुर्वेकस्याप्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमपत्येति ।

सर्वानन्दमपत्येवापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृत्ततः सद्युक्तान् सुखा पूर्वाः स्थापयन्ते जनान् ॥ ८ ॥

मयाकन्दर्पयन्ते यत्र मयाकन्दो गणितमनवस्थापि कृपानन्दः सुखां दुर्लभः ।
अथवा सर्वेषां तत्त्वपक्ष स तथा । सुखवादिसु य आत्मन्दो भवति, सोपेतदंश एव,
परन्तु स स्थापनैवेति, सर्वं कृष्णशान्ता, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः,
न केनापि प्राप्तुं शक्यः । अथवा सुखं दुःखेन शोभनेन वा लब्धो लभ्ये यमेति ।
समस्तप्राप्यसमाप्तादन्वेषां दुर्लभः, तद्वत्तमेव सुखम् इति सुचितम् । उत्तममिषमन्नाहुः
इत्युक्त इति । अत्राहुःअनित्यताप्राप्तौ मिषो पुच्छपुच्छदेन सद्युक्तान् सुखा हृत्तत एव
पूर्वाः सकलेन्द्रियप्राप्तः, तत्रनित्योत्तमिषाभिप्रेत्यात्मन्दः यत्र पदिः साक्षात्कर्षं

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषां साधननिष्ठानाम्, तन्निरूपेति तत्राहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तस्ते मग्ना भयसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्वाहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा सर्वदुःखदमो ये निरोधेण तक्ताः, स्वातन्द्र्यामेव दुःखदूरीकरणेऽभावात् तक्ताः, ते तु भयसागरे मग्नाः, साधनान्तरपट्टा अपि वृत्तान्तराभावात् सम्मथा वृत्तेति भावः । ये तदन्वेषणा निरुद्धाः पुष्टिमात्राद्रीकृताः, केवलसरूपनिष्ठ-
अधिकसाधनाः, त एव तत्कृत्या तदर्थं मोदमायान्ति, वाद्यान्तरं रसपूर्णैः सन्त-
कदानन्दसमुद्भवा एव तिष्ठन्ति, तदप्याहर्निशम्, क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः । अतो निरुद्धानामेवापमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्थमेवोच्यते इति सर्वं सुखम् ॥ ११ ॥

ननु निरुद्धानामपि पूर्वशितसंस्कारस्य विद्यमानत्वात् तद्विषयासक्तोन्निद्राणां तद्विस्मरणमवश्यमेव भवति, तदभावे सुखमात्रादिप्रवृत्तिरप्यवश्यं, तत्राहुः संसारेति ।

संसारापेक्षादुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूति इदं च योजयेत् ॥ १२ ॥

निरोधार्थं केवलपुष्टिमात्राद्रीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्तयोरप्योजकत्वात्तद्रीकार-
स्वरूपेण यथा स्वरूपे खेदात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा निरोधे, किन्तु तत्सम्बन्धयोर्-
निवारणीय इति संसारापेक्षादुष्टानां तद्विषययोषादिषु अहन्तामवज्ञानकवेष्टेन
दुष्टानां तद्विनिवर्णनेन दुःखद्वन्द्वानामेव तद्विषयकसर्वविषुक्तानामिन्द्रियाणां हिताय
मील्ये पूर्वाक्तमेतेन हेतुना कृष्णस्य तदानन्दस्य सर्ववस्तूनि प्रकाशदेहादेशेन्द्रियाणि
सम्पूर्णस्वरूपं यत्तानि प्रत्येकदुःखद्वन्द्वानाम् तत्सम्बन्धोत्पत्त्यवस्थापनायां भूमीः समस्तलोनिद्र्य-
विषयानिष्ठानि कृत्वा नास्तीत्यान्तःप्रसङ्गादिनां द्वापश्च तत्र योजयेत् । यद्यपि निरुद्धस्य
केदन्तत्वादेनैव गगनसरूपतासक्तिः कर्तव्येन्द्रियेषु भवतीति निरवधिपरिचयः, तथापि संसा-
रापेक्षिनामनिष्ठैवं वीक्ष्य पत्राक्षयत्वेन यद्यपि क्लेशदुःखमेव यतिष्यति, न तु खेदासक्तिर्न
सुखमिति मतेन ततः सांसारिकसम्बन्धः कस्याप्यर्थं समलोनिद्र्यानि तत्र योजयेत् । यत्कि-
ञ्चित्सम्बन्धेनापि विद्ये वा भवति कर्तव्यविधिरुक्तः । किञ्च, इन्द्रियाणां साधनपरप्रवृत्तिः
सदृशः, तथा चानिदुष्ण विषयः साध्यविज्ञा परमानन्दरूपविषयेषु तानि बोधनीयानि ।
तथा 'चोक्त'महत्त्वता'मिरास्य निवर्तने 'इन्द्रियवृत्तिनिवर्तने' कल'मिति, 'नक्षत्रता सदा
संज्ञा' इत्यन्तरं 'एवं तद्वान्न सदे'त्यन्तरम् । अथ तु इत्यत्रैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि
तत्रावर्तनमेवोक्ता । एवं कस्याप्युपनिषदानामपि सांसारिकसम्बन्धः परापूर्वं तानि गगनवि-

योजनीयानीति सिद्धा सुचिता । एवं योजनेन कदासांते कदा साक्षात्सकलान्यन्यामावात्
कदाह्येवेषासक्तिवशादप्येते भवेत्, न स्वल्पेति भावः ॥ १२ ॥

ननु एवं बोधनेति तद्वदिन्द्रियाणां पूर्वसंसारव्यापारत्वं नरादेभ्यः पालनवन्दे
यमतत्त्वकः संसारस्थोदेवेति तत्प्राप्त्यन्विष्टोऽसौ जनि तस्यात्मभावत्वाद् मनेदिति कथं
सुखम् ? तथाहुः शुणेऽप्यिति ।

गुणोप्याविष्टमिहानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारविरहक्षेत्री न स्थातां हरियरसुखम् ॥ १३ ॥

संसारविरहोऽपि न स्वाता हरिचरितम् ।
 एवमासक्त्या युगधाने किमप्येव त्रिष्वपि विद्या मयन्तीति मुरपैरिणक्षय प्रति-
 पन्नमिदमेकम् । युगेऽप्यविद्याविद्यानां तेषां संसारः पूर्वोक्तसत्यानामनित्येव
 ही न स्वाताम् । तेषां प्रत्यभिस्तुतिपूर्वकं युगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्तसत्यात् एव नश्यति,
 कुतस्तस्यानन्तरेण सम्भावेति भावः । एतदेवैकं नेतुमिह 'बीजसाम्यमर्ता यदु' रित्यस्य
 विपर्यये 'आमलक्येण मीढोऽपि पश्यन्ती'ति । ननु तथापि पूर्वोक्तविपर्ययेऽप्येव तेषामा-
 सक्त्या तदनुग्रहमपि पूर्वोक्तविपर्ययसमुत्पत्त्यप्येवेति चेत्, तथाहः हरिचरिति । पूर्वोक्त-
 योगासक्त्या संसार एव । अथ तु हरिचरितं सर्वदुःखार्थं नित्यसौख्यं साधकसाधकानन्दरूपं,
 तथा तस्य सुखमन्यसे दुःखसम्भावनारदिति संसारविरहकं साधकमेव, न तु पूर्वोक्तं
 मयतीति नर्हदित्यन्यदुक्तम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वेषां विपयवासनाहितप्रकाशस्य सत्यवेत्तदातु तदेति ।

तदा भवेदवास्तवमग्न्या कृता मलाः ।
वायश्चक्राणि नास्त्यन्त तदध्यासो वि सिध्यति ॥ १४ ॥

[illegible]

ज्ञाने 'सोह'मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादी तस्य भगवत एवाभ्यासः, तस्यात्मेनैव भावं 'हृष्योह'मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति । सिध्यति विद्धि प्राज्ञोत्तुसुतया यथा संसारवस्त्राणां ताप्याभ्यासः क्षितः, तथेदानीन्तनवस्त्राणां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाभ्यास एव भवतीति समावपरावृत्तिर्वाप्त इति सूच्यते । एतदेव 'तन्मनस्का' इत्यस्य निबन्धे द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

ननु तयापि वैराग्याभावे कथं पूर्णोक्तवाक्यविषयाभ्यासनिवृत्तिज्ञानाहुः भगवच्चर्मैति ।

भगवद्भर्मसामर्थ्यादिरामो विषये स्थितः ।

शुणैर्हरेः सुखरूपधर्मश्च दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवतः सकलैवर्षादिगुणगुणस्य धर्मोः गुणगान्धारमन्तःप्रविष्टात्मेन सामर्थ्याद्विषये प्राकृते वस्त्रावस्त्रेण भगवत्स्य वा ताप्यास्य विरागः स्थितोक्तिः । स्थिर इति वा पाठः । विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यत्वेन, किन्तु तेषां पराकाष्ठावच्छादीभित्तानन्दरूपे साक्षाद्भगवति निरुपविशेतेन केवलतादीवत्तुल्यैव तथा व्रणवत्तेति 'सत्यस्य सर्वविषया'मिति निरूपणेन ज्ञाप्यते । अत एव भगवानपि सर्वं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति सर्वव्यवसायम् । तर्हि दुःखं कथं भवति ? तन्माहुः शुणैरिति । हरेः सर्वदुःखहर्तृगुणैः सुखरूपधर्मश्च कर्हिचिदुपस्थानम् । तेषामन्तःस्थस्वरूपानन्दरूपीनां सर्वदा तदालम्ब्य तथा दुःखस्त भवनेन नास्ति, कुतस्तत्त्वभावनेति भावः । तावत्तत्कं यद् दुःखं परस्मै तस्य स्वरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

अतः परगुणसद्वान्ति पश्यं ज्ञात्येति ।

पश्यं ज्ञात्या ज्ञानमागमीदृत्कर्षो गुणवर्णने ।

अमरसरैरुज्ज्वलैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वत्रिष्टयास्तत्त्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगान्धस्य सुखरूपत्वेन च ज्ञानपदसाधुरूपवर्णनसामर्थ्यात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यात्म्यं ज्ञानमागमीदृग्वर्णने महोरक्तं इति ज्ञात्या निरुद्धे । साक्षाद्भगवद्भगवत्साक्षाद्भगवत्साक्षाद्भगवत्सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न लक्षणाः । तदावत्तत्त्वान्तरं तत्त्वसाध्यात् तत्त्वमेव गुणगानं भविष्यति, साध्यत्वं कष्टसाध्यादनं सर्वव्यभिचिक इति सर्वव्यवसायम् । तत्र प्रतिव्यवसायकमान्तरं दोषद्वयं सर्वथा साध्यमित्याहुः अमरसरैरिति । मारुतं पयोः स्पर्शहृदयं शोषणं तद्वह्निः कौतव्यम् । भववदीयेषु मात्सर्येण शीतादीमात्रे गुणवर्णनमयम्, तेषां तु साध्यादीयेषु कुतन्माद्वेषः, प्रत्युत सर्वथातुषितत्वाद्भगवद्भगवत्सर्वव्यवसायनिवेति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः । सदेति कर्षात्तरम्यापह्ने भावशक्तिव्यापानापोहम् ॥ १६ ॥

तादृशे कृष्णमिये कृष्णः त्रिवो यस्य कृष्णस्य पलदानसमुत्पन्नं त्रिवे वा पुत्रे पुत्रकरो
 रतिः प्रीतिरिव भवति । स्वमियप्रीतिहेतुत्वेन कृष्णया मापदानात्तेषां तुरुत्वापत्तिरु
 बुधत्वं सिद्धमेवेति तद्वत्त्वमुक्तम् । तासां मुक्तत्वं तु सञ्जातनिर्णये 'कौण्डिन्यो
 गोपिका' इति श्रुतीकृतम् । किञ्च, यथा पुत्रस्य कामप्यार्तिं दद्यात् तस्मिन् वात्सल्येन
 तदुपचात् किञ्चते, तथाप्रापि तादृशीमार्तिं दद्यात् वात्सल्येन तद्वत्त्वं तैरपि कियत् इति
 ज्ञापनाय पुत्रकृत इत्युक्तम् । अन्यथा, पुत्रे यथा तद्विहितविधिभाषायादिति परस्मैतैव
 भवति, तथा तादृशे कृपाप्राप्ते प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम् । प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव
 भवति, न तु तद्वद्विधेति ज्ञापनाय रतिरुक्तमुक्तम् । रतिर्ह्यस्येति तद्वत्त्वं तस्याः स्पष्टम् ।
 एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति सं श्योति तेन प्राप्यत इति सुश्रुतं तथा ।
 किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रवाचस्पत्या तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा
 मातृमात्र एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम् । अथवाऽन्यादमपि पूजानिष्ठमिष्वरमुमीयते ।
 कृष्णमिषास्तु पशुमिषा . परन्तु पशुराकृष्णमेवेति श्लोकोक्तकृतं कृष्णस्नानन्दरसात्मकस्य
 मिषस्य श्रीमदाचार्येणैव निरुपति नान्येषु, तदेतुकं साक्षात् श्रीश्यामिनीनामपि मिषत्वं
 तादृशवात्सल्येनैतेनैव सम्भवति, नान्येषु । यत्, श्रीमदाचार्यानामेव तद्वत्त्वात्मकत्वं
 सम्भवत्यतिल्लं च निवपते । तथा च कृष्णस्य त्रिवे यत्नेन मयि पुत्र इव रति-
 शोभां परेत इति मद्वीकृतोत्पत्तिरिति तादृशे भविष्यतीति भावः । अथवा कृष्णमिये
 मयि रतिर्नैव इति कथनात् स्वस्य तद्वत्त्वात्मकत्वात्तद्वर्त्मतत्वात्प्राप्तुमिषाणां साहचर्येन
 भविष्यतीत्यपि सूचितम् । एव तत्कृपाया अन्तितो रतिरूपो भावो निश्चितं साहचर्येण
 स्नानदित्या कोणादीनिक साक्षात्कृतवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति स-
 द्धान्तं निरूपयन्ति बाबुमिति । बाबुः सर्वदेहेन्द्रिय-भावी भुक्तमात्रनिष्ठितगन्तुनां यो
 मलाश्लक्षस्य स्वाधेनाधोद्वारेण यद्विरुद्धमेष ज्ञेयभावः साधारणं तन्वी वादीद्वारा तत्तद्विज्ञाने
 यथा प्रापयति तथापमपि प्राकृत्यां स्नानदित्या ज्ञेयभावं सर्वं भवति यदेन्द्रियवयः ।
 तन्नातिस्फुटलक्षणम्, किन्तु देहाधेन्द्रियवद्विस्तृत्यैः । अथवा ज्ञानमागोपस्य योवादिपा-
 रणाया प्राणावागादिकत्वेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृत्यवयवहृत्प्राद्विरूपं मलाश्लक्ष-
 वित्या बाबु ज्ञेयभावमूलं शङ्खजद्वित्रीमूलं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति
 तयावति च मात्र इति ज्ञेयम् । आत्ममिति पाठे स्पष्टमेव । अथवा बाबुमेव कर्तुमिष-
 ज्ञाना यो मलाश्लक्षवयवस्य, पशुमप्यत्र तागेन ज्ञेयभावः मलाश्लक्षवद्विरूपं तत् तन्वी
 स्वदेहादित्येन ज्ञेयं प्रापयेत्, तदा-मनो भवतीति यावत् । अथवा नर्त्ता स्वतन्वी यत्सर्वं
 ज्ञेयभावः कर्तुमिष्विषयिकं यत् प्रयुजि जन् सखलं भवेत्, तर्हि प्रापयेत्, एवमलाश्लक्षवयो
 भवतीति पूर्णम् । एव पूर्णो विशेषः सिद्धो भवति ॥ १७, १८ ॥

ननु उद्भापनमात्रात् तदा न भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तथाहुः
यस्य चेति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिवृत्त्यस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

केलनादरे । ययति उद्भापनमात्रादेव तावत्सर्वं भवति, तथापि हीनिकवना-
दुपेक्षेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं भगवद्विरोधेन कृतमिति कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न
दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्वोक्तः भगवदीयः सद् गुणमानेन तस्मैन्द्रियस्य
विनिवृत्त्येव प्रत्यापत्तं स्वरूपप्रदर्शकप्रमाणं एव कर्तव्य इत्येतदर्थं कर्तव्यविधिरुक्त
इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं पूर्वं विरोधस्वरूपं निरूप्य तत्तावत्कलादुपमायास सर्वोक्तुस्तत्तादुः नातः
परतर इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रस्य विद्यातीर्थदीनां लोकप्रेदीनाकलापकलालोके वेदे च महत्त्वं भवतु, न तु
तदतिरिक्ते । गुणमानस्य तदतीतप्रत्ययकलातदतीतसर्वोक्तुप्रमाणमपीयेतव्याचनार्थं कल-
स्तुतिरुक्ता । ययति मन्त्राद्विद्या विद्यादुक्ता विद्याद्विदिकं भवति, तथापि नहृत्ता ज्ञेयेन,
तथाप्येतद्वेद्यया कल सत्यतरे, नातद्वारा विद्याद्विकमपि सुखेन भवति, कलमपि महत्,
सर्वोक्तुमिति गुणमानस्य सर्वोक्तुप्रत्यय निरूपितम् ॥ २० ॥

श्रीवदार्थापरमसरोजसतनुरक्तोः ।

ब्रह्माभीष्टमिच्छता दुर्बोधमप्य विधितम् ॥ १ ॥

तेन सङ्गतमेवाहं मन्येन तदपि सक्तः ।

संशोधयन्तु मुनिवः कृपया मयि बलताः ॥ २ ॥

यदभिप्रेति यमोक्तिर्येव निहति बन्धनः ।

अतो हि तस्मिन् पूर्वं प्रवृत्तिर्न च बन्धना ॥ ३ ॥

धीनिष्ठेण्यपदसमुत्प्रेक्षेय सर्वोक्तमित्येवमप्यु मयाविलोपः ॥

यत्परकृतः सर्वदि दैवकवे सक्तः श्रीवन्धनरोजसपदी कलितविला सात् ॥ ४ ॥

इति श्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीवदुभक्तुलं समाप्तम् ॥

निरोधलक्षणम् ।

श्रीगुरुभोक्तृमकृतविरचितसमेतम् ।

अथ श्रीमदाचार्योऽस्तीत्येव कथयामः । निरोधलक्षणमर्थं तदासम्भितवलयम् ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सन्त्यासनिर्गमे भक्तिमार्गवित्यास निरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनमित्यस्यलक्षणोपमाभ्यामभिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य लक्षणं निर्मेकसाधनत्वं, तत्र साधनाच्छास्त्राणां भावनामिदं भावमात्रसिद्धे साधनत्वं, तयो रितक्षयाधिकारे गुणानां जीवनेहेतुत्वं चोक्तवन्तः । तत्र कीदृशसाधिकादिगः कीदृशया साधनया वातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणस्य तत्र साधकत्वेनोक्तं अत्र कीदृशसाधिकारे केन प्रकारेण जीवनेहेतुत्वा साधकत्वं प्राप्नुयतीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते । किंच, भक्तिपरिण्यां साधनसिद्धिः कीदृशमायस भगवदुक्तस्वरूपिचारितरीत्या भजमानस्य भक्ति-प्रयुक्तार्थं गुरुसत्तापूर्वकभजनपक्षीर्तनरूपे साधनमुक्तवन्तः । अतःपक्षीजमायस तु एवै सित्वा पूजाभयवादिभिः सेव्यसत्त्वित्यस्यलक्षणमनुपाय तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अथ साधकत्वाद्यै-राभयफलमुक्तवन्तः । तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्यकाङ्क्षोत्पद्यते । तेषां सेवाफल-विवरणे साधकत्वाभावे सेवायां भगवदिदितिकीर्तन हेतुत्वेनोक्तवन्तः । तत्रापि सेवायां आधिदैविकीत्य कथं साधितव्याकाङ्क्षोत्पद्यते । एव तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्ती तत्रत्यास्ता आकाङ्क्षा-पुष्टिस्तु यथा भगवानपञ्चादश्यां भक्त्यर्ग्यौचमभिरुच्यतीत्यपि अथभिरवृत्तिपूर्वक-साधनसिद्धय निरोध ममेव निरूपानो योवातुद्वरति, तथेदानीमनन्तरादजायमानि यककक्षीर्तनादिनोचरामिर्गुणशील्यमित्य मयेव निरूपानो जीवातुद्वरतीति बोधनाय सागपूर्वक भजनमन्यमायनया भजता, साधपूर्वक कीर्तनेन भजता, एवै सित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकार भक्तिप्रयुक्त्यात्मकपुण्योक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् । तत्रापि साधपूर्वक भजनमन्यमायनया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणस्य कथन्या, साधन्या च परीक्षणीया, साधनद्वारादुत्तरेण साधितम् निरोधोत्तरेणकथयितेये. परीक्षणीया । कीर्तनेन भजता तु कीर्तनमन्यपुष्टिभिरुच्यतेमेतिवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया । नेवे सित्वा

३. अनुचितमकीर्तनं कथयितव्यमायनमिति भजन । आधिदैविकीये सेवा विमृष्टा साधकसाधिकादि ।

१. साधनायाम् कथया पूजायाश्च साधु । २. साधकत्वाद्यैकीयेति कीर्तनायम् । ४. साधकत्वात् यककक्षीर्तनादिनोचरामिर्गुणशील्यमित्य मयेव निरूपानो योवातुद्वरतीति बोधनाय सागपूर्वक भजनमन्यमायनया भजता, साधपूर्वक कीर्तनेन भजता, एवै सित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकार भक्तिप्रयुक्त्यात्मकपुण्योक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् ।

यः प्रपद्यन्वित्पूजितपूर्वकमगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य कृतम् । तदाशंसैव प्रपन्नाभिस्सारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः । अत्र ख्यादित्वाशंसायुक्तम् । यद्यपि आशंसावन्नेत्रिदिति सूत्रेण आशम्भावाविन्नुपपद एव छिद् विहितस्तथापि लोक उपपदामन्नेत्रि देवदत्तश्चेदज्ञानेद मरुत्कार्यं भवेदित्यदिप्रयोगदर्शनात् दोषः । यदि च लोभेतिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भावनयायां वा छिदिष्यते, तदापि तपोराशंसावृत्त-
त्वादाशंसा न स्पष्टिभरति, तस्माददोषः ॥ १ ॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासत्तिप्रग्न्यावकमगवदनु-
भवार्थत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिलक्षणं तात्पर्यनिरोधलक्षणकथनमुपेयाहुः मोकुल इत्यादि ।

मोकुले गोविन्दानां तु सर्वेषां प्रजयासिनाम् ।

यस्तुलं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तुमुन्दः पूर्वस्यापुण्यैः । एषेत्यस्य विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकल्पवणिका नसन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यमुखावस्था-
रूपं कार्यं तद्वक्तृवृत्तात्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञातत्वात् पूर्वं गोविन्दापदेशितः । अन्येषां
तद्वत् सर्वस्याभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पञ्चद्वयः । किमुन्दो विकृत्य चोत्पत्तिः । विकृत्ये
किं किमुलं चे'ति कोशात् । आशम्भावां भविष्यत्काले कृद् ॥ २ ॥

अक्षोभ्याभिस्सारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरमात्रिसाक्षाकारार्थत्वात् तस्य
तत्साक्षात्कारोत्तरं यदा पुनर्मगसत्तामपि विरहलया तदा पूर्वानुभूतस्य जीनस्तुत्यादिसर-
सवर्जितविरहमाननिकानुभववत्त्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य
भक्तिवृद्धिरुत इति तस्य सन्तिलादमिज्ञातक लक्षणमाहुः पञ्चमैत्यादि ।

यद्व्यापामन्ने जात उन्मथः शुभहान् यथा ।

दृग्दावने मोकुले वा तथा मे सजसि कनित् ॥ ३ ॥

अत्रापि पूर्वलोभोक्त्या ख्यादिति किंवा अनुपपत्तेः । तथा च तादृशस्मरणोत्पा-
दिविषयिणी आशंस्य सार्धमज्ञातमभक्तिवृद्धिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ।

अत्र निष्पत्ति एतेकेषु मोकुलादोक्त्या पर्योक्तरीतिरे भावः श्रीजगन्नाथस्वरूपास-
क्तान्नेत्रि विरहितः, नाभ्यन्तररूपासक्त्यामिति ज्ञापितम् । ते एव परमानुग्रहविषया इति
च । तृतीये तुल्यान्मदोक्तिस्तु केनपि आभिलषज्ञापनार्थेति बोध्यम् । तैर्ज्ञातवृद्धिना
मूर्तिरूपक एवाय विचारः, न तु सर्वत्राधारण इत्यपि बोधितम् । आशम्भवे तस्य
भोक्तृत्वे तुनोपिन्वाद्युक्तस्य निरोधस्तत्राशंसावृत्तौ मनोरथ एवोन्मथे । श्रीहरिप्रभावा-
नते तु निरोधनिमित्तकारणकमभोभाववस्तुनमानयोर्विषये प्रथम सावनमुच्यते, तत्र दुर्जनत्व-
बोधनाय न्यविषयकत्वा प्रार्थनायेत्युच्यते । मन्मते विरह्याशम्भावा भक्तिवृद्धिज्ञापक-
लक्षणार्थेवोपपन्न इति ततो भेद इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

एवं त्रायिषु ये अप्रत्यक्षव्यापनानामपरास्तेषां वक्तृवृद्धिस्तु ग्राह्यतात्पर्ये निरोप-
मात्रेणैव कार्यमुत्तेजानामिदानीमर्थमुक्त्वा, ये त्रायिषु ततोऽपि तुल्यमानास्तत्रास्तेषां
नित्यवृत्तात्मकनिरोधस्य सविप्रविज्ञापकं लक्षणं विनिर्बन्धत इत्यर्थं तुल्यमात्रं
प्रमाथितारिणः स्वस्तिनादभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपयैत्यादि ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

अथ यावदिति पदशुद्धावधिज्ञापकं तावत्तदं च पूर्वोक्तेः । महत्तदं च
पक्षेणैव प्रवचकज्ञापकम् । तथा च तासां कृपया भगवान् यावदययिष्यति
पक्षमात्रादित्येकैकानन्दसन्दोहादिकां दयां कल्पति तावत् ततः पूर्वं कीर्त्यमानः
'भगवान्दयते' लुक्प्रत्ययः । स्वरणपूर्वकं यद्वैदानं, ज्ञानसन्दोहः श्रीगण्ड-
र्वेण्डुवक्तृवृत्तिसिद्धान्तस्य यः शब्दः लीलाशब्दः हि विधयेन सुखाय भवतीति शेषः ।
यत्तदस्य कीर्त्यमानलीलायां सुखजननं स्वस्तिनादभिज्ञापकं निरोधस्य स्वस्तिनादभिज्ञापकं
लक्षणम् । इत्यनपेक्षेण त्रयविप्रविज्ञापकमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैवमर्थः पूर्वज्ञानं त्रयविप्र कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
तावदिति पदशुद्धावधिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया नमदित्यादि ।

महतां कृपया गच्छन् कीर्त्यमानं सुखदं सदा ।

न तथा लीलाशब्दात् तु शिष्यभोजनरक्षणम् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया गच्छन् कीर्त्यमानं सुखदं सदा । लीलाशब्दात् निरोधस्यैव वक्तृत्वे
कीर्त्यनिपक्षे कीर्त्यमानं सदा सुखदं तथा लीलाशब्दात् न, लीलाशब्दात् कीर्त्य-
निपक्षे च कीर्त्यमानं न, सुखदं न । अत्रागि भवतीति शेषः । तत्र चक्षकः । शिष्यभोजन-
रक्षणमिति । शिष्य भोजनं यस्मात्कीर्त्यनिपक्षे कीर्त्यमानं सुखदं सदा । शिष्यभोजन-
रक्षणेन सुख-
जननं लीलाशब्दात् । तथा च लीलाशब्दात् तद्विषये च कीर्त्यमानं सुखदं सदा ।
विना, विनाशब्दात् । इत्येवमत्र विज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

पूर्वज्ञानादुक्तस्य निरोधस्य स्वस्तिनादभिज्ञापकं लक्षणमाहुः महतां कृपया
अथ ततोऽपि त्रयविप्र कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ५ ॥
तुल्यमानं इत्यादि ।

तुल्यमाने सुखायातिमोचिन्दस्य प्रजायते ।

तथा तथा शुद्धादीनां विनात्मनि तुल्योन्मत्तः ॥ ५ ॥

'महतां कृपयै'ति पदप्रत्ययान्तरमुपपन्नम् । अत्र महता कृपया मोचिन्दस्य तुल्य-
माने एतानुपपत्त्या अथैवमर्थः पूर्वज्ञानं त्रयविप्र कीर्त्यमानं सुखायातिमोचिन्दस्य प्रजा-
यते ।

प्रकारेण प्रजायते प्रकीर्णायते, तथा तेन प्रकारेण शुकादीनां ज्ञानिभक्तानां
आत्मनि हृदये न, अन्यतः कुतः । ज्ञानमतिक्रम्यमेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्त-
ज्ञेयोः कुतः सादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः । तथा च भगवद्भगवान् साध्यसुखायतिः
पूर्वसादुच्छ्रयस्य निरोधस्य स्यादतिरिक्तज्ञानं लक्षणमित्यर्थः । एवं च त्यागकर्तृणां मये
कीर्तयितुं गुणवान् न च मदकृतं हेतुत्वेनापेक्षितेति बोधितम् ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्त्वार्थान् गुणकीर्तनादिवन्तं गुणं च कथं सादित्येष्ट्यायां तव भगव-
त्कृपाकृतं हेतुं प्रकारमेवेनाहुः क्षिप्रमानानित्यादि ।

क्षिप्रमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्मेयं महिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मतः स्वीकृत्य क्षिप्रमानान् सन्नामर्षं दुःखितान् दृष्ट्वा
यदा कृपायुक्तो भवेत् भवन्नुग्रहं कुर्यात् तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं महि-
र्निर्मेयं भवेत् । पूर्वापेक्षा भवनविशेषादभ्यस्तुपत्रे । तथा च कीर्तयितुं भगवदपवा-
धानामावृत्य दूरविद्योक्तमेव सर्वमानसं महिःप्राकट्येन महत्तममपि प्राकट्यात्
हेतुपदा च निरोधः फलपुण्यप्राप्त्यर्थः । तेनेदमपि फलोपपत्त्यकस्य निरोधस्य
लक्षणम् ॥ ७ ॥

अतः सर्वं कीर्तयितुं ततो विवेकं वक्तुं तथा तथाहुः सर्वेत्यादि ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

दृष्ट्वा स्वगुणान् भुज्या पूर्णः प्रापयते जनान् ॥ ८ ॥

उत्तरीत्या सर्वस्य महत्तमसुखस्य महिः प्राकट्ये कदा वा सदानन्दः, तेन
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दो न आनन्दः नः गुणं दुर्लभः । कुत इत्याकाङ्क्षायां हस्य
भगवदन्तेतुकथं स्फुटीकृतं दृष्ट्वा दृष्ट्वा । हृदि स्थितो भगवान् कीर्तयितुं स्वगु-
णान् भुज्या पूर्णः पदेषु निविष्टः, कृपापदस्य पूर्णकृतान् कृपाया वा पूर्णः सन् जनान्
सर्वान् साधयते, अन्यर्थात् स्वगुणान् कर्तुं । अत्र भुज्येति पदाहुवानां कीर्त-
मान्यमाश्रितम् । तथा च तेषु गुणेषु जनिता यो भगवदन्तः तेन तद्वति, नाम्ना
द्वयेन दुर्लभ इत्यर्थः । अत इह कदाचकम् निरोधस्य लक्षणम् । एवं च भक्तिद्वयः
सम्पन्नः सर्वज्ञेति । तेन पूर्णेषु स्वात्मकैषु साधनानां नैव 'उन्मत्त उभयविशेषा-
दिनि' न्यायेन यत्र भगवत्पदं हेतुत्वेनापेक्षितं भवेत्तदा तेन गुणवानां
महतिः, यत्र च या न तेषां भावनायां एव प्रवृत्तिरिति गुणविरक्त्यापि यदस्या
पेक्षा । एतेन कृपाप्राप्त्यर्थस्य उक्तः ॥ ८ ॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणानुवृत्त्या तत्र स्थापनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि ।
तस्मात् सर्वे परिश्रजस्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपर्यैर्मेवाः सन्निदानन्दता खतः ॥ ९ ॥

पञ्चाङ्गापनोक्षयानि भवयान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति तस्मात् सर्वे परि-
श्रजस्य भक्तिगार्गीरिता मेव्यः सर्वे एकादिकं सवाक्यं सत्त्वा निरुद्धैः प्रत्यक्सिद्धिर्लक्षण-
पञ्चदासक्तिगुणैः सदानन्दपर्यैः हृदयस्य लीलादुपलब्धताः सर्वदा शरीरस्य काहा-
पिच्छेदेन वा गुणाः योगाः नावनिर्णीतार्थः । तस्मान्नातरफलमाहुः सन्निदानन्दता
खत इति । सत्तो यदुपलब्धः गुणगानातिरिक्ततापने विधेयः सन्निदानन्दता अक्षयप्रकाश
भवति । ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः । एतेन गुणमाहुः स्थापनापनोक्ष-
यकारणोक्तः । एवं च सिद्धान्तमुक्तावस्था 'तत्र संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मचोपन'मित्यनेन
पदयान्तरफलमुक्तं तदीयानामेव भवतीति चेदित्यम् ॥ ९ ॥

एवं स्थानिषु गुण्याधिकारिणां परितोषस्य निश्चिः तत्पररूपमुच्यते तत्र
स्वाधुमवधिभिमितिरूपं प्रत्यक्षपन्नसद्वर्णनमवयवनाहुः अद्वित्यादि ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपद्वी गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधे वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

अहं निरुद्धः शौकरीत्या भवयदमाकः रोधेन संसारलेशादित्यादिनिप्रप-
प्रदेन निरोधपद्वी गतः निरोधवान् यातः एव निरुद्धानां रोधाय संसारलेशा-
दित्यादयं ते शौकनिरोधे वर्णयामि । तुः प्रत्यक्षगानादुपलब्धताः । त इति पाठे तु
चतुर्थी । तथा च यः कथं भक्तिगुणित्यादिकं पूर्वं एषान् तस्मै गुणं तदर्थमपि
वर्णयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मध्यमादयं निरोधवर्णने प्रतिश्रवणोपसद्वर्णनं तदुपयोगिनिरोधपररूपमाहुः
हरिणेत्यादि ।

हरिणा ते विनिर्मुक्तास्ते मया भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एषाश्च मोदमाप्तास्तद्वर्णयामि ॥ ११ ॥

विनिर्मुक्ताः निरोधेन लक्षणाः लीयतेन नातीकृता इति भावः । अभेद-
गुणगाने भावनायां च । तथा च संसारलेशस्य भववदनातीकृतलक्षणलक्षणादिकृता वा गुण-
गाने भावनायां नाहर्निमे मोदयामिः । ना निरुद्धानां लक्षणापरलक्षणमित्यर्थः सिध्यति ॥ ११ ॥

एवं लक्षणे निरुद्धः भावस्येध्या गुणवद्वृत्ति निरोधमाहुः गुणेतिवत्यादि ।

गुणेत्यादिप्रतिश्रवणं भवसागरे गुरुरेति ।
संसारविरहार्थं च स्थानां हरिणानुवृत्तम्

सुरवैरिणः बहदोपनिवर्तकस्य भुवेषु शोषर्षनोदरपादिषु सर्वदासकथितानां
संसारस्य विरहशेषस्य न स्वातां किन्तु हरिचत् सुखम् । तथा च मानकाया दुःखा-
द्यस्य सुखाद्यद्वया भगवत्कृतसंसारपापद्वया च विरहकृतं तु खमेव बहुलम्, तत् एव च
शीघ्रं तपः । वाद्या तु संसारलेशभावात् लौकिकं दुःखम्, विरहकृतविपत्तिनिहा,
बहिरनुभवे च सुखमात्मम् । अतो नमस्त इव सुखमिलय- ॥ १२ ॥

एव भावविद्वानोविशेषमुक्त्या तस्य कृपादेतुकल्य निवमयन्ति, मध्यमाधिकारे हेतु
तद्वत्तया च वदन्ति तदेत्यादि ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यभाङ्कुरता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

यदा पूर्वोक्ता रीति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम् ।
अथ मध्यमस्य व्यपक्षोप्यते अन्यथेत्यादि । अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्ता तदा
अचकुरता भगवत्, अपातकता तस्मिन् भगिमागंशुमभावेतुनेति यावत् । सा मता
संसारलेशभावात्तुनाविष्टचित्तराभावात्तु सुक्ति-बाधमुचिन्तया । तथा च तेन मध्यमाधि-
कार इत्यर्थः । एतद्वत्तया तदा बाधेत्यादि । अत्र अकुरताया वा तद्वत्ता भगवत्तुयका-
द्यानृत्या निरौपम्यनिश्चया, अपिचम्यत्वात् भावनाभावेत्येवमन्तो लप्यन् नास्ति, तदध्यास्य
आसक्तिप्रमत्तापको भगवद्दयालुत्वमपि सिध्यति । तेनेप सर्वं मयात्मकत्वावती मध्यमा
धिकारिभ्यस्त्वैत्यर्थः । एतदेव वक्तव्यं तद्वत्तयस्य तावन्निरौपम्यं तद्वत्तयस्य । एतान्ता
मक्तिरधिण्या 'वीरमने एते तु स्मात् सायाचकृपकीर्तना'दित्यनेन वक्तव्यनिश्चयमात्म-
मुक्त तस्य फलमुपपादित इत्यम् ॥ १३ ॥

अथादधीनभावेन वृत्तादिनिर्धेतव्यत्वस्य समानं वेदसत्त्वात् तस्य मयत्वा निनि-
र्बन्त तत्कृतश्रेयासा आर्षिर्द्विहीत्याय पूर्वमुद्वेगनिवर्तक सर्वसमुपनिवर्तकत्वं शासनमाहु
संसारलेशोद्वेगादि ।

संसारलेशदुष्टानामिन्द्रियाणां शिनाय वै ।

कृष्णस्य सर्वपरतुनि भूय ईशस्य योजयेत् ॥ १४ ॥

भगवद्दर्शनमात्रमप्योद्विगमो विपत्ति स्थिरः ।

मुणैर्हरिमुग्रस्यशोष दूःखं भानि कर्त्तव्यम् ॥ १५ ॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षं मुक्तवर्णने ।

आमन्त्र्यहररन्मुखीकृत्य कर्षणीयाः सदा मुखाः ॥ १६ ॥

तारयेन हि कथमनेनदुष्टानामिन्द्रियाणि निग्रहयानि । तानि च निरुद्धमात्राणि शोभ

अवयवं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णमित्रे रतिः । पापोर्मलांशस्यागेन
 योषभार्यं तनी नयेत् ॥१८॥ यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
 तथा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

योऽलक्ष्योक्तः व्यवसायः यतते, तेन श्रेयैवयतो मुक्तिः स्वयं लेप्यमाना सदागीर्तनं
 निरन्तरं वा श्रेयसा, भगवद्विग्रहत्वेन प्याज्या । हि यतो हेतोः । तत्र मूर्ती संकल्पा-
 दविग्रहाविचारार्थमेव स्पष्टमेव यद्युपलब्धम् नार्थं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्संकीर्तनं
 च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम् । एतावतादेव तत्र सतिपत्ते तन्मे अन्तर्वादिमाद्यो-
 क्त्यायेन, सुनोपरीहारे नार्थास्पानाधिकार्ये 'तत्त्वन्भादेवगन्धवापी'ति सुपेदीह्यो,
 निवर्त्ये च 'तद्वत् तत्र च स्थित'मित्येकद्विपत्ते भगवदादेवे, बहुवचनोक्तकल्यायेन
 च भगवत्साक्षात्प पद्विर्भावत् स्फुटमित्यर्थः । एतदेव दृष्टादायोः कार्येऽतिरिक्तमि-
 तथा कृतिमती सदेति । उक्त्यायेन यथा पूर्वात्क इव भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्,
 तथा कृतिमती दृष्टपादयोः कार्ये भगवत्तेनार्था तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी
 स्पष्टे । पूर्वात्क स्पष्टपदमय विभक्तिद्विपत्तिपत्त्यायेन सम्बन्धे सन्देहात् । शेषादा-
 कार्येयोक्ताद्यालमातुः अवयवं कीर्तनं स्पष्टमिति । एतयोः प्रकाशन्तीनामि भगव-
 त्सम्बन्धित्वम् नर्गमन्तत्वं योषयितुं स्पष्टास्य युवयक्ति । उपर्ये भगवदुपरीतिस्मा-
 स्फुटत्वात् तत्र भगवत्सम्बन्धित्वस्य प्रकाशनात् पुत्रे कृष्णमित्रे रतिरिति । 'कामः
 रात्रस्तकः स्फुटः,' 'मद्वत्त्वमयान् यथा'मित्यारिपार्थैः सत्त्वस्त पुत्रे कामे कृष्णस-
 मित्रे रति रतिस्वस्तनर्ग्य भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः । योषास्तनापनीये 'यं मां स्तुत्या
 निष्कामः तन्नामो भवती'ति बान्धवी इति भगवत्सात्वम् आरणाद्रमवच्छानात् कथा-
 सद्भ्येन भगवद्विपत्तककर्मोत्पत्ती सापि भवतीत्यर्थः । भगवद्विपत्तककामाभावे तु गयो-
 पसहितं भवति तथा प्रकाशस्तमे बान्धवः । पापोर्मिनिरोधमातुः पापोरित्यादि । पापोः
 कार्यं हि विज्ञातं, न पापं मलांश्यावकाशः, तेन कार्ये तन्मनकलेन्द्रियम् ननी
 योषभार्यं नयेत् । भगवति विनिरोधनमात्रे साक्षरी तन्मोषनद्वारा युवभाय प्राप्तयेत् ।
 अनापमर्थः । येतुमिति 'अद्यन्धका'मित्यत्र सुनोकिनीत्यादिनिन्दयत्तयोपिकासु कारिभ्यासु
 यत्रोन्मोहनरूपं पादुकार्यकुतन्, तथा 'एषां तु भाग्यवदिमे'ति प्रविष्टाभायपद्योर्न-
 निवर्त्ये 'योषाभार्येदी दृष्टमनर्ग्य' विन्दुतम् । यत्र तृतीयस्तन्मे 'सुयन्मोहदृष्टादु च'
 दृष्टानन्दाधुमोपनक्षत्रं कर्तव्यमुक्तं, तत् यन्मादिहो न सम्भवति, द्विपत्तये
 'तद्वन्ममां हृदय'मित्यत्र तथा निर्णयान् । अनोर 'अद्यमस्मिन् येषां माली'त्यादि-
 कन्दोवधुशुभोद्वयतोः स्फुटत्वात् युवप्रीत्यायेन यथा 'कथं नितं यतः तेषु कर्मो
 नयत्तेन च । कार्येनिद्विपत्तये चिन्मातुं कर्मज्ञो यत्त' इति वैयक्तेको मलांशः,
 न हि पातुनिपेन्द्रियेण तद्वेदद्विपत्तया निर्गच्छति । तावती तद्वेन्द्रियस्य विनिरोध
 इति योषत्वेन वेपता । किम्, पुनं 'मलांशेवदुष्टाना'मित्येन्द्रियविनिरोधेन यथे धामलरी-

[illegible]

नातः पहनरो मणो नाव परतर स्तर

नामः परमेश मन्त्रो नाम परमेश स्तोत्रम् ॥ १० ॥
नामः परमेश मन्त्रो नाम परमेश स्तोत्रम् ॥ १० ॥

[illegible][illegible]

सहायक नगरपालिका पुष्पोत्तम नगर निगम

नियम की समीक्षा के अन्तर्गत आगामी सत्र में इस विधेयक का प्रारम्भ किया जायेगा।

श्रीहृत्पात्रे नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीवजराजकृतविवरणसमेतम् ।

अत्रश्रीहृदयनिष्ठि रोमास्त्रिमुखास्ते । तद्वदुल्लिख्यहृन्ने कीदृशहृन्मो विराजते ॥ १ ॥
गोपीशरतिप्राणीष्यमातीष्याचार्यसंस्तुतः । ययि श्रीमोपिकापीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥ २ ॥
आचार्यपरणाम्भोरुदयस्य तत्तिरुपितः । स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः कियदे स्फुटः ॥ ३ ॥
श्रीविद्वत्पदादायकृपारसमुपदिष्टि । निरोधकृतपद्वधो मे सिद्धिः कलितोभवत् ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यभरणः स्वीयेषु कृपया निरोधकलदित्तया निरोधस्तकृतं विदुष्वन्ति ।
तस्य चलात्मकादुदयनस्तत्परास्तस्य च ययनं प्राकट्यबोधयन्त इति यथा नाकज्यपूर्वकं
सिद्धो भवेत्तथा निरुपयन्ति । यथेति पूर्व येन प्रकारेण यथे निरोधार्थं प्रभुरानिर्भूतः
स ययि नासीति तदभाययद्दैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा आर्थनीये यथा स भावो भवतीत्याहुः
यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यद्योदाया नन्दादीनां च मोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्वात्मम कथित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यद्योदाया नन्दादीनां गोपिकानां मोकुले भगवदाविर्भावार्त्तमयत्
तद्दुःखं मम यदित्यस्यदिति सम्बन्धः । भगवदाविर्भावोदायायते यत्सर्वेषां तत्प्राप्त्यर्थं तत्प्राप्तं
दुःखमयमेव भगवदाविर्भावोदायति । अन्वया भगवत्प्राप्तिः साधनः दुःखानां चैव प्रकटो
भवेत् । प्रकारप्रत्येयं तत्सम्बन्धिमयमिति तादृशदुःखमयदिति भावो ज्ञायते । भगवदा
संसर्गलोपि दोषः स्यात् । कश्चिदिति स्वस्य देवाविर्भावार्थमवोदयज्ञापनाय । मोकुल
इति पदात्तत्वेन तत्प्राप्त्या निर्दोषत्वं ज्ञायतम् । तत्प्राप्त्यर्थमिति ज्ञेयं न चातुर्पकापत्त्या-
दिना दुःखमयत्, किन्तु साहचर्यमेव ॥ १ ॥

यद्दुःखानन्तरमायि भगवदाविर्भावार्त्तं सुखं तत्प्राप्त्यानिर्भवेदिति आर्थनीयं
इत्येतेनेत्यस्यैवाहुः मोकुल इति ।

मोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां प्रजयासिनाम् ।

यत्सुखं स्वमयत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां मोकुले इतिमोकुले, तु मुक्त सर्वेषां प्रजयासिनां भगवदाविर्भावे जाते

ननु श्रीमदुद्धवागवतनाम्नोत्तरस्य निप्रयोगरक्त्यां दुःखममृतवरूपत्वात् सुखस्य बहुलरूपया ज्ञातेति तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्क्यादुर्महतामिति ।

मात्राणां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु शिग्धभोजनरक्षयत् ॥ ५ ॥

महता कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति चेत् । अत्र भावः । सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं वेदामेष कृपया सुखदम्, प्राणरापाया जीवनार्थं भवतीति भावः । यद्वत् इत्यमित्यर्थः । ननु निप्रयोगे गुणानां जीवनन नानुपार्थिद्वित्याशङ्क्यालौकिकत्वात्तथा भवति । लौकिकानां न तत्फलमिताहु न मयेति । तु पुन लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः । इदं निर्दशनमाहु शिग्धभोजनरक्षयश्चेति । शिग्धभोजनरक्षं रक्षयत्, रक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु शूलस्य दुःखनिवारकत्वं भूयते, न सुखयान्तेत्याशङ्क्याहु गुणगानं इति ।

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैषात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखापत्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव नापत्तेः, अन्यतः कुत सादित्यर्थः । शुकास्य चेदुत्पत्तेरेव सुखं स्याच्छदा साहचर्यं समभेदा वार्यः कथमेव तु साविन्य एव वान् कुर्वन्तीति वदेत् । यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य कायतोऽपि यथा सुखापत्तिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः । अन्वया मगपानिष तेति तद्वा छद्वा कृता महेषु । भवतस्तथात्वं 'मगिषर' इति श्लोकार्थेऽपि निरूप्यते । यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने वा सुखापत्तिः बुद्धिस्थाना भवति, सा शुकादीनां भगवदुत्पत्त्यानन्दसुखात्मनि नैवत्यर्थः । अन्यर्थः । गोविन्दपदेन मनवपूजामिन्द्रियस्य ये शुकास्यदुत्पत्त्यानेतिवासा तथा भवति । शुकादीनां सर्ववस्तारचरित्रमिह गुणगानात्तथात्वं न भवतीति यावत् । अत एव निरौधरक्षितरूपनयसत्त्वे प्रथमाध्याये सुतोऽसी तदन्तं स्मिती भगवानेवोचर प्रवच्छति 'समस्तानाम् निष्पुत्राणां मिलन्निनये निरुजितम् ॥ ६ ॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरौधरक्षके इत्या कुपोदित्वासाद्य तत्त्वज्ञानमाहुं छिद्यमानानिति ।

छिद्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वसदात्मन्दं हृदिस्थं निर्मलं वदति ॥ ७ ॥

जनान् क्षिप्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदात्मन्दं वदति निर्मलं कुतोऽिति सम्बन्धः । अत्र भावः । गुणगानस्य निप्रयोगात्ते योनिरूपयामृतानां चाशङ्क्यं भगवदिन्द्रियसत्त्वाद्वा वाससत्त्वे गुणगाने कृते वदति जनान् लौकिकदेहदुष्कारं, यतोऽलौकिकदेहे वासस्तत्त्वानन्दरूप एव भवति, वान् क्षिप्यमानान् दृष्ट्वा, वदेति तदा

दुर्लभत्वात् कृपासुखो न्येच्छा हरिसं साहसिं सर्वसदानन्दगादिदिकञ्चिरुप-
पत्तिर्निर्गतं सुखीदित्यर्थः । शुभमानवर्तुर्वात्सल्यस्वरूपं हृदिदिसं वदित् कर्तुं सुखीदिति
त ॥ ७ ॥

ननु भगवतोः सर्वमेवावन्दस्वरूपमिति शुभा अप्यावन्दस्वरूपः, तेन शुभमानस्याप्यावन्द-
स्वरूपत्वात्कृपा भावात्सल्यकानन्दस्य वदित्प्रकटकतयस्वरूपं को विधेव इत्याशङ्क्यः
सर्वानन्दमपस्थापीति ।

सर्वानन्दमपस्थापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः सशुभान् सुत्वा पूर्णः प्रापयते जनान् ॥ ८ ॥

सर्वानन्दमपस्थापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः । सर्वानन्दमपस्थानेन भगवतो शुभा-
द्वेति भगवद्वा जीयेतु सारूपमतिवादकपूर्वकसदाकार इति प्रापयते । सावधान्तापि
मपद्रमयोगः । वषट् प्राप्ते । तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः । अत एव
शुभमानेन रमणं पतञ्जल्यन्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम् । अपिगन्धेन वदित्प्रकट-
शक्त्यामककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञान्यते । त च सुखरिक्तमतावाप्तान्तरफलपरमकृत-
स्वरूप इति भावः । तासां च शुभमानान्तरे परमकृतमात्रसाधेय सर्वं कृतोपाधिकारिमा-
न्यत्वात् । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुगृहीतव्यत्वं ज्ञान्यते । ननुनुगृहीतग्राह्यत्वे
नित्याद्यः । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुगृहीतव्यत्वं ज्ञान्यते । ननुनुगृहीतग्राह्यत्वे
शुभात्मनि तथात्वं सादिसावकाः हृद्गत इति । हृद्गतः सशुभान् सुत्वा पूर्णं कृत्वा
जनान् प्रापयते ज्ञान् कृते । तासांमिति ज्ञेयः । कृपयेव पूर्णकृदशान्मायोक्त्यापेन
वेदुष्या हृद्गतो भवति, तदुक्तयेव वदयेनेव सर्वं तत्तत्सुखो भवति, एतेन पूर्णम् ।
अत एव हृद्विशिष्टाध्यायेऽस्मद्व्यवधानमाये 'हृद्विशिष्टेऽन्तर्गोपिताना'नित्यारम्भ 'तेनैव पूर्णानन्द-
हृदीयै' इत्यन्ते पूर्णत्वं निरूपितं पूर्णद्वयान्वयकम् । यदा, सशुभान् तद्वयेन तपका
नृत्वा विप्रयोगदत्तेनापूर्वत्वात्सरूपस्य द्वितीयं दत्तं प्रकटीकृत्य पूर्णः सत् रीः प्रापयत इति
भावः । सशुभोद्भूतानां सासा केन दुःखदरीकार्यं सुखमेवेति भावः । भगवद्भुषाणां
रसात्मकानां सारूप्यगोप्योपकृत्य तु 'पूर्वोऽुक्तिव्य' इत्यादिषु सुखमेव निरूपितम् । तेन
शुभमानस्य तत्साधकत्वमिति भावः । शुभानां च भगवद्भुषाणां तदुद्भूतत्वोद्भूतत्वमप्यत्र
न कर्तव्यम् ॥ ८ ॥

यस्माद्भुषाणां तत्साधकत्वं तस्माद्भुषाणां सारूप्यज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मा-
दिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा शुभाः ।

सदानन्दपरिर्भवाः सन्निदावन्दता सन्तः ॥ ९ ॥

एते शुभास्तत्साधकतयात्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तत्साधकैर्शुभा-
नेवा इत्यर्थः । सदानन्दत्वेन वक्षिमा इति भावः । सर्वं भावः । 'सन्त्यज्य सर्वविषया'मिति

तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धः सहेति शेषः । 'सकृच्छीन्मोन्मयस्यैव'तिष्ठितः सद् गुणा मेवा इति भावः । गुणान्वयिनिष्ठि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कुन्नेन परिश्रया इति भावः । अदम्यः । गुणवान्गुणाः प्रभुस्य त्रया देन ज्ञानं श्रुत्वा सर्वं तद्वशो मृता स्वरूपमदानं करोति । ननु गुणेषु सदानन्दतामानन्देन्यज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं सादित्याश्रयाद् सन्निधानन्देति । सन्निधाने तु सन्निधानन्दता सिद्धेत्यर्थः । यत्रस्येव सत्तःसन्निधानन्दता, अत्यस्ता ज्ञाना मेवा इति भावः ॥ ९ ॥

ननु निरुद्धानां गुणवानां युक्तमिति सिद्धं, कदासापत्तयानां साधनदशायां कथं गुणवानां सादित्याश्रय साधुमत्तत्वन्यकपूर्वसौख्यनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवीं गत इत्यर्थः । अर्थाय भावः । भगवता देवु जीवेतु कुर्या निरोधो विचार्यते, यं च निरुद्धमकर्मिनि सिद्धो भवति, नाम्येति निरुद्धाज्ञापयति भुवि मातृत्वार्थं, लक्षणेन यतो यस्मिन्नायः सः रोधपदवान्भो भवति । श्रीमदाचार्योक्तमपि देवजीवमस्तिनिरोधार्थं प्राकट्याद्यन्वाश्रयस्वरूपाचरकहमन्नितापस्य रोधस्यमिति भावः । एवं च सत्पुण्यसिद्धा मेवं रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवीं गुरु मकरकर्मैव गत इति भावः । निरोधकतस्त विप्रयोगज्ञानान्तरमात्रविज्ञानाचार्योनां च लीलावध्यासिस्वरूपस्य निरोधोमात्रमन्वाश्रयता जीवेतु कुर्या सर्वार्थं तथा मकरकर्ममाश्रयं, श्रीमदाचार्येति सर्वार्थं साधुमत् एव श्रद्दयेते । यथा अहं रोधेन कुर्यायाम् । तथा लीलाः निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां तिष्ठति । लीला इति शेषः । यद्य, निरोधेनैकस्वरूपेणैव निरोधयोग्यता पयसी-स्तावदेनाहुः निरुद्धानामिति । निरुद्धानां सन्निवेदितायां रोधाय भगवत्पुण्यलीला-सकृदभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः । ते सर्वेत्यर्थः । इ इति कथयतेनैवमोदुर्दमस्यं शक्तिम् ॥ १० ॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा च इति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तस्ते मया अपस्तान्ते ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्महर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तस्ते मनसाग्रे मया भवन्तीत्यर्थः । अर्थाय भावः । भगवते सर्वदुःखार्थं तत्साधनमविचार्य दुःखहरणीयेन ये निरोधेन निर्मुक्ताः मायात्मकस्वरूपो-दोपरदिताः कृताः, येन च सान्ते संसारसागरे यथा दुःखमेव साधुमन्तीत्यर्थः । ये तु अत्र अस्मिन्नेव जन्मनि मायात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमायान्ति, सन्तोषं यस्तु-यन्तीत्यर्थः । अहर्निशन्देन मायात्मकस्या बोधजीवद्वेषणव मोदं साधुमन्तीति व्यज्यते । अहनि भगवतिस्त्वयिनीयम्, एवौ यौगवत् ॥ ११ ॥

ननु तासां केनां च विप्रयोगेभ्यो गुणमानदशावयवः (४) तस्य कस्य गौरवपतेसा-
दशादुः शुणोऽप्यिति ।

शुणोऽप्याविष्टचित्तानां सर्वदा मुरधैरिणः ।

संसारविरहकेशी न स्वातां हरिवरसुखम् ॥ १२ ॥

मुरधैरिणः शुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहकेशी न स्वातामिति उपमन्वः ।
अयम् भावः । मुरस्य जलदोषत्वकल्पत्वात्सारविरहस्य वैरिणोक्त्या रससागरदोषविचारकत्वं
भव्यते । तस्य शुणोऽप्यानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्पत्त्यापनिवारकजीवनदेतुमोऽप्याविष्ट-
चित्तानां ते न स्वातामिति भावः । चित्ते आविष्टोक्त्यान्वायेनाभावी बोध्यते । अत एव
सर्वदेसुखम् । भगवतोऽवश्यंवाप्युक्तमपि तत्परत्वात् । मनोके जीवोत्पत्त्याविरक्तस्य
पर्यवर्तितापरिणतां 'व्याकुलोति इती' चित्ते भगवदी भवेत्तरे' स्यादित्या । एवं शुणानिष्टि-
तनां भगवति संसारसाधनावमतात्मकस्य विरहभाव इति यावत्, विप्रयोगना केनच
तदुक्तमपि न स्वाताम् । अयमर्थः । भगवत्सहानामप्राप्तहितविरहयोग एव भवेत्, शुणो
भवेदिति हेतुः । तस्य निवर्तनमाहुः हरिवात् । हरिचो न स्वातां, सुखं भवेत् । अयम्
भावः । भगवतो जीवोत्पत्त्यावमताभावे गतापि यया न भवति सखीवलायेनां तद्वि-
मयीवकैरेति तथा । 'भगवतीनां विमो मो न हि सर्वात्मने'ति भगवतीनोक्तसदभावः ।
निवेदमानन्तरं भगवत्सारविराजकतिव सिध्यति । एवं वति भगवानिव तो न स्वातां, सुखं
च सारवेति भावः ॥ १३ ॥

भगवत एव कस्ये दशादुः देतुलेनहुः तदेति ।

तदा भवेदद्याकुप्यमन्यथा कृता मता ।

वाचशङ्कापि नास्त्यत्र तदप्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण शुणो साकदा भगवति दशादुः भवेत् । भगवता एव कस्येतिमात्र-
विप्रयोगेन कृता मता कम्पज, इष्टित्वमिति हेतुः । भगवता एव कस्येतिमात्र-
विप्रयोगेन कृता मता कम्पज, इष्टित्वमिति हेतुः । वाचशङ्कापीति ।
अत्र भगवन्मागे कथयद्भूमि नस्ति । अनिशब्देन तत्पर्यवर्तिनः कृतः शुणपीथ इति
वाचो भव्यते । भगवदप्यत्रास्य उल्लासिताप्याप्यामावाच वाचशङ्कसादुः तदिति ।
तस्य भगवतोऽप्यासोऽपि सिध्यतीति भावः । अनिशब्देन भगवतोऽप्यासो रसरीत्या
सिध्यतीति बोध्यते ॥ १४ ॥

ननु भगवतो दशादुः शुणोत्पदकस्य भवतु, परमस्य लीलितत्वात्कथनो-
लीलितत्वात्कथनेतस्य लीलितमिदस्य निवेपतिविदित्वासादुः संसारिति ।

संसारविरहादुःखानामितिवाचां हितव्यं वै ।

कृप्यस्य सर्ववस्तुभिः भूय ईशस्य चोन्नयेत् ॥ १५ ॥

संसारपेक्षेन दुष्टानाभिनिद्रिषाणां हिताय वै निश्चयेन ज्ञानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः ।
 यथायमर्थः । संसारपेक्षेन भगवद्विनिर्भोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदपेक्षो दुष्ट इति
 तदन्तापार्थविनिद्रिषाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, ज्ञानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तत्पार्थ
 भवेत् । नन्वेतस्यामम्बाः पूर्वं लौकिकी दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूप-
 ज्ञाने स्वरूपमेवेति वस्तुस्वरूपमाहुः । यतो वस्तुनि सर्वमपि भूतः कृष्णस्य । नतो समर्थेति
 लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः । 'कीदार्थमात्मन इदं विजगत्सृजते' 'कीदामात्ममिदं
 विभ'मित्यादियु तथैव निरूपितम् । किञ्च, स भूता समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकम्-
 लौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्थोदोहद्वेनेनापि
 भगवत्कवचपला स्त्रित्वा तद्व्याप्त्युत्तरेण तस्य रसस्वरूपार्थं स्वयं कश्चित्पतीतिमानः । यद्वा,
 संसारपेक्षदुष्टानाभिनिद्रिषाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तुनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य
 हिताय रसभोगार्थं योजयेत् । भूत इति विज्ञेयमेव स्वस्वानि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते ।
 कीदृश्यां हिताय ईशाय आभिदैकिक्येत्सर्वः ॥ १४ ॥

ननु संसारविद्युच्चिदुष्टानां कथं तत्र विश्रमेण भगवत्सत्पुत्रामर्त्युक्तं समर्थनं स्यादित्या-
 शङ्क्याहुः भगवद्वर्त्मसामर्थ्यादिति ।

भगवद्वर्त्मसामर्थ्यादिरामो विषये स्थिरः ।

शुणैर्हरिसुखस्वर्थाय दुःखं याति कर्हिचिद् ॥ १५ ॥

भगवद्वर्त्मसामर्थ्यादित्ये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः । भगवद्वर्त्मनामेताच्छ्रमेव
 सामर्थ्यं येन तद्वर्त्मपेक्षमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं शुणैः भगवदी-
 प्यैर्विशिष्टलौकिकस्वरूपेण हरिसुखे हरेः सुखस्य स्वर्गं ज्ञप्तेति । कर्हिचिद्व्यापदिश्या
 परीक्षावर्णकृतवपि दुःखं न यातीत्यर्थः । यद्वा, भगवद्वर्त्मसामर्थ्यादित्ये भगवदीये विशिष्टो
 रागः स्थिरः स्यात् । किञ्च, शुणैः हरिसुखस्वर्गं याति । अर्थं नाक । शुणवापिनलौकिकत्वे
 रागत्वे हरेरपि सुखरूपा स्वर्गो यस्य तात्पर्यार्थं ज्ञप्तेतीत्यर्थः । किञ्च, इदमत्रो दुःखं
 विषयोच्छेदानन्दानुभवात्मकं कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः ॥ १५ ॥

एवं निष्पत्त्युद्दं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्तत्तत्त्वप्रकारमाहुः एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमागौदुस्त्वर्मे शुणवर्णने ।

जगत्सदरेरलुब्धेभ्यः वर्णनीयाः सदा शुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमागौदुस्त्वर्मे निरूपितत्वं शुणवर्णने ज्ञात्वा भवत्सुखित्यदि-
 दोषरहितिज्ञानादियु कष्टन्यैः स्वरा रसभोगेभ्यः यथा भवदित्यर्थं शुणाः सदा वर्णनीया इति
 भावः । कर्हिदि पदेन क्षणमप्यन्वया न केवमिति ज्ञातितम् । यद्वा, शुणवर्णने च उत्कर्षस्य
 ज्ञानवार्तात्वं भगवद्वर्त्मनिद्रिषात्म्यवदुपदिष्टोपलब्धत्वाद् (१) ज्ञात्वा सदा भवत्सुखे-

नामरूपादिदोषाद्विरेकलुप्यैर्मनषतः स्थासृत्तमद्वयसमये मानादिदोषाद्विरेकलुप्या वर्षेदीपाज-
ज्ञाभाष्यस्य, मन्त्रविराहिनीपञ्चमसमानशीलेतिविति शेषः ॥ १८ ॥

एवं गुणवर्षनस्यावश्यकत्वं क्षोपपन्निकमुपपाद्य तदर्थेन श्लेष्मसहस्रात्मकं दूषणमुद्राम्ब
वर्धयति हरिमुर्धिति ।

हरिभूर्निः सदा ज्ञेया संकल्पादपि तत्र हि ॥ १५ ॥

हरिभूर्तिः सदा ज्येष्ठा सकलविदाय सदा ॥ १७ ॥
दर्शनं स्पर्शनं स्पर्शं सभाकृतिगती सदा ॥ १७ ॥

दृष्टान् स्पर्शान् स्पर्शं तथाकृतिगतां सदा ॥ १७ ॥
 सदा हरिगुणैर्ध्वेनेति सम्प्रत्ययः । अकारणवर्षद्वाराद्वर्षा दुःखहरणादिभ्यः गुणिभारक-
 सत्त्व ध्वेनेति भावः । इति तुल्यभाषणार्थः । स्वस्य तदर्थप्रयोजनार्थैव ध्वेया । ननु
 तद्व्ययभावेन कथं दुःखनिवृत्तिः सादृत्य आहुः दर्शानमिति । व्यानेन दर्शान् स्पर्शान्
 च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः । ननु दर्शान् स्पर्शान् च योग्यस्वभावैः कथं सादृशतया आहुः
 तथेति । व्यानेन तथा आहृत्यनिर्वाण्य भवेताम् । सदेति नित्यमित्यर्थः । न स भावः
 पुनरन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

पुनरप्यायेत् ॥ १७ ॥
 नन्वेतत्सर्वं फलदत्तायै सम्प्रति, न साधनदशायाविद्यादृष्ट्या साधकानां वसितव्य-
 र्थमुपायमाह। अत्रावगतिः ।

अथ जलनिधिः ।
अथर्षो जीर्णं स्पष्टं पुष्पं कृष्णप्रियं इति ।
येन जलभासो तनी भवेत् ।

अथर्षो जीर्णान् स्पष्टं पुनः कृत्वा विवर्तयन् ॥ १८ ॥
पादोर्मलान्वात्पानेन शेषभागं तस्मीं सजेत् ॥ १९ ॥

[illegible]

मलांचलावेन वया वाढुनयेत तरा वाढुनयेत
येणू ॥ १८ ॥
मनु संप्रियमाया कमलावेकान्ति, तन्मात्रार्थ लक्षण्या, स्थानाद्वयादि त्यागो-
द्विपित इत्यादिप्रमाणः पाह्येति ।
मलांचलावेन वया वाढुनयेत तरा वाढुनयेत न हृदयेने ।

यस्य वा भगवत्प्राप्य पदा स्पष्टं न दृश्यते ।
यस्यैव भगवत्प्राप्य पदा स्पष्टं न दृश्यते ॥

यस्य वा भगवत्कृपे यदा स्वप्नं न हृदयते ।
विनिवृत्तसंशयं कर्तव्यं इति निश्चयः ॥ १९ ॥

तदा विनिवृत्तस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
यस्य मयात्वायै स्पष्टं न भवति स न मयात्वेन किमु प्रकृत्यैव स, सान्तरं तदा
मात्रे ग्राह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु प्रसिद्धत्वेन । अत एव निष्कर्षोऽप्याज्येभ्यः
“हृत्वात्तेषां”मिति श्लोकविस्तरे सेवाश्रयपरित्यागा तथैव निरूपितम् । निरूपितो
यस्यायै मयात्वात् स्वार्थं राक्षसं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते । तदपि निरूपितो
यो ह्यस्य मयात्वात्वात् निश्चिः कर्तव्यः । अथवाच्यः । यथा मयात्वात्वात्वात्वात्
तुक्तिं विनाय सविचार्योपयोगिनिर्णयः तदा यस्य स्वात्मजगत्तत्त्वं साधनमवति निमित्तं
ह्यथा साधनं स्वात्मजगत्तत्त्वं तस्य त्यागो विधेयः । अविचार्यै न हन्तेद इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्वनिरोधपूर्वकमेतत्प्रकरणार्थमस्य सर्वाधिकतममुपलक्षण-
संदहरन्ति नात इति ।

नातः परतरो मन्यो नातिः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थे नातः परात्परम् ॥ २० ॥

अतः परतरो मन्यो नातिः, तेन मयादिषु विद्यासं विद्याप्राप्तयेव मन्यो जात्यः ।
एतदुक्तप्रकारेण स्तेयमित्यर्थः । अतः परतरोन्यः स्तवो न । तेनेतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः
सुख इत्यर्थः । अतः परतरा विद्याति न । या निर्वैद्येवार्थिशास्त्राद्ये स्तवस्तव्ये निरुजिता
स्तेयमेवेत्यर्थः । अतः परतरं तीर्थमपि न । तीर्थे प्रतिपन्नकक्षप्रतिपत्तकल्पमति, न त्वापि-
दैविकप्रतिपन्नप्रतिपत्तकल्पम्, अस्य त्वापिदैविकप्रतिपत्तकल्पमस्तीति नातः परतरं तत्प्रतिपत्त-
कल्पमिति शब्दः । तस्मात्प्रतिपन्नकक्षप्रतिपत्तकल्पमेतदेव स्तोत्रं स्तेयमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीयोगिकार्थशास्त्रमाचार्यसुपितः ।

निरोधो विद्वत्स्तेन सदा सुखम्भु मे मयि ॥ १ ॥

निरोधसंशयोदनेन प्रकारेण सदा सुखः ।

हेतुव्य इति हि श्रुत्या ननुमातो विदेक्षितः ॥ २ ॥

इति श्रीश्यामलारम्भजश्रीमजरारजविरचितं निरोधलक्षण-
विचरणं सम्पूर्णम् ॥

परिशिष्टम् ।

¹ 'निरोधसङ्घर्ष' टीका ग्रंथम धीवरिगमसुने कौन्तीपी पत्र २२'

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सेवाफलम्

सविस्तरम्

चतुर्धेराष्टीकाभिरुपलब्धम्

- | | |
|-----------------------------|-------------------------|
| १. श्रीलक्ष्मणायामनाम् | ८. श्रीलक्ष्मणायामनाम् |
| २. यथा श्रीगोविन्दायामनाम् | ९. श्रीकृष्णायामनाम् |
| ३. श्रीदेवश्रीकृष्णायामनाम् | १०. श्रीकृष्णायामनाम् |
| ४. श्रीकृष्णायामनाम् | ११. श्रीगोविन्दायामनाम् |
| ५. श्रीकृष्णायामनाम् | १२. श्रीकृष्णायामनाम् |
| ६. श्रीकृष्णायामनाम् | १३. श्रीकृष्णायामनाम् |
| ७. श्रीकृष्णायामनाम् | १४. श्रीकृष्णायामनाम् |

श्रीमद्-बलभामाचार्य-महाप्रभु-विरचित-सोपान-ग्रन्थाभ्युपेतम्-संक्षिप्तम्
श्रीकृष्णायामनाम्-महाप्रभु-विरचित-सोपान-ग्रन्थाभ्युपेतम्-संक्षिप्तम्

श्रीकृष्णायामनाम् : ५०३

પ્રકાશક :

ગોસ્વામિશ્રી ૧૦૦૮ શ્રીગોવિન્દરામશ્રી મહારાજ
ગોવિન્દવિજેત્રજી, ચાલિયા તાલુકો,
વીરજનંદર, ગુજરાત, ૩૬૦૦૫૭૫, ઓરણ.

સામારણર્થસ્કરણ ૨૦૦૦ પ્રતિ

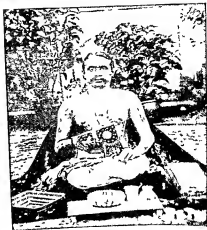
રાજર્થસ્કરણ ૧૦૦૦ પ્રતિ

શ્રીચલ્લસોત્ત : ૫૦૩

પ્રમુખપરિચયલેખક : ગોરખાસી રમણ મનોહર

મુદ્રક :

મદુરિયો મહાર, ૨૩-૬, લેન્ટુલ ખીલડી મિલિટર, ખોલડી, ગમ્માઈ, ૪૦૦ ૦૦૭.



गोस्वामिजी ₹००८ सीजीएसकारजी मदारुत्र



गोस्वामिजी १९०८ खीरमण्डोडलपजी काठमान्डू

ग्रन्थ-परिचय

यस्य श्रीर उक्तं निवरण श्री एतन् श्रीमद्वाचस्पत्ये आचार्ये विष्णुदास शिष्यके भिन्न केन्द्रभाषिके अनुसार प्रसक्त एतन्नाटकम् वि. सं. १५८२ यावत् ज्ञातं है। 'वाचस्पत्यः कल्पिता मो मिलता है।

आचार्यके पासके नामके एक छोटासे घरमें बसते. तो बड़े भने, बीत बर्षके, तब तो तो विद्या बरन छात्र देन विष्णुदास आचार्यके आई बने छात्र. तो ऐसे करत एक आचार्यजी आचार्ये कहाते. तो विष्णुदास सुन्दर सीटके पास के आचार्ये बने तब श्रीमद्वाचस्पत्ये विष्णुदासको कही—'यह छोटाके पास सीट बासी है तो दू ले. तो माने तो है.' तब कृष्णदासने विष्णुदासको कही—'यह सीटके पास आचार्ये हुकमी है. जाके पास है तो दू ले.' तो विष्णुदासने बीतनी बीस काही. तो कृष्णदासने सबरे कहीवा गिन दिने. श्रीर कही—'श्रीर आके पास होई तो ले जात !'

तब विष्णुदास बहुत होई बहे तो ए तो कई बहुतकर कर्त्तविक बीस है। तो बीस न किया, सबरे बाल लिये, ताके पास दिने। तो इनको छोड़ देती उचित गही है. इनको देता मेरे घर माने तो तो करती कर बेरकी होई जानिके। तब विष्णुदासने कही—'ये सबरे बने कहीवा लाल. मेरे सीटके पास छोड़ देत' तब कृष्णदासने कही—'तू करो बुरा बीसत है। ये बीस काही तो पास दिने तब यह मान कबहु दिने काही. मेरे बीस होई तो श्रीर ह बर्षता ले. बीतने तो मान लिये !'

तब विष्णुदासने कही—'तूय बहुतकर ही ताते सिहारी दण्ड घरने आये सारी कर बेरानी होई तो जाके बी सुनको काही बेरता. तो मान न देत तो यह कहीवा ह रासी. श्रीर मान ह रासी. परतु कहेत सिहारी मोरी बने काही' तब कृष्णदासने कही—'यह बाँककी श्रीमद्वाचस्पत्ये बीसको तसकृत करिके कही—'लेत.' तो तू कोटीन प्रदान करे तो यह मान दिने काही श्रीर श्रीमद्वाचस्पत्ये विद्या लेनक श्रीरको कहु लेत काही... तब विष्णुदासने कही—'श्रीमद्वाचस्पत्ये कहु है ?'

अनियतमें बीस ही तो कहु है कि परमात्मा न ही प्रबन्धने मिलता है, न देवाने श्रीर न बहुतकरके ही। परमात्मा कही है ? किसे मिलता है ? उत्तरः परमात्मा बिले श्रीर रहा ही कही परमात्माको श्रीर मान है। परमात्मा मिलने मिलता काहुता है कही परमात्माने मिल पाता है—'अनेक वृत्ति लेन लम्ब.' (अ. १-२-२३).

माछाचर्मकी तीन-तीन परिच्छयाओंमें श्रीमहाप्रभु दण्डी विष्णुदासोंको ली सोन रहे वे सभी को विष्णुदास भी पूछ गये— “श्रीमाचार्यकी कहा है ?”

निरोक्षलक्षण छन्दमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस कृतजम्पर प्रकट होना करवनिरोध है प्रपञ्चको भूल कर कलत्रका मन्त्रबान्धने भासता हो जाना स्वाभार-निरोध है इस प्रपञ्चविष्णुविपुलक भववदासविने स्वाभारद्वारा भक्तके देह-इन्द्रिय-मन्य करण-प्राप्त जलमा लगीये सर्व-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या श्रीमा का निरोध अनुभव होना (मानसी सेवा) कलनिरोध है तदनुसार विष्णुदासकी छींटाव श्रीमहाप्रभुका दीक्षना करव-निरोध या विष्णुदासका— “श्रीमाचार्यकी कहा है ?” पूछना स्वाभारनिरोध या और सेवाके बिना ही विष्णुदासकी इस ‘सेवाफल’ का दान कलनिरोध था । “सर्वमेव भुङ्क्ते तेन तस्य सर्वमेव भावा विभुङ्क्ते तद् स्वात्म् ।”

श्रीमाचार्यका करव करवनिरोध है और पदमात्माद्वारा निरक्षणका विवरण कलनिरोध है

प्राज्ञोंने आता है कि “तब श्रीमाचार्यकी श्रीमहाप्रभुकी छींटाव विष्णुदासकी न्याय नाम भुगये महाकल्पव्य कथामे विष्णुदासने विवर्ती करी— ‘महाराज ! मैं कुरात ही थी ऐसी छटा करी थी श्रीमाचार्य आदि आपने ग्रन्थमें कहा जान होई, लारके मासकी छिद्वान्त जायी जाई’ तब श्रीमाचार्यकी ‘सेवाफल’ छन्द करी विष्णुदासकी भुगये थी भुगिये विष्णुदासने विवर्ती करी— ‘महाराज ! ‘सेवाफल’ छन्दके सुनिं छन्दे मासभुदासकी जान भयी कलनु ‘सेवाफल’ छन्दके अभिप्राय समुचितमे जाही आयो तब श्रीमाचार्यकी कहूँ— ‘जय’ ‘सेवाफल’ ऐसी ही कलिन है भयी करी है पूछयी !’ पाछे आप ‘सेवाफल’ की दीक्षा करिके भुगये तब छन्दे मासकी छिद्वान्त विष्णुदासके दूरवाक्य भयी थी भवन होई गये थी विष्णुदास कीरी थी कथना छाने को आनरे बनि जाये रामे देवविर्वाह होई और छन्दे विन-पाठ मानसी सेवा श्रीमाचार्यकीके छन्द श्रीगुरुशिष्यीकीके भावमे जान रहे ।”

यह जानसी सेवा पदकेवा है, यह छिद्वान्तभुदासकीमे कहा गया था मानसी सेवाकी सिद्धि तनु दितजा सेवा करनेमे होयी है, यह भी यही कहा गया था इस पुष्टिमनितकता सेवाके माधिकारी पुष्टिबीन ही होये है, सभी लही, यह पुष्टिप्रवाहमर्मादामे निरुक्ति किया गया है छिद्वान्तप्रवाहमे पुष्टिबीनको पुष्टिभक्तिरक्षण सेवामे दीक्षित करनेके लिए आत्म-समर्पणका प्रकार समझमा गया है इससे श्रीमाचार्य पुष्टि-भक्तिमे आता पदुनलेमे अक्षयर्ष बन जाती है मन्त्रालमे सेवाकी उद्देवर्द्धित बननेके लिए निरुक्तमासकी बात समझायी गयी है अन्त कारणप्रयोग विवेकबीनविषय तथा कृप्यापय द्वारा इसी पुष्टिमागीन मनबलीबाने विष्णुदास उद्देव एवम् प्रतिपत्ती के बन्धनेके ज्ञापन दितलामे गये है अनुसन्धीमे इस सेवाका पुष्टिमागीन मर्माभिप्रायभीतकी सुखसर्वकपुष्टिबीन गया स्थान है यह दितलामा गया है

भविष्यत्कर्मोंमें इस सेवाके बीजमात्रसे केवल स्वयंस्फुटित होके विनाशकी स्फुरता कीचि पड़ी है। सेवाने जनसमूहमें विच्छेद भगवत्प्रणय की स्फुरते कोई स्वभाव न आये एतलमें कलहभेद-वध-वपरादिमें भगवत्कृपाके चरण-कीर्तनका स्मरण समझाना गया है। यह सेवा न निवृत्ती हो तो बीजावस्थित रहनु जानेके लिए गृहत्याग का देना चाहिये। यह गृहत्याग स्वयंस्फुटित होना चाहिये न ही कराया चाहिये अथवा नहीं। सेवासिद्धिमेंसे यह साधना की वरालोकी सहाय हो पड़ी है। निरीकृतान्तर्गमें इस सेवाने मानसी सेवाने रूपमें विनाशके गृहामक कारकोको परिनिर्वाण किया गया है। जब सेवाकालमें उत्तम अनुभूतिका सेवाने फलित रूप फलनिरोध सर्वात् अतीतिक-साधकके रूपमें दिखलना जा रहा है। यह वरमात्रामके पुनराकरणमें लक्ष्य बुद्धिपोषक जीवन है, इसे 'अतीकमात्र' भी कहते हैं।

[illegible]

इस अन्वये देवालयके पहले स्थित 'असीमिक कालम्,' 'साधुम्' तथा 'देवुष्टादिम् देवीलयादिदेह' की अनेक आत्मायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा की गयी हैं.

प्रश्न :
 १) ये तीनों काल बुद्धिस्वरूपके तीन असाधारण रूप हैं बुद्धिबुद्धि सर्वात्मबुद्धि तथा प्रवाह-
 बुद्धि की विविध कलाके जोरोंके फल हैं।
 २) बुद्धिबुद्धि, प्रवाहबुद्धि, सर्वात्मबुद्धि की प्रकृतिबुद्धि असाधारण है। प्रकृतिबुद्धि

[illegible]

१) **वर्तमानिक सामग्री पुनर्निर्माण का मत है:** तथा सामुद्रिक और मैथिलीमोविट्स का सामग्री का मत है.

व) अतीतिविक्रयार्थ सामुद्रिक बीर केबीमोविदेह जमरा, जतम मयम तथा बाधारम कोटीके पाल है.

कोटीके पास है-
 ५) सेबीसामुखितिका कामुख्य वरय फल है. निरीसामुखितिकय अतीरिज्जामय्य तथा
 सेबीसामुखितिकय अतीरिज्जामय्य फल है.
 सेबीसामुखितिकय अतीरिज्जामय्य फल है तथा सेबीसामुखितिकय

६) आर्थिक माध्यमों और साधनों पुर्ननिर्माण के फल में तथा सेवायोगिता के फल में

७) अलौकिकतामय्ये भक्ति-मन्त्ररत्न सेवाका फल है। मन्त्ररत्न सेवाने द्विविध साधुमन्त्ररत्न फल होते हैं। केवल मन्त्रमया अनुसूचमान साधुमन्त्र और अलौकिक-वेद-द्विध-अन्त करण-मात्रमया अनुसूचमान साधुमन्त्र, केमोपयोगिवेद-वर्हिरत्न सेवाका फल है।

८) सर्वोन्निवीची भगवत्परत्ता अलौकिकतामय्ये है। वेदनाकाक विगाहभाषी अन्तरापूर्ति-रहित मन्त्ररत्न सेवाने साधुमन्त्र है। मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्भाषीमे जैसे वेद होते हैं वैसे, सेवानेवोनिवेदकी सिद्धि पृथीव फल है।

भगवान्के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंकी फल-फलता प्रतीय होती है। अतः सभी व्यासभाषणर अपनी-अपनी फलार्थिकके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं। इनमें यदि मतभेद विद्यमानकी परता है तो यह भी अपनी-अपनी फल-वर्णिकी मन्त्रीका कपूर फलभेद है। अतः मतभेद भी फलमयक है।

ग्रन्थके आखरीका बहुत तक प्रश्न है। जो यह भागवत (३।५।३२-४०) के ती वलीकीकी कुमोक्षीमे श्रीमहाजुके मूलपर किया है। बहुत भी सेवाकाककी तरह भक्तिके तीन फल विस्तारने गये हैं। श्रीमन्भुक्ति साधुमन्त्र और वैकुण्ठाकीकप्रति अतः अलौकिकतामय्ये और श्रीमन्भुक्ति की एकका मानना चाहिये, तथा वैकुण्ठादिन् सेवानेवोनिवेद और वैकुण्ठाकीक-प्रति की एकका मानना चाहिये, उनमें साधुमन्त्र की मन्त्र है। जो, इस एककाकाकी विचारित करनेके बाद कुमोक्षीमे ओ विस्तृत विवरण फलमयका दिया है। तदनुसार सेवाकाक रूपमें विहित फलमयका भी स्वयन्निर्माण सुकर हो जाता है।

अलौकिकतामय्ये प्रकट होता है, इस मूलपर भगवत्सेवा करते हुये, भक्त रक्षितकी भगवदनुभूतिके करने, यही भुक्तिमायी श्रीमन्भुक्ति है। इसे 'फलनिरीध,' 'सर्वसिमाय,' 'मन्त्रनीकार-प्रकार्यता,' 'सन्तुलन' या 'मानसीता' कुछ भी कहो, एक ही अर्थभाके विभिन्न बहुव्रीका निरूपण है। वृष्ट दुष्टिके सम्यार्थे विप्र मिल है पर परार्थ सर्वक एक ही है।

भगवत्के दत्त सकम्पका कर्म-विषय निरीय है, एकाय सकम्पका कर्म-विषय मुनि है। दादत सकम्पका कर्म-विषय साधन-सहायतापति है। इस सकम्पकीके विषयका तथा श्रीमहाजुके—'एवं भेदय विरहित साधुमन्त्र वैकुण्ठ श्रीमन्भुक्तिमे ति' (पृ. ३।२५।४०) वगैर की एककावताकी दृष्टिपर करनेपर यह सेवाकाकप्रत्यये विहित फलमयका सब स्पष्ट-तथा निर्णीत हो जाता है। अलौकिकतामय्ये फलनिरीय है, इस मूलपर पठित होकेवाली भक्तोंमे श्रीमन्भुक्तिकी तरह, श्री दत्त सकम्पके भक्तोंके वही भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है। साधुमन्त्र परमात्मके सब है, विवेदभुक्तिमे तरह, श्री एकादत सकम्पका कर्म-विषय है, वैकुण्ठादिन्-सेवानेवोनिवेद साधन-सहायकार्य है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्भाषीमे दिव्य वेद प्राप्त करने पुन भगवद्भक्तके सुखकारकी प्रार्थि है, ओ मन्त्रावतने दादत सकम्पका कर्म विषय है।

इस तरह तीनोंकी एकात्मकता निर्णीत हो जानेपर विद्यामन्त्राय ग्रन्थके बाद सेवाकाक

समसहित सभी मानना चाहिये। इसके विपरीत मन्त्रके हृदयमें प्रकट स्वाधीभाव, जिसकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए। “एतावान्पर विजोते यद् बहिः प्रकटं कर्म रसधर्मसहितम्” (आनन्दमय) (अभेदीभाव)। यमिमात्र केवल भाव कर्म ‘आनन्द’ सम्बन्ध इति” (प्रयुक्तानुभवविनिवार)। अतः केवल धर्मीको उपनिषद्में ‘रस’ कहा गया है। श्रीहरिराजचरणके अनुसार ‘आनन्द’ और ‘रस’ पर्यायवाची शब्द हैं, और, ‘आनन्दमय’ का अर्थ होता है : रसधर्म-आत्ममयविभावसहित स्वाधीभाव। ‘आनन्दमय’ और ‘रस’ पर्यायवाची नहीं हैं।

अनुभाष्यमें परब्रह्म भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकाश दिखलाते हैं— “अथे ‘रसो वे तः’ इति परमभावतात् तस्य च स्वाधिभावप्रत्ययत्वात् तस्यैव आनन्दमयमभावः” (अनुभा. ३।३।१५)। यहाँ ‘आनन्दमय’ और ‘रस’ को पर्यायवाची माना गया है।

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है— “आनन्दी ब्रह्मेति व्यवहारात्”। ब्रह्म स्वाधिभक्त-समस्त-पूर्व आनन्द है, पर मन्त्रके हृदयमें जब उस परमात्माके लिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मको केवल सात्वतभूतियमें कही नैमित्तिक पूर्वतर-बन्धुर होनेके कारण, ‘आनन्दमय’ कहा जाता है अतः भाष्यकारके मते ‘रस’ का पर्यायवाची शब्द ‘आनन्दमय’ है श्रौतरीचीधर्मिणम् (२।५) में अथैव विभावमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपनिषदि विवक्षायी गयी है इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यद्—“आनन्द आत्मा” (यही) यह कर-दिखाताया गया है।

ऐसी स्थितिमें आनन्दको सभी मानना चाहिये कि आनन्दमयकी ? यदि आनन्दको सभी मानते हैं तो आनन्दमय कर्म बनेगा और यदि आनन्दको सभी मानते हैं तो आनन्दमयकी सभी मानना पड़ेगा।

हमने देखा कि रसराजन्य सेवकी सभी मानता है और मिश्रतम आदिकी धर्म सभी कि रसराजन्य भावनिवेष्टा है और श्रेय एक भाव है। अतः अपने आदिमैत्रिक अर्थमें अलक्षण रसराजन्यके लिए धर्म बन जाता है क्योंकि मिश्रतमके स्वभाव सुखधर्म का विभिन्न प्रकार का निवेष्टा, रसराजन्यकी, श्रेयके जनक और श्रेयके आनन्दमय-विषय के रूपमें समीप है—रसराजन्य-तम नहीं। भावमयमें मयब्रह्मके भिन्न किसी शौक्षिक चरित्रके रसराजन्य वर्णनका कोई स्थान नहीं है। ऐसे ही ब्रह्मके सुखराजिक निवेष्टाधर्म की भावना प्रस्तुत नहीं है। भावमय मयब्रह्मके रस-मयक रूप एकमूर्तीका के वर्णनमें प्रस्तुत हुये हैं। अथैव कभी रसराजन्य परिभाषाओंके सहारे मयब्रह्मके स्वभाव एकमूर्तीका का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्ममयकी परिभाषाओंके सहारे भी, कभी मयतीकी मयनिके अर्थके रूपमें मयब्रह्म वर्णन होता है, तो कभी मयब्रह्मकी मयनिके अर्थके रूपमें मय और जनकी मयब्रह्मकी का वर्णन होता है। कभी मयब्रह्म की सभी मान कर सर्वगुण मयब्रह्मका धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसराजन्य निवेष्टाधर्म है) और कभी मयब्रह्मकी सभी मान कर जनकी मयनिके अर्थमें मय और जनकी का

अन्तारालमें भगवान् अपनी सीमाओंके द्वारा चरोंके हृदयमें अनेक प्रकारके लोह प्रकट करते हैं, ऐसे लोहों भगवद् भगवद्भिरूपमें भगवान्के वृत्तमानमें लक्ष्य हो जाते हैं तब हृदयस्थित लोह भगवद्भिरूपमें विभिन्न चरोंकीके सामने बलकर स्वयम् भगवान् रूपम् उनकी सीमाओं का रूप धारण कर लेता है, अन्तर्गतस्थितमें दृष्टी तबहुं केवल-स्वरूप केवलताके हृदयमें लोह प्रकट करते हैं, वह लोह भगवद्भिरूपमें स्वयम्-सीमा-कालमें भगवद्भिरूपमें भगवद्भिरूपानुभूति का रूप भी धारण कर लेता है-

तामस-अमेव-प्रकरणकी सुविधिसे अन्तर्गत भगवान्का स्वरूप 'नन्दारवपु'के रूपमें वर्णित हुआ है :

"रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं प्रथम प्रकार होता है, जहां प्रेम (स्वाधिभाव-धर्म) और प्रियत्व (आत्मनःस्वभाव-धर्म) दोनोंही अनुभूति हो द्वितीय प्रकार होता है : प्रियत्व (आत्मनःस्वभाव-धर्म) अनुभूतिवत् हो, पर प्रेम (स्वाधिभाव-धर्म) की अनुभूति ही रही हो 'तामस', द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है, प्रियत्व-आत्मनःस्वभावके स्वभाव तो केवल माद्व ही होता है, माद्वान् उपस्थिति नहीं, सर्वोपमें आत्मनःस्वभाव और स्वाधिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं, वे दोनों केवल माद्व आत्मनःस्वभावस्वरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्वाधिभावका भगवद्भिरूप भी उपस्थित होती है सर्वोप-सीमाके अन्तर्गत 'चर' की तबहुं आत्मनःस्वभाव काया जाता है; और प्रियत्वकीमाके तबहुं लोहका 'आत्मनःस्वभाव'की तबहुं अनुभूति होती भगवद्भिरूपमें 'चर' की तबहुं केवल माद्व मात्र है अतः तबहुं और तबहुं सीमा करीबसे भगवान्के स्वरूपका 'नन्दारवपु' कहा जाता है, सुविधि भूगर्भस्थके अनुसार प्रत्यक्ष-माद्वान् सम्भव जैसे वल-वर्तिका कार्य है, जैसे ही माद्वमें सम्भवका माद्व वल-अभिनेताका कार्य होता है भगवान् एकतात्मनःस्वभावमें अन्तर्गतकार्य सम्पन्न करता है, माद्वमें प्रकट होकर रसानुभूति प्रदान करनेका, तथा हृदयमें ही आत्मनःस्वभाव प्रकट होती अनुभूतिमें स्वाधिभाव करनेका भी

साधनोद्धार उपलक्षणमें वर्णित रूप हृदयमें अनुभूतिवत् प्रकट कर सकता है, पर चरोंके किन्हीं की उनके द्वारा साधन करनेकी धारण कर भगवान् तबहुं भी प्रकट होते हैं, सभी चरोंके अनुभूति होनेका सुख भगवद्भिरूपमें प्रदान करते हैं, इस चरि प्रकट साधन करनेकी साधन वर्णित, या देहोद्भिन्नात्मनःस्वभावमें प्रकटकारके साधनविक्रम स्वभावकी अनुभूति करनेवाला कोई बिना रूप नहीं माना जा सकता है, यह साधन-विक्रम प्रकट रूप प्रकट ही वास्तविक होता है जिसमें कि स्वयम् प्रकटकार" (श्रुति १-१२५५).

इस प्रकरणमें रसानुभूतिवत् रतिके अनुसार विक्रम विद्या गया है, अतः भगवद्भिरूप वृत्तमानमें भगवान्की धर्म-स्वयं वर्णित विद्या गया है, फिरभी स्वयम् रतिके माद्व वल प्रकट है कि वृत्तमानमें आत्मनःस्वभावके रूपमें, तथा स्वयं कीविकात्मके हृदयमें वृत्तमान

की आलस्यर लीलाभूमिजिने राजद्वार, एवं एवं लीला वा नाटक परते हुने, यचना समन्वित (प्रत्यक्ष और संयोज) एवं भवभावने एकात्म्यवर्धित प्रकट किया है भवभाव स्वभावकी वहि प्रकट न करे तो समन्वित और चक्रोके सुताये कोई साधन नही रह जाता है। प्रत्यक्ष मनोके सिद्ध वैभव हृदयमे भगवान्का अनुभूत होना ही एक दुर्लभ बात बन जाती है। (हृदय प्रान्तर्गत नु मनोभावबोधव्यवस्था, वहिप्रान्तर्गत मनोभावबोधव्यवस्था, एवं सति चक्र-राज्यविभवमे प्रियवरावैव मनोभावबोधव्यवस्था दुर्लभमित्यनुभवसिद्धमेव भवभाव तथेति ननु वा भवभाव एवं तथा आत्मविभवव्यवस्था यथा इत्यर्थः, सुतो लिख. १०१६/८५)।

यदि आत्मव्यवस्था स्वाध्यायव्यवस्था आत्मव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो वहि प्रकट आत्मव्यवस्था स्वभाव यथाहि आत्मव्यवस्था माना ननु अतः स्वाध्यायव्यवस्था मिल नही होता, इसी तरह यदि आत्मव्यवस्था स्वाध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो भी प्रत्यक्षवैभवता 'व' के सत्य केवल-साधन आत्मव्यवस्था यथा 'व' एवं भवभाव मिल नही होते।

"अर्थव्यवस्था स्वध्यायव्यवस्था" (अर्थव्यवस्था) प्रत्यक्षवैभवता यथा यथा माना जाये तो वहि प्रकट आत्मव्यवस्था स्वभाव यथाहि आत्मव्यवस्था माना ननु अतः स्वाध्यायव्यवस्था मिल नही होता, इसी तरह यदि आत्मव्यवस्था स्वाध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो भी प्रत्यक्षवैभवता 'व' के सत्य केवल-साधन आत्मव्यवस्था यथा 'व' एवं भवभाव मिल नही होते।

पुरुषोत्तमकी अनुभूति पूर्व अविद्या के स्वध्यायव्यवस्था, अतएव, विद्योत्तमी तरह भवभाव-व्यवस्था के स्वध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो वहि प्रकट आत्मव्यवस्था स्वभाव यथाहि आत्मव्यवस्था माना ननु अतः स्वाध्यायव्यवस्था मिल नही होता, इसी तरह यदि आत्मव्यवस्था स्वाध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो भी प्रत्यक्षवैभवता 'व' के सत्य केवल-साधन आत्मव्यवस्था यथा 'व' एवं भवभाव मिल नही होते।

एतदर्थे स्वाध्यायव्यवस्था स्वध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो वहि प्रकट आत्मव्यवस्था स्वभाव यथाहि आत्मव्यवस्था माना ननु अतः स्वाध्यायव्यवस्था मिल नही होता, इसी तरह यदि आत्मव्यवस्था स्वाध्यायव्यवस्था यथा यथा माना जाये तो भी प्रत्यक्षवैभवता 'व' के सत्य केवल-साधन आत्मव्यवस्था यथा 'व' एवं भवभाव मिल नही होते।

[illegible][illegible]

इहं विषयमे श्रीसुभूतारण्ये वा उक्तिं मननीयं है कि— “अथवाद्भिराहृत्य सर्वसमाप्तम्-
त्येति तेषामिमांसायाः शरत्कल्पमनन-प्रसङ्गमप्येवायं ह्युक्तिं भवति तस्मैव तदव्याप्तिः ततः
तदप्यसर्वं निवृत्तः शरत्कल्पित्य भवति” (अधु. ३५५१११).

अभिलेखिकाओं के अभिलेखों का यह संग्रहण सभी का ही है ।

- (१) सीनर्याम
(२) प्रेम
(३) आसक्ति
(४) प्रेमलोक

“मासैरनुविन” कविरिक्त जीव उसके श्लोकधामने, अतएवमासीन सुदृढ सर्वसौख्यिक भव-
कवनि, जो किता किता अकारके कस्तुरिगन्धमायके ही कवचकर्मणि प्रकट हो गयी थी, की पदार्थके
कवचप्र भाव अन्तर्मासीकट कवच भीकनुचरक तथा भीकुरिरावली ने किता है : (१) भाव (२)
कैव (३) भगव (४) कैव (५) पाव (६) कनुचरक (७) कवचक-

[illegible][illegible]

॥ अथ श्रीमद्विष्णुः श्रीमन्नारायणः श्रीमत्पुरुषः श्रीमत्पद्मः श्रीमत्सर्वभूतहितः ॥

अथ कथं न्यायसिद्धिर्भवति तत्राह—

(श्री गुरुदेव प्रसाद)

असम का प्रशासन और प्रशासकशास्त्र के सम्बन्धित अनेकविध विविधतापूर्ण विषयों के अन्वेषण के लिये प्रशासकशास्त्र के अन्तर्गत एक नया अन्वेषण क्षेत्र खोला है : (३) प्रशासन

नहीं करनी चाहिये.

सीमाहारात् स्पष्ट सम्बन्ध आजा करते हैं कि इन विधिविधियोंमें सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवा छोड़ देनेपर उक्तका अनुकूलन सम्भवक्या माना गया है कणानुष्ठान पुष्टिमात्रमें प्रतिबन्धी व्यवहारमेंसे खुदी हुई सीमाकी तरह है परन्तु यहाँ इस सीमाके भीतर भी रहना जो सब न ही तो बाह्यसम्बन्धानुसार व्यवहारमात्रमें अवलम्बित होना चाहिये. स्पष्टमें विवेक और आशय की व्यवहारिकी बात समझाती गयी है. परन्तु यह भी सत्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जगहमें प्रभु हमें समझायेगासे सुटकारा देना नहीं चाहते हैं.

विवेकवैधानिक ग्रन्थमें अतएव—“अतएव वा सुप्रत्ये वा सर्वथा अतएव हरिः” बहुतर तया नवरत्न ग्रन्थमें—“चित्तोद्देश विषयार्थ हरिः वस्तु परिचयति सर्वत्र तत्र लीलेति मत्ता चित्तं तुल्यमेतत्, तत्तात्पर्यमत्रास्ति चित्तं चोद्देश्यं अतएव मय वदस्मिन्नेव सत्यं स्वैर्यमित्येव मे मति” (८-९) के उपदेशके अनुसार चित्ताका त्याग कर सत्यभावना करनी चाहिये.

(१) गांधी (आत्मसाक्षात्कार) वा (भगवत् आधिदैविकत्व) वास्तुता मार्गित

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई विष्णु दिव्यशक्ती न पाते ही जो सेवाकी अनुमति नहीं मान लेनी चाहिये. विष्णु भगवान्की आधिदैविकी सेवामें मुक्तताकी इच्छा नहीं है, ऐसे समझना चाहिये. आधिदैविकीया-मुक्तकी पारता भगवान्की वास्तविक अवलम्बित है वह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमात्रों के अथवा आधिकार की मार्गित भगवान्के देनेपर ही होती है, साधनाभिप्रायमें नहीं.

(२) लुकी (सीमाभास-विच्छेद) वा वास्तुता मार्गित

समूहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी सीमाभास यदि छिड़ न होता ही तो बाह्यसम्बन्धोंका ही वास्तविक व्यवहार चाहिये अतएव प्रतिबन्धिकी और सम्बन्धानिर्णयकारी, ऐसी विधियों, व्यवहारों परिचर्या वा मुक्तता के अनुकूलनीकी अवधारिकी बात समझाती गयी है.

(३) इस (भगवत् वास्तुता) व्यवस्था तथा भावना व्यवहारमें समीक्षण, सर्वोपरि तत्त्व (आत्मभावना) काही (सर्व भगवान्) मुक्तों के चित्तमध्यमें

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि अलम्बितान् करनेवाले पुष्टिमात्रों की कभी चित्ता नहीं करते चाहिये क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकदा अत्यन्त लौकिक विधित्तोंकी विधित्त पुष्टिमात्रोंकी करते जो हा, परन्तु मति कभी लौकिक वा आवाहिकी नहीं करने अतः चित्तके लौकिकीति निर्वाह न होनेकी विधित्तों अथवा पुष्टिमात्रोंमें भगवत्कीलोक, तात्पर्य केन्द्रकर जाने अलम्बितान् अतएव—आत्मन करना चाहिये “अवस्थापति पुष्टिमात्रों न परिचयति लौकिकी न मति, विवेक तु सर्वत्र सर्वथा वास्तुता अने सर्वोपरि सर्वत्रा विवेककारि परिचयति” (१-२)

होता नहीं है जो भगवत्कीलोक होती है चित्ता नहीं है वा भगवान् हम देना चाहते हैं भगवान्की अवधारिकी किसीकमकी बात नहीं है वह “अवस्था” है, उदाहरण किसीका और नहीं करता है भगवान् परन्तु क्या ही है वे केवल सर्वोपरि ही नहीं अतएव सर्वत्रा भी

है, अतः जिस जीवका पुष्टिप्राप्तमें बरतन भगवान्‌के कर लिया हो। उसे पुष्टिप्राप्तिके दावमें अधिक मिलान्न नहीं करे। इस तरह भगवान्‌के पुष्टिप्राप्तप्राप्ता होनेकी याचना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ विशेषतया सम्बन्धमें यह भी कहा गया था कि "सहस्रां कृत्वा वायम् भगवान् दमनिष्पत्ति, सायवावदत्तदोह् बीर्यवान् भुक्तामहि" अतः जिनसे सेवा आदि न मिल जाती हो ऐसे दमनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्‌के ऐसे गुणों एवं चरित्रों का कीर्तन करें कि जिससे सामान्य पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धि में भगवान्‌के पुष्टिप्राप्तप्राप्ता होनेकी आस्था कल्प पाएगा दृढ़ हो जाये. यह जिसकी सेवा-भगवान्‌के पुष्टिप्राप्तप्राप्ता होनेकी आस्था कल्प पाएगा दृढ़ हो जाये. यह जिसकी सेवा-कृतके प्रति कर्तव्य है. सायवावदत्त कर्तव्य उपदेशप्राप्त बीर्यवान्‌भुक्तामहि भगवत्‌सेवामें सम्बन्ध जीवोंमें उत्पीडता और तत्प्राप्त के भावोंकी उत्प्रेक्षित करना चाहते हैं.

अन्तर्गत और पञ्चाध्यायि सम्बन्धमें अन्तर्गत कर्त्ता एवं श्रोता की उत्तम-मध्यम-निम्न वशासे सम्बन्धकी गयी है इनके पञ्चाध्यायि प्राप्त हो जानेपर जिस पुष्टिजीवमें सेवाभिरता भवित नहीं मिल जाती वह भी कर्त्ता-श्रोता-कीर्तन-स्मरण आदिनी प्रशिक्षाके द्वारा अपने पुष्टि-प्राप्तिके योग्यमें प्रथम हो जाता है

१४) गुणयोगे प्रति दृष्टेय दृष्टव्यम् इति मे प्रति

भक्तिवर्धनी सम्बन्धमें यह विस्तारणा ही गया है कि स्वयम्भूत भगवत्‌सेवाभिरताय जीव-प्राप्तन जमी पुष्टिजीवोंके लिए अन्य नहीं होता. इसमें अनुकूलकन गृह्यायके सिद्धे भावपत्र अधिकता व्यवस्थित विचार भी अन्तर्गत बहुत पुनर्गत बात है. गृह्यायका विचार किसी भगवदीयकी व्यवस्थित गृह्यकर भगवत्‌परिचर्या करना और भगवत्‌सेवाके अवसर-कीर्तनमें सम्मिलित होना विचारणा गया है. परन्तु जिस भगवदीयका उत्तम दृष्टन दृष्टन हो गया चाहते ही उसमें भगवत्‌सेवाभिर-गुणन दोषपूर्ण होनेपर अधिकतायके साथ गृह्यायकी भावना उठी थी इसके परिशुद्धार्थ दृष्टान्तायके अधिप्राप्त भी नहीं विचार किया गया था. दृष्टान्तायके भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था.

भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था.

१५) अत्र गृह्यितं न भवितुमर्हति तर्हि भवः

दोषप्रत्ययों-भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था. वशासे भगवत्‌सेवाभिर-गुणनमें 'सर्व-विशेष' की शक्ति बरतनेका गुणन दिया गया था.

‘निरोधफल’ या ‘अवहितफल’ न बहू वर ‘सैवाफल’ करना; तथा अर्थोचिततामन्त्रके स्वरों सेवाका फल पुनः सेवाकी ही भजनता भी, पुष्टिस्वरूपमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है।

मिथ्यान्तमुन्नायनी, पुष्टिप्रवाहमर्षादा, मिथ्यान्तरहस्य, ‘भक्तिवर्धिति तथा निरोध-लक्षण’ ग्रन्थोंमें शारदा ; तथा अन्य ग्रन्थोंमें सात्यसेवा; सेवाके महत्त्वके पुनःपुनः उल्लेख द्वारा भी सम्पात किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिस्वरूपमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है।

मधुरसीमिमें—“उपेक्षा सर्वमानस भवन्नेषां वनाधिप, रत्नरत्नमयेन यमो हि नाथ, यनापि कथाचन” द्वारा भी यही हृष्यसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें भी यही—“नाथ, वरदायी नाथ, नाथ, वरदायक, नाथ, वरदाय विद्या दीर्घ नाथः परात्परम्” यवन द्वारा अन्य यथाधीनी मिथ्या, द्वारा उपेक्षासे विचारणी भी यथालेखोंकी महत्ता सिद्ध होती है।

धीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निवन्ध यन्त्र वा सुधीधनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका नाथीभाव-अपरिहार स्वरूप सेवा बहुत यथित हुआ है, यह अन्यत्र सुलभ नहीं है। सेवाका अन्तरहस्य याव-यावना है, सेवाके बहुिरासमें भजनसर्वेण, समुचितता सेवा, मुष्टिस्थान-यन्त्र एकम् परिकरों का भगवत्सेवामें विनिर्माण; तथा अन्य की नवना भगवन्मुख भगवन्कीर्तनादि उपान याने यके है, इस कायी कायीका सेवा स्पष्ट एवं सुस्पष्ट विचार, अनुसृतता महा बीजमन्त्रकी है, यह अन्यत्र दुर्लभ है।

पुष्टिस्वरूपमें भगवत्सेवा द्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है, अतएव विवरणमें—“सेवाया, फलवयम्” न बहू वर ‘सेवाया फलवयम्’ महा यथा है, अतः दीर्घो ही फलवयवा बीजमन्त्रमें सुस्पष्टता प्रतिपाद सेवाके अत्यन्त ही है, इस फलवकीर्तनकी भी बीजमन्त्रकीका शारदा भगवत्सेवाकेरूप ही सर्वप्रसिद्ध होता है।

अन्तिम सात्यसेवापरिचर्य किन्तु उपर्युक्त यथा यथा है अन्य प्रमाणोंमें किसी एक सात्यका समित होता सम्यक् नहीं है, इस तथ्यका विवरण करना ‘उपवर्ति’ कहलाता है, अतएव धीमहाप्रभु भगवा यती है कि इस बीजमन्त्र ग्रन्थोंमें सुस्पष्टता प्रतिपाद भगवत्सेवाके स्वरूपकी अन्त्याय सात्यकी सुलनामें नील यथालेखोंकी पुष्टिकी सुन्दर सुष्टिमें सुस्पष्टरूप ही सा-ताया बाह्ये—“कुम्भितरन वा काचित्पुन्येन न वे भव,” ऐसे ही ग्रन्थोंमें निवारणार्थ भव करवयवोंम किया गया है।

इस तथ्य उपर्युक्तोक्तद्वारा, सम्मान, सर्वभाव, अनुसृत, फल और उपवर्ति रूप छोटी सात्यसेवापरिचर्य किन्तुके द्वारा यह निःसन्देहता सिद्ध होता है कि पुष्टिबीजोंके लिये स्वगुह्य बीजस्वरूपके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, यथालेखोंके मार्गका भावनात्मक अनुसरण करते हुये, निवन्ध-या-यनका यथालाभ विनिर्माण; तथा इसमें भगवत्सेवामें एतदभावयत्किन्तु भगवत्सेवाका यथवयव-यन-कीर्तन करवा यन्त्र एकम् यन्त्र करीय है, यथा यथा भगवत्सेवाके निताकी यमी पुष्टिकीका निरोध यथालेख और यथालेख न होता बाह्ये यमीके ‘विश्वान्त यवान बीजमायमन्त्रहनिम् ।” का निवन्ध भुव और यथालेख है।

मेधावतल छात्राणा प्रत्युत सावरण वि. म. १९७३ म प्रवाशित सावरणना आंशिकेड प्रशिक्षण द्यावा सुचर्चितल कच हे जस अचम सावरणामें प्रवाशित व हो पत्रिके वाचन मेवापलकी जो तीन टीकाचें जलमेवरे साय प्रकटीकृत हई थी, कज टीकावाचो हसो मयापलान पहा निविष्ट कर दिया हे इसके मयापल मेवापलकी मूल वाशित कया विवरण बहा सुचर्चितल कच हे, जसो मयापल हसो कजर जोचे प्रशिक्षण दिया हे

छत्ते थे, जन्मे ममतापति हृदये ऊपर नीचे खींचत गिया है।
 प्रथम संस्करणमें श्रीगुरुदेवतामजीके नाम जिस "छद्मनामिका" की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हम कीटस्थानमय चित्त मया श्रीमन्नगुरुजीम भक्तिरत्ने हृदयनिर्मित धन्यवाक्यकी अभिनन्दन पत्रिका (२१-३) की हस्तलिखित प्रतिये दत्त टीकाक 'श्रीगुरुदेवतामजी द्वाराकेलेखित टीकाकय विवृति प्रकाश' नामका जालेल उपलब्ध होता है। कावरीजीमाले महाराजश्रीके पास इन श्रीदेवतामजीके पुनके हस्ताक्षरीय लिखित एक प्रति विद्यमान है। एसा धन्यवरिष्यजीमजीमाले जिसे एक वनमें मोलवासी श्रीदेवतामजी (कावरीजी) सूचित करते हैं श्रीमन्नगुरुदेवतामजी इन श्रीगुरुदेवतामजी द्वाराकेलेखित टीकाकय विवृति प्रकाश (२१-३) में १५ जन्म वि. स १८५९) इन्होंने जलाना बाकरीजी— जलाल या मिला है। प्रथम १५ पृष्ठ जन्म वि. स १८५९) इन्होंने जलाना बाकरीजी— विद्याविभागमें निवृत्त श्रीगुरुदेवतामजी (हिन्दी) की विद्वत्पण्डित टीकाकय मल्लनवरम तथा पहा १५ में जन्म मुद्रित टीकाकयविवृतिप्रकाश टीकाकय मल्लनवरम कमान होवेत, महु टीका १५ में जन्म मुद्रित टीकाकयविवृतिप्रकाश टीकाकय मल्लनवरम कमान होवेत, महु टीका श्रीगुरुदेवतामजी विरचित है, एसा मोलवासी श्रीगुरुदेवतामजी महाराजश्रीका अनुमान है।

श्रीव्रजभूषणजी विरचित है, एता गोष्ठाणी श्रीव्रजभूषणजी महाराजकी अग्रणी
 सेवायत और सुशिक्षित की एकपाठात्मक प्रवर्धन (मुनी ३१२५/१२-४०) तथाकी हय
 भूतनामा यहा पाठकीले सुविधायें प्रकाशित कर रहे हैं

प्रथम संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास जीतिबाबा तथा श्रीवीरदास राज-
वात गोशिमिया के अग्रजगणार्थ आर्थिक सहयोग से। श्रीजीवनदासजी
मदुसाबा (वीरदास) के दिया या दान वाली महाकुशाधीन दान पुत्र प्रणामार्थे अथवापद
हम आर्थिक कृतज्ञताये साथ स्मरण करते हैं श्रीकृष्णविष्णु।

Editors' Note.

Saṅgāṭhā is the best and the most important of the famous Sixteen small Sacred Books of Śhrī Vallabha-ācārya. It clearly states the three sorts of realisations, according to one's 'adhikāra,' viz., (1) spiritual power, which, going beyond the world, obtains a vision of God, and enjoys indescribable bliss with Him, or (2) Saṅgāya with Parashottama or the lot (3) a body fit for service of God in Vāṅmūṭha, Gokula etc. A detailed description of all these, and also of hindrances in their way will be found in the Sanskrit introduction and the commentaries.

It gives us very much pleasure to note that we have been able to collect all the rare commentaries yet known on this important work,—we hope the last one is of Śhrī Vrajanāthāya, and to publish them all together. Moreover, we have secured several copies of many commentaries, and it gives us great satisfaction to find that our printed texts have become much better than the oldest manuscripts in our possession, on account of comparisons with and necessary corrections from other manuscripts of the same texts. Elsewhere we have noted various extra passages which we found in some Mss., after the text was printed, we have noted only those readings which gave quite different meanings and we have refrained from adding unnecessary 'other' readings.

We sincerely thank all who have kindly supplied us with these extremely rare Mss. The first among these is Pandit Gattulady's Library from which we got a large collection and we are highly obliged to Sheth Tribhuvandas Vargwandas and Mr. Keshadas Dada who allowed us the use of the same. Next Dr. S. K. Belvalkar M. A., Ph. D. favoured us with a loan of several Mss., including the extremely rare one of Jayagopalā Bhatta from the Govt. collection in the Deccan College. Śhrī Vallabha-ācārya and his Śhastra Madhava also supplied us with several Mss. Mr. Ursvala Sanādhana also gave us one rare commentary and Mr. Tanukheem Survaram also gave us some Mss. Mr. Lalubhai Chhaganlal gave us the use of his block of the photograph of Śhrīmad ācāryaḥ. To all these, we offer our heartfelt thanks. H. H. Śhrī Jivandāshī Maharaja of Porbander has put us under a deep debt of gratitude by supplying us with the necessary real and funds, without which this work could not have been published. We are also indebted to the manager of the N. S. Press for printing this work within eight weeks. With feelings of *apya*, we offer this fruit of our labour of love, at the Lotus Feet of Lord Kṛṣṇa.

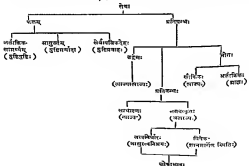
BOMBAY
12th December 1916 }

M. T. Tehiya
D. V. Senaka

सेवाफलदापर्यम् ।

श्रीकृष्णं वरमुन्मार्गं मनुजियमाप्नुते नदाः स्वप्रभुम् । विषादं मांमनुत्पानमाप्नुते लीलोत्तरं वामुनीम् ॥
माया राजविराजन्ति विपुलदृशान् विषादसागरदम्भम् । पदानां चानि शिलोचनं जालि विपुलि जगदीश्वर्यं वीरे

निःसाधनयन्त्रोद्धारप्रकृतितत्त्वमुचिः श्रीमदाचार्यवैदिकविजयनाः सत्येनैव प्रपाद्येन सर्व-
सिद्धान्तं ज्ञातोपुक्तिरूपया पौटप्रमन्थाः प्रकटीकृताः । यद्यपि तं तन्धिकारिणमुदित्य
आचार्येरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्योणां यावन्त्य लक्ष्यस्तासां न्यायरूपत्वात् तथा-
एव सर्वथा सर्वदा विकासस्थानमपरिचितमिति तु निर्दिष्टं तदन्वयाप्येदमाह । यथा
नपरलो देवधीमोविन्दमुदित्य प्रकटीकृतसर्वैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुदित्य प्रकटितम् ।
पौटप्रमन्त्रेषु सेवाफलग्रन्थसम्पत्ते वर्यते । अत्र ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थ-
पर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यासां निष्ठुष्यन्तः । विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो
बहुमुन्मथितैरिचोन्मथितैर्निर्दिष्टं यथाशक्ति यथामति विवृतः । तत्र मितितानां द्वादशविवर-
णानां संग्रहोक्तः । यद्यप्येतासां दीपयनां विपरीतं ग्रन्थसाधनस्य गूढार्थत्वं तु नैवैति ।
आदौ तद्वपथा पल्लवोपोत्तमभिः पूर्णं पुष्टिचक्रितुपायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतसर्वैव-
ममनि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, स्तोनास्य ग्रन्थसाधनो विशेषतः सुप्रमो भविष्यतीति ।



सेवा—सुगन्धाद्यनिरुक्तिः शेषसमिद्धार्थं श्रीमदाचार्यैः पूज्यमानां कृतः सेवाभार्याः
 सेहप्रभावः प्रवर्तितः । अस्मिन् भार्ये सेहस्य प्राधान्यं न विधेः । सेवाभार्याः श्रीमदा-
 चार्यैः सर्वनिर्णयेति दर्शितः । 'अतिशब्दस्य प्रत्ययैः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेयेति' । अनर्गभूत-
 हन्ताममताया नास्ति विना विवक्ष्य प्रवचं भवन्निति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तदुक्तविधान-
 सेवोक्तदिरूप्यते श्रीमदाचार्यैः । अहन्ताकृतस्य देहस्य सक्तत्वाकृतस्य विवक्ष्य निनिर्वोक्तो
 यदा भवन्निति सर्वज्ञेन भवति तदा साध्यपदहन्ताममताया विनिरिप्यो भवति, विवक्ष्य
 सर्वतः सम्प्रत्ये निवृत्ते तस्य भवन्निति स्मितिर्भवति । भगवदीयस्य तदाहन्ताममताया
 भगवदीया भवति । सा तु न प्राविशत्, प्रत्युक्त परमफलसाधिका । देहविवक्ष्य भगवति
 निनिर्वोक्तः साक्षान्मूर्तिमहोपीयनमत्तयोक्तदिरूप्यकारेण यदाप्रतिज्ञाकृतसर्वस्यसमर्पणद्वारा
 श्रीमदाचार्यैः साक्षरापातवीचानां कृतः । तदैव ते जीवा भगवदीया भूता ज्ञानविद्युजीवानां
 परमकहेनास्तार्थ्यं जीवभुक्तिमद्यावशेषकृतमवान्तरफलमवाप्स्यन्ते शशरन्तः । एतादृक्
 प्रकारेण विवक्ष्यमद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आर्पितेविकी भवति, तदा सा
 साक्षात्फलरूपा भवति । साक्षात् विरतमात्मज्ञानं तु सेवां विना न किमप्येषेक्षितम् । एता-
 देवोक्तं श्रीमदाचार्यैः 'तदुद्दिष्टोपातुरक्तमनसामभयोनि कस्तु'रिति । ईदृशी फलफलरूपा
 सेवा केवलमननपददुर्गमैकलभ्या । अतोऽस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुपपत्ते तत्पुष्टिभार्यानिसेवाया एव,
 न केवलमर्षादामार्गीयाया वा केवलजपपदमार्गीयाया वा । अत्र श्रीहरिताया वा श्रीमदाचार्यैः
 केवलाया मन्त्रस्या एव फलमुपपत्त इति रिपार्थं तस्यः फलजनपुष्टकमन्तः । श्रीपुरुषोत्तमाः
 तदुक्तविद्युत्तद्विदमानवीसेवायाः फलमुपपत्त इति रिपार्थं तन्ताः फलमुपपत्तन्तः ।
 केचित्तुद्दिष्टुद्दिष्टिभार्यापुष्टिप्रवादसेवायाः कमेव फलजनपुष्टकमाहर्तिरिति वदन्ति । सर्वैरि-
 तिद्वान्तुत्तकलीप्रोक्त सेवोपन्यस्यते । श्रीमदाचार्याणां भाषा विगृह्यार्थत्वात् विपश्य-
 कारणां विवक्षितधिकारकत्वात् कारणोपिफारस्तादृशी स्पृष्टिरिति सर्वेषां मतानामाचार्या-
 श्रमनिबद्धत्वात् सर्वेषामतिरोपस्तु सिद्ध एव । अथ सेवाभार्यस्तु केवलमेवमपान्त,
 निवान कियत्वा क ज्ञानस्य प्राधान्यम् । भगवत्प्राप्तवता सर्वेषामनधिकारः । एतादृशी-
 पुष्टिभार्यासेवायाः फलजनपुष्ट्यते, उक्तमन्यमताप्राप्त्यभेदकमेव । ततोपायाः फलम-
 लीकितसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टे । साधुजन्य मण्यमायाः पुष्टिमर्षादायाः । सेवोपन्येतिरेहो वैकुण्ठ-
 दिव्य साधारणस्याः पुष्टिप्रसादायाः । भगवोपलब्धेस्तु एतादृशं नैवावीक्ष्यते । तेषां
 मते तु साधुजन्यमेव परम फलम्, अन्यैरित्येवामर्थ्यादि पीष फलम् । तदनपनदास्तु
 अत्यन्तपुष्टमन्यमद्विगानां सेवानां कमेव फल दर्शयन्ति ।

वर्गविकृत्यामर्थम्,—भगवता सहस्रमन्त्रदिसामर्थ्यं पुष्ट्यानामिति श्रीभूतपाप-
 राषाः । अतीतिकमजनान्दस्तुमये सत्यवयोप्येति श्रीशेनेता । श्रीमद्वर्गवर्गीया इता-
 वमाणावोपरमितरप्राप्तकदाचन साधुजन्येकलभ्यमजनान्दस्तुमयतद्वनमिति श्रीदेवरी-

[illegible]

५. कालम् श्रीजगद्गुरुमोक्षदाभाट् । श्रीमद्गुणार्थेन पुराणव्यासना सप्तमीं कल्प्यं विदुषाम्नी
पादपद्मपुत्रसमाधिकादुत्तरीं वा पश्यन् सर्वं श्रीमद्गुणम् । तेषां विराट् पादपीडनाभावीलपदा
एतन्मिति प्रतिभाति । निवेदनकेन चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिपक्षिमुपेयितमनिकरतिपावा पञ्चमर्षक
दुर्वीर्यान्तं दृश्यम् । पापजान्त्र बाह्यजान्त्र वा तेषां चरित्रादिकमप्राप्तिरिति निवेदितमिति वाच्यं
समाप्तमस्ति ।

४. अहमद नवाजशाह केवागिरीकोटगिरिवाहू । इहू नवाजशाह कीबुदबीरगनाभुवागिरीकोटगिरिवाहू

५. तबदा प्रयागनाथ काशीप्रभुनाथ । केविदाबादेहातिजनामैलादेवीया विदाती नामना
भीकदिहिलेकाप्रभुनाथीकुठि समझीला । ते सद् भीमनाथप्रभुकी कथाप्रमाणबहाणे रहित ।
दुगधरीनु कलकमेनु ही आसी । नीतिप्रभुनाथकी वस्तुवतु । कथादेविनी कीरतिनाची भीमनाथप्रभुकी
संपत्तिनेन कीरता । कानेनाथकलकविजनाथला पुत्री के पुत्री । निजनाथप्रभुनाथेनु कथिप्रभुनाथ
मारी वधुन । कथा प्रभुनाथप्रभुनाथ प्रभुनाथ नीति काशीप्रभुनाथनाथकाशीप्रभुनाथीरिता । तबदाप्रभुनाथ
कथिनाथनाथी । तबदा प्रभुनाथप्रभुनाथ कलक १५८५ वर्षे काशीप्रभुनाथ, १५८५ वर्षे वदनाथ वत ।
नीतिप्रभुनाथने काशीप्रभुनाथ विद्यानाथ नामनु । नाथ भीमनाथनाथिना कुठिपुत्री कथा माहा प्रभुनाथने
काशीप्रभुनाथ अति रचिल । नाथनाथिभीविद्यानाथीना निमना । नाथनाथनेकथा कथाविद्यानाथ कथा
नाथ नाथनेकी ही कथा कथा । नाथनाथनाथिनु कथाप्रभुनाथने कथाप्रभुनाथने । कथाप्रभुनाथने
कथाप्रभुनाथीनाथिनीनाथनाथिनाथनाथने कथाप्रभुनाथने कथाप्रभुनाथने । कथाप्रभुनाथने कथाप्रभुनाथने
कथाप्रभुनाथने कथाप्रभुनाथने कथाप्रभुनाथने ।

[illegible]

बन्धनाः । भगवतः कोटिश्रुषाधिकरूपस्यात्यन्तिकफलदित्वात् सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रबो-
द्धत्वमपेक्षे तदनुभवनसामर्थ्यमिति श्रीहरिपञ्चरत्नाः । सर्वार्थोन्मेषुपेक्षीवत्तमाः । पर-
प्राप्तिविनश्यदुत्तुक्तमगवत्स्वरूपाशुभे 'मदीयवदानेष्ट' इतिश्रुषोक्तरीतिकमगवद्वेशना
योग्यता यथा रसात्मकस्य भगवतः पूर्वेस्वरूपानन्दाशुभय इति श्रीश्रुषोक्तमाः । तदनु-
स्मरित्वाशुक्तत्वात् तथैव । साक्षात् श्रीवृन्दावनवादी श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनसमर्पनारिक्तित-
धमत्वमितित्तात्त्वष्टाः । कस्यचिदेतत्सहाये कस्यचिदेतदेष्टातोत्तरं वृन्दावनवादिष्वलीनिक-
सहायेन श्रियतमभगवत्कलम इति जयनोपाठमष्टाः । भगवत इत्यालीनिकनेव ज्ञान-
द्विषाम्नां सामर्थ्यं जगद्भाषारवर्जमिति सदम्भमष्टाः । साक्षाद्भगवत्सम्पन्नरूपम्, हीन-
जीवसोत्तमभगवता सह साम्येन स्त्री रसोद्भवेतिविश्रुतिरिष्यणीकाराः ।

इदं स्वपेयम् । अथ सर्वेषां दीक्षाकाराणां यत्नानि प्राप्ते मिश्रानीत्यतोनुमीयते
यदशार्चयेत् किमपीदमित्यलया विदम्बते । जयनोपाठमष्टे विना सर्वेति दीक्षाकारा
कलीनिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्वते । द्वेदे कलं जीमकृतिसाप्यम्, परन्तु केवल-
भाषदनुपेक्षिकाप्यम् । ब्रह्माण्डात् सगुदत्वेद कलं भगवता श्रुतेषु विशेषक्रमया दीयते ।
कीदृशं तद्वर्णं तद्विधेत् नैव शक्यते, भगवदिच्छावीनत्वात् तस्य । एतत्कलं तु गोपय-
ष्टव्यस्तत्रमेवात्मकोलकमन्त्रया वरमसंतुष्टेन भगवता विशेषानुसङ्गस्यापनाय कश्चिद्
दीयते । कोटिमिष्टाङ्गादीनामखिलनिषामकाः सज्जप्य च सेव्यया भक्तमनोरपचरुणाप
जगदान् तद्वपौ भवति । अखिलं जगत् सेव्यया लीलया नरीयति वरमाद्रीर्दो भूत्वा
भक्तमनोरपानुसारिणः तद्वष्टः सन् सर्वं वृत्तति भगवान् । सर्वज्ञो भूत्वापि यथोदायाः
कश्चिपौ महाशुग्धवत् तिष्ठति । भक्तमम्बरीयं स्वयं रक्षति भक्तपरापक्षमाकरणाप
सासाधकि कथयन् दुर्वासं प्रति भक्त्यज्यतां प्रकटयति । अखिलं विभं स्वमापया
पश्यत्यपि श्रीमन्वात्चरमाणां भवतिविशयेन खेदाविशयेन तद्वष्टः सन् सर्वं श्रीमपयोदया

१ यत् किमर्थं भगवन्निष्ठाभावात् कथयन्मते कल इति विद् तत्राह एतमिति । एवमशार्चये
लीके सर्वोदायमात्रमित्यनेनापि एतत्कलीयमशुभपूर्व कलं करोतीति कल भक्तवद्वत्ता कश्चित् । तदलीन-
त्वापि प्रबोध्यताह इतिमिति । स हि सर्वेदु तद्वर्णं कश्चिद्वर्णैकमन्त्रयेन नु तदनुमेतिप्रतीत्यां सत्कार-
मित्यन सातिरिक्त सामर्थ्यार्पेष्टमात्रात् प्रवेत्येति । कल न सर्वपेयपेयिष्यो कतिहेति यत् भक्त्यापया-
सर्वदेनेकोत्त । यत् कलया पेक्षयेयमित्यापुमर्दं किलते यथा सत्काल मन्तुतावाद् कलमात्रात् तदलीन-
मपि सर्वं सातिरिक्तवाद् सत्येतावतीति । स हि सत्यं यत्, न वैमन्तुपमर्दं । अनेन कलमात्रवद-
मुत्तम् । कलमात्रवत् कथ्येतेति । अनेदे कले मन्तो कलान् ब्रह्मादिने मन्ते, सती महाशक्त्या
मन्तुमात्रां यथा कलमखिलवापकत्वात् अनेन ऐश्वरं मन् इति । कलमिष्टाद्वैकतावद्विष्ट सर्वं कल
जगत् मते । अतो भगवमात्रं वैरविष्टि कर्तुं शक्यमिति मन्त्रः । नेन विद्विन्मो य जगो न श्रीमन्मन्त्रमना
अकलं केचिदे मोदी यत्तत्तत् विभुविष्टाह । एव सत्यलीने तिष्ठे- ।

दत्ता बद्धो भवति । ईशं निमित्तवत्कर्म सामर्थ्यं यत्र भवत्यतिशयेन त्रेमातिशयेन
मनवान् मत्तवत्तः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति । इदमेवोत्तरं फलं
श्रीमदाचार्योपायनिवेदितमिति नानु संशयः । श्रीमद्वैकुण्ठाध्याया श्रीमत्सुबोध्यमा-
नामप्ययमेवामिनायः । 'लोभुते' भुतिरिति मत्तस्य निविधरतमोपपत्तौ रतेभ्यो
भवमता सद् भोगं निरूपयन्ती मत्तस्य प्राधान्यं भवत्यतो नीमत्वं साधनेन कमयति ।
मार्गं फलं योगसर्वन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्सर्वन्तं तस्य फलतामपि न प्रकटी-
भवति । रत्नशास्त्रेति रत्नाधिक्ये शुभायाः प्रतिभास्यते । मर्षाद्वयवर्ती नीमत्वं मत्तस्य
प्राधान्यं यत्र भवति तदैवाष्टीक्रियामर्थ्यं प्रकटीभवति । सत्यं सात्वत्यं पातयन्
मत्तधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् सास्य निरुद्धधर्मात्मकत्वं महामाहात्म्यं च
प्रकटीकुर्वन् भगवान् श्रीकृष्ण एव चरमफलपूजोद्धृष्टीक्रियामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्योपा-
यद्वयवर्ती नित्यं रत्ने सः । पट्टिरिति श्रीमदाचार्योपायं सृष्टिपी मयितलीलाविरिति
मगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटयन्ना मत्तवरतां अद्वैतम् निरन्तरं सार्वभौम्यो भवति ।
एतावती भगवतः परमं कृतं वाच्यमसाधोपरं सत् सन्दीः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते ।
अनुमयैल्लोचयत्वात् तस्य । अत एवाचार्यैः सारस्वतैर्गुरुवरप्रदक्षिणायु 'अष्टीक्रियामर्थ्यः'-
मिति परमनिगुणशब्दप्रयोगः कृत इति प्रतिभाति । अत्रापि सर्वेषां शीघ्रात्मनामा-
नितोपपत्तौ अनुकूलिह एव । सर्वेषां निमग्नविकल्पत्वात् भवत्यतः साधनेच्छत्वात् हीरकं
दानं भगवान् करिष्यति तत्र प्राप्तिरन्त्यत इति । श्रीसुबोध्यमचरमेषु अमिरीधमकारो-
तिमुन्दरतया प्रतिपादितम्, अतन्मन्त्रात्मकविराज्यते । एतत्सर्वं भवत्यतो नानाविध-
प्रवेष्टेष्टेष्टुक्त्यानुवर्दिष्यताम् शब्दमयमवाप्तुमर्हति ।

[illegible]

अपरत्र सर्वत्र वैरिति आर्थवर्तीषाम्, अन्यत्र नेति । यथापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव ।
 व्याख्यानस्य प्रसङ्गइत्यम् । एक आसीत्, अन्तर भक्तिमार्गीयम् । श्रीहरिराधादयो
 भक्तिस्वरानीमनुसृत्य वीनिकार्यक साधुज्यवद्गीकुर्वन्ति । श्रीगुरुतोत्तामादयः शास्त्रीयस्वरणी-
 स्तुस्वरान्तो रुद्रार्थक साधुज्यवद्गीकुर्वन्ति, तथापि वीनिकार्यसाधुज्यग्रहणे नैव तेषां
 श्रेयः, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यत् तैरपि निषण्णे 'आदिमूर्तिः' कृष्य एव सेव्यः
 साधुज्यकाम्येषु'त्यत्र तथैव साधुज्यग्रन्दो वीनिकार्ये व्याख्यात । श्रीगुरुतोत्तमरीत्या
 विचार्यमाणे इदं साधुज्य बुद्धिमर्यादाया फलं भवति । श्रीहरिराधरीत्या विचार्यति तु
 इदमपि फलं मानसा दृष्टमुद्देशेणेति चेद । अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्रीत्या जीवस्य
 प्राप्पफलस्य विचार्यमाणे साधुज्यग्रन्तेन दुष्टिरारोहति, तदतीति कलौकिलसामर्थ्ये तु न ।
 अत एवाचार्यो प्रायः सर्वत्र फलं निरूपयन्त साधुज्यग्रन्दं प्रमुञ्चति । सस्तिन् सर्व
 कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण वृक्षमविर्भावयित्वा यदा फलं दातुं मत्सुरिच्छति, तदा भक्तस्य
 तद्ग्रहणोपेति नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृतकार्यवेद्यहेतुः, मधुरेण तस्मादुभवात्मा तदैव
 भवति । तस्माद्वयस्यापा यत्र सर्वोपि व्यवहस्यते भगवद्गीय एव, आत्मत एव इदं सर्वम्,
 तत्र ईश्वरित्यो प्रथो नैवेतिहति । तथापि भेदेनानुभव विना भक्तिरसस्यानुभवो सम्भा-
 न्यतो न भवतीति विचार्य श्रीनोक्तुत्तमश्रीहरिराधादिभिर्देवविशिष्टदेवतस्य कथिदुप-
 न्यस्त । बाह्यतः श्रीमदाचार्यप्रतिपादितं शुद्धादित्येवास्मिन्नित्येव गते भवति ।
 तथापि तत्तत्कृतमुसृत्य ते साधुज्यग्रन्दस्यैव वीनिकार्ये व्याख्यात । अतो न ह्युपाधि
 विशेषः । अत्र उपगोपालमहाशु श्रीहरिराधवत् साधुज्यग्रन्दं वीनिकार्यकमङ्गीकुर्वन्तः
 साधुज्यमेव परम फलवर्तीकिकसामर्थ्यादि वीन फलविति मन्यन्ते, तथैवास्माकं मत-
 स्थापयति । निप्रयोगस्य परमफलस्य उपयोगस्य मध्यमफलस्य वन्द्यीहरिधनचर्या मोक्त तदपि
 परमावहेन खण्डयति । परन्तु तत्रापि रहिमेदं एव विचार्यकम् भासते । श्रीहरि-
 राधादयः निप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, उपयोगादयस्तैषां गतो व्यविचारिणां,
 निप्रयोगस्तु स्थाविमानः । श्रीमत्पुत्ररत्ना सर्वोप परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र सर्वोप-
 स्थाविमानः, निप्रयोगादयः व्यविचारिणां । आचार्योस्तु 'आन्तरं तु महाफलं'मित्यत्र
 निप्रयोगस्य महाफलत्वं दर्शयन्ति । अत्र विशेषस्तु नैवास्तुति । आचार्योणां
 निप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्पुत्ररत्नाणां सर्वोपररूपत्वादानुभवस्योपे मनु फलरूपेण उभय-
 द्वारा भर्तृगमनं श्रीवात्स मनोरमात् पूरविषयं निरा तुषा यथैविष्यति कथं वेति
 न ग्राह्यं शक्यते । अतः सर्वत्र प्रतिशब्दवृत्तत्वात् सम्यगीयमेव । क्रिय, रसरूपं प्रभुरेव
 परमं फलम् । रसमोक्षमयदृष्टिद्विहतात् सर्वोपररूपेण निप्रयोगरूपेण वा फलत्वं कथं
 नैव व्यविपत्ति । नन्व निरा निप्रयोगे भवति न त प्रधानीकृत्य सर्वोप मध्यमफलत्वेन
 मन्यन्ते, यथा श्रीहरिराधादयः । नन्व निरा उपयोगे भवति न त प्रधानीकृत्य निप्रयोग

व्ययमकलत्वेन मन्यते, यथा वयमोक्तत्वात् । श्रीमदाचार्यास्तु यमदलनिशिष्टमपि
 यस्तुस्वरूप वरमकलत्वेन मन्यन्ता । निषकोक्त कथित्वाभा-य दर्शनम्, कथित्वायोगम् ।
 उपपन्न परमकलत्वे तु नैव सन्देहः, तस्मात् पाठ्य समकलत्वा दान तात्त्रो कथितत्वात् ।
 अतो भगवतो रपरूपत्वात् तस्य च भावविधानाद्युक्तौ पुनस्तात्, संपूर्णकलत्वात्पायै-
 वात्र निविधमत्प्रदर्शन भगवता संपूर्णमगदीश्वरा कृतमिति प्रविशतीति सर्वं समग्रम् ।

सेवीयविकरेतो वैकुण्ठारिह, — सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषमाणात्
 साध्यात् सेवागुणयोगे अन्ये साध्यताध्यादयानुभवकृति क्रियमाणा सेवाया उप-
 सनीये योग सम्पन्ना कृत्यव्यतिशरीर्यामिति शीतद्विषयचरणा । देहेन्द्रिया
 सनीये योग सम्पन्ना कृत्यव्यतिशरीर्यामिति शीतद्विषयचरणा । देहेन्द्रिया
 सुदीन हुरुवकीरमुपधिशृङ्गायाकृति सत्तामविशेष इति श्रीपुस्तोत्तमचरणा । व्याप्ति-
 वैकुण्ठादी पार्वदादिदेहातिरिति लास्यम् । 'गोकुल वनवैकुण्ठमिति त्रयोविधमुक्ते
 प्रक्यातीतमवयवविशेषासमान व्याप्तिवैकुण्ठान्तर्गतं वृद्धन नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन
 श्रीपुन्यापनश्रीमदीश्वरानि च । तत्र साधुव्यक्त्यद्वैतविकार सेवीयविकरेद्रूपो
 पादना भवतीत्यर्थः । वैकुण्ठान्तरात् मुदमुक्तिमिति फलरूपभक्तोक्त्याभावात् गोकुल
 सौव साधनमवयवकत्वात् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन पुन्यापनादिक चानि
 केतमित्यपयोगात्तन्ना । अत्राहुतमुक्तमिति कृत्यव्यतिशरीर्यामिति श्रीपुस्तोत्तमचरणा ।
 काराणा, तत्र सेवीययोगी चोच्य, वैकुण्ठपदेन मुन्येद्रमुन्ये च । आदिपदेन सर्वोपि
 विष्णो सातोष्यति मयेति तत्त्वचरणा । अतीतिकदेहपयोगादिकमिति विष्णोतिष्णवी
 काया । रमापवित्तवैकुण्ठश्रीरोदकेलदीपेभु भवत्सेवायोगोद्देहमाश्रितिश्रीयोगेना । त्वयैव
 श्रीदेवकीनन्दना । आदिपदेन श्रीमपुन्यापनादिक प्राप्तिमिति श्रीवक्तव्य । आदिपदेन
 मुन्येके उक्त्यादीनामिव मवादीनामिवेति च । सेवीययोगोद्देहातिरिति श्रीकृत्यामराया ।
 अत्रैव ज्ञेयम् । श्रीनीपेश श्रीदेवकीनन्दना क्रमेण सर्वोदायके प्रावाहिकमते फल
 वदन्ति, अन्ये तु इतिशके साधारणभक्तोक्ती फल वदन्तीनि द्धिमेदतत्तात्त्विकम् ।

उद्देश — सेवाया क्रियमाणायासम्पन्न मन्नेन्द्रादिरिति श्रीकृत्यामराया । मनस
 सेवाया क्रियमाणायासम्पन्नमेव, सर्वथा तत्तात्त्विकता वादिर्गुणमिति श्रीपुस्तोत्तमचरणा ।
 मनसोन्वयतोऽतिश्रीरत्तमा । उद्देशेन चरणा वा, सेवाया क्रियमाणाया दुहादिन्वो
 मनसो भय पपादिना मुदेयात्त्वमिति द्विप्रकारमुद्देश श्रीपुस्तोत्तमा वाहु । भगव
 सेवासत्तमे पिच्छेयव्यवधान्यव्यतिशेष इति लास्यम् । अन्ये तु विशेष न कथनाहु ।
 अयमुद्देश सेवाया प्रविन्यव्यवधान्यत्वात् तान्य । आचार्यो प्रधानमुद्देशादिव सत्ताम
 व्याप्यसेवीयतामि सत्तामप्यव्यासाव्यवधान्यत्वात् च कृता पथाहयो साधारणप्रतिपन्न-
 त्तीतिकयोगयो साव्यव्यवधान्यत्वात् न तुद्देशसावि, अत्र उद्देशस्त कथित्विष्ट एव
 प्रकतीभिमल इति निषार्थ श्रीपुस्तोत्तमाव्यवधान्य अतुके कारण दर्शयन्त उद्देशस्तामुक्त्येन
 असाव्यवधान्यमिति सूचयति ।

प्रतिबन्धः—सेवासमये लौकिकवैदिकवर्णान्तराशक्तिरन्यकृतान्तरापरिवेतिथी-
कल्याणरायाः श्रीहरिरायाः । वेदनिन्दा म्हेच्छतिष्ठतिर्गुणवितोषद्वयेतिथीगोपेशः ।
कादृशान्वयमतेतिथीपहमाः । तत्त्वतिष्ठतो निग्रह इतिथीधुरगोचमाः । सेवायां रूपी
सत्यापि तत्त्वमये लौकिकवैदिकवर्णविकारविकारविकारविकार इतिथीधुरगोचमाः । तत्त्वमये
नय । प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखशुखे प्रवन्दनीतिस्तद्वदः । ययं प्रतिबन्धो द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या लान्यः । भगवत्कृतस्तु न । भगवत्कृत-
प्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारणवेदेन साधनरूपी, तेन फलं शोकाभावात्, न शुक्तिः । विज्ञेयस्तु
सप्तः, टीकास्तु दर्शितत्वाद्वास्तुमोयित्वाद् विस्तरमभावाद् वानूयते । तत्त्वनिर्धारण
आधुरस्यनिष्पन्नः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकम साध्यया टीकाकारैरनुदीर्त ।

मोक्षः—लौकिकलौकिकमोक्षेन द्विविधः । लौकिकलान्यः । लौकिकमोक्षस्तु एव-
त्सार्थं विना न सिध्यतीत्येते 'मोक्षमात्रस्यैव सिध्यति यदा एवमपित्तम्' इत्याचार्यै-
रुक्तम् । लौकिकमोक्षस्तु प्रायः । भगवत्प्रियेदितानां भोगोऽलौकिकमोक्षः । लौकिक-
सामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवत्प्राप्तु प्रथमफलं सेवोपयोगिदेह इति वदन्ति ।
भगवत्कृतस्यैव सिद्धिर्गोचरस्तु नैव साधकः ।

एवं सेवायाः फलं भाषकं भोक्तृता आचार्याः श्लोकेः सर्वदा भावनमुप-
दिशन्ति । यद्यपीयं भावना न स्यादिति साध्या तथापि फलं भवेति तथैव सर्वे वदन्ति ।
गुणगोपेति तद्वदन्मतेन फलं भवत्, अन्तर्त्तु सर्वं मनोभयः । गुणगोपकस्तु टीका-
कारैर्दिष्टा सामान्यतो व्याख्यातः । केचिदधुगुणकारिभ्यो इति वदन्ति, अन्ये तु
सत्त्वगुणमयां श्लेष इति वदन्ति । उभयस्यापि भगवत्कृतमालम्ब्येवाचार्याणां सङ्ग-
धितमिति तु नैव सन्देहः । तदीयेरपि तदेव फलं भवत्, फलविलम्बाय, यतोयुना
वीक्षतां दुष्टिर्गोचरायैवादीकारः । यथाहुः श्रीहरिभक्तचरणाः 'साम्यत्वं तु दुष्टिर्गो-
दायमेवाधुनिकानामङ्गीकाराद्वनसिद्धिक्लिप्तमङ्गलेन शक्यत्वेन प्रोषितमर्तुकाया इव
फलप्रतिबन्धभावन सर्वदा फलं भवेति । अथाचार्यैरुक्तं 'श्रवणमेषं सदा भाष्या सर्व-
मन्यन्मनोभयः' इति वाक्यं दुष्टिर्गोचराधुनिकस्य वीर्यं फलं भवेति स्पष्टतया ज्ञात-
यति । सर्वप्रमाणातीतो वाच्यमन्त्रागोचरः सर्वतत्त्वज्ञानो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते
इति तु नैव वक्तुं शक्यम् । अत एव भगवत्प्राप्तकलेन निश्चितसाधनं भगवदतिरिक्तं दुष्टिर्गो-
चरं भवेति इत्यपि तु वाहु नैव शक्यम् । साम्प्रते वेदनामिश्रा प्रायः उत्पद्यमानां सोति भक्ति-
मार्गेण दुष्टिर्गोचरादलौकिकेन प्रीतिरिति । अतः दुष्टिर्गोचरो भगवान् सर्वदासितसाध-
र्मेण प्राप्तुं शक्यते, अत एवोपमया दुष्टिर्गोचरे निम्नाधनत्वं एव प्रतीयते । तमासीदं
विचारणीयम् । श्रीहरिरावधीधुरगोचरादिभिरुत्तमानवतान्दजा प्रवन्दनीति प्रविशयते,
साधनं जीवनं दुष्टिर्गोचराधुनिकस्य दुष्टिर्गोचराधुनिकस्य भवतीत्यपि नैवेद्येभ्यः ।

तेन यद्यपि श्रीनिर्मलग्नश्रेयसं विना किमपि कर्तुं शक्यतेन वैव शक्यते, तथापि भगवत्श्रेयसा भगवद्भूतेन यच्छस्यं भवति तद्वचसं कर्तव्यम्, स्तुतिर्पादय मोषित-
 भर्तृकृतम् । यद्यपि हारकलरूप मानन भगवत्कर्तृक्येव तथापि एतदेव भगवत्कर्तृ-
 नाशनं कर्तव्यं न तु तृष्णी क्षेत्रम् । पुष्टिर्गार्ग्य भगवत्प्रपन्नाद्रगको निरुद्धधर्माभयवत्तान्
 तस्यापि तथात्वादस्मिन् मार्गे भासमानो विशेषोति निगेषाभास इवाह हारक एव । साधन-
 पद्धतयो भगवानेव । तथाहुः श्रीमत्त्वमुत्तरा निषन्वे 'यस्मिन्मार्गे तु भगवान् सत एव
 यदा भक्तेषु सर्वे सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा यतः स्वाहीकार स्वीयता ज्ञात्वा स्तुत्या-
 दिषु स्वाधिकारे ज्ञायाति ततः स्वीति । ययरा सर्वोत्तमा स्वांगी-कारज्ञानेनान्तरानन्दे
 पूर्णं यद्विदति सर्वेन्द्रियेषु प्राकृत्यसमये यापि स निर्मलम् स्तुतिरूपो भवतीति । वाचन्ति
 साधनानि तानि न यद्व्यवस्थापकानि, तेषां स्वरूपबोधनतासम्पादकत्वात् । विशेषस्तु
 सातसकोच्चाद् गुर्वानुवादे प्रतिपादयिष्यत इति ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

मार्गशीर्षकृत्यनयना,
 श्रीमत्त्वमुत्तराश्विन-श्रेयस

}

सुहृदम्भु वैसीवाळा ।
 धैर्यवाळा सांस्त्रीया ।

१८ तमे वृत्ते प्रकाशितमेवाफलविद्युतिस्वातवाचान्ते अष्टोत्तिष्ठती-
 त्तोऽधिक उपलभ्यते श्रीमत्त्वमुत्तराश्विन-श्रेयसावारे (२१०/३) कमाकित
 सन्दर्भशुद्ध्याम् -

भगवदिष्टाभावनयानं तु श्रीमतीश्वरकल्पयो जगत्कर्म पुण्याशीतलारमना
 स्वयमेवेन्द्रोपाधिक विनायै यथाधिकारमत्पुण्याभावाकल शान्ति इति विदम ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु श्रीमत्त्वमुत्तराश्विन-श्रेयसावारे ।

विचारिता यवत्येवा पुर्वदीनानुवाच ॥

इति श्रीमत्त्वमुत्तराश्विन-श्रेयसावारे विदम । विचारिता यवत्येवा पुर्वदीनानुवाच ॥

॥ श्रीमतीश्वरकल्पयार्पणम् ॥

मिति यातिव मुदि ४ यमत्तर १९३५ ।

पुस्तक मधुरादाय नो विद्यन विनो हरिदाय ।

मन्दिर श्रीमत्पुदेत न इदंतिविना वाच ॥

॥ सेवाफलं सविवरणम् ॥

पान्थो तेवना प्रोक्ता तस्मिन्ही फलमुच्यते ।

आनीकिकरणं याने हि पादा अभिनेमनोरथः ॥१॥

यानं वा हृदिप्रकारो वा न कान्तील विद्यायकः ।

सेवाया फलप्रपम् अनीकिकरणायम् पान्थुम् सेवीगमोपिदेहो' वेकुम्भादिषु.

उद्देगः प्रतिक्रियो वा बीजो वा म्पान्थु शयकम् ॥२॥

अकर्तव्यं अचरतः सर्वथा भिद् यतिर्नैहि ।

यथा वा लक्ष्यनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥

आलक्षणीयं प्रतिक्रियो बीजोन्मैकं तथा वदम् ।

विप्रातुर्दुं भद्रम् योगः प्रपथे विवर्ते तथा ॥४॥

सेवाया प्रतिक्रियकप्रपम् उद्देगः प्रतिक्रियो बीजो वा, लक्षणा साधनपरिचारागः कर्तव्यः, बीजो द्विविधः लौकिकहीनलौकिकप्रप, एवं लौकिकप्रप्रायम् एव, अनीकिकरणम् फलाना मध्ये प्रपथे प्रविवर्ति, प्रतिक्रियोपि द्विविधः साधारणी भगवत्कृतप्रप, तथा आलो बुद्ध्या एवायम्, भगवत्कृतप्रपेत् प्रतिक्रिया तथा भगवान् पत्र न आरम्भतीति फलप्रपम्, तथा अन्तर्गतानि अर्था, तथा आधुनीय बीज इति 'निर्धारः', तथा साधन-कार्णेय स्यात्तस्य बीजोपादानेति 'विवेक'.

अनु साधारणी योग कर्म समकल्प्य दृग्गोपाभावात्—

सविध्योपयो पातकः स्याद् कलातेतो तथा मतो ।

'सविध्यो अलो पातकः यथाद्' इति सविध्यत्वाद् अल्पत्वाद् भोगरसायम्-
'एतो' प्रतिक्रियको.

द्वितीये सर्वेषां विन्ता इवाज्वा सखायनिवसमात् ॥२५॥

द्वितीयो भगवत्पुत्रप्रतिपन्नः सख्यतिपत्यम्बुने निन्ताभाकार्यमात् द्वितीय' इति
कावयो बाहुता मरित

आम्यकाभाभावे भगवतो बाहुता मरित तथा येना मायिर्द्विपये बाहुता मरति

तृतीये कायक गुरुम् ।

जीवाभावरतयेन विम्वरित मरु गुरुप्रतिपन्न

अत्राप्येव तथा मायया सर्वमव्यञ्जनीयम् ॥२६॥

तरीवरति तत्र कायं पुष्टी मरु विम्वरितम् ।

गुणलोभेपि गुणभवेत्यनेति ये मरि ॥२७॥

गुरुनिवृत्त या मरिगुणलोभे म र्दे अम ।

॥ इति श्रीमद्भक्तप्रसादप्रकरणेनित्त सख्यकरण सखायम् ॥

१. सखायम् ॥



॥ सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफलस्वरूपनिर्णयः ॥

सुबोधिनाम् सेवाफलस्वरूपम्

एकमन्त्रात् सुबोधिन्य सर्वोन्दिष्यान्ना सरत्नमुत्तमं भगवति वा स्वाभाविकी कृतिः सा भवति इति, ये देवतां कल्पि जाताः सेवाकृतिं देवकृपाणि (इन्द्रियाणि) भवन्ति अमुमुखाश्च भवन्ति एवमित्येव मोक्षंते तत्रैवमपि लिखन्ति यानि पुनर्निमित्ते लीङ्गिने वा रूपान्ते जाति कदाचि विहिते पञ्चतन्मात्राणां न चरितुमशक्यं भवन्ति इत्यामुखाणि तत्र भवति देवदेव भवति नागुरे किञ्च ज्ञापयति कर्मयोगस्यापिबद्ध्यते वेदिके कर्मेति प्रवर्तमानानि पूर्वोक्तान्येवाम्नात्मात् भवन्ति सेवाकृतिं यदि कदाचिदा भावति तदा सत्य एव सुबोधिन्येव भवत्यस्य कर्म प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति यत्सुत-
रसु सुभातोते भवति स्वाभाविकी कृतिरिति भगवन्त्यात्मम्, "मधिष्ठ निर्दुष स्मृतम्" इत्यादिवाक्ये सर्वा भवन्ति भाविकी निर्गुणा सर्वोपि द्विविध देवा-
भुविभक्त्यः तन्नामुर मन्त्रपवित्रकृपात्मक मन्त्राभावात्तत्र भवत्यस्यकर्मदेव ... कर्मणा तु द्विविधेन न भाव्यमानेन कृपायति इन्द्रियाणां पुनर्निमित्ता कृति न भवति, अत एव-
स्वभावात्तत्र कर्मो नश्य तत्वेन भवति, कर्मणा तु कृपाकर्मज्जित् विजयान्ता भगवति यन्त्रतो कृतिरस्यभावात् महानिर्णयानि पुष्टि कृता अविचरन्त्यानि भवितुम् कृति जन्मिष्यति इति न यत्तन्मुपपत्ति कृति तन्निष्ठता ननु बहुलभावात् फलकमे-
ज्जयति वा अनिमित्ता भवति स्वकृता, यत्तन्निष्ठता वा, भगवत् कृपाभावात् कर्मणि निमित्तानि, वा अनिमित्ता वा भवति भवतीत्युत्तरेण सम्बन्ध, किञ्च वा वेदु भावयती भवति, एतत्तद् भगवत् विपकीकरोति भगवद्भावा वा बहुलकृपाती-
भावयति सुबोधिन्युपपादति इमं कृति पविष्टा (सुतो. ३।२५।३२-३३)

सुबोधिन्याम् अतोनिभक्त्यामर्प्येकवाक्यम् :

सादृश्यभावात् सावित्रीमिषाधिपद्विषयाह प्रकाशयेत्, तत्र प्रथमवाह विभिन्नका-
लकागिषादिभिः, लीङ्गता साधनावस्था पञ्चतया तथा एता साधुश्च यं तृतीय
स्वाकृती लीङ्गान्दिवाचनं तत्र प्रथम भक्त्यानां साधनावस्थायाह-

सेवाकृतां मे हृदयमिति कीर्तितुं
मह्यवसेवाभिरता मयीहा ।
यमोक्तो भावयता प्रत्यय
सत्ताजयमे मय कीदृशानि ॥

इयं पल्लविका भक्तिर्ज्ञातव्या, ते भक्त्या यादवजीवन्ति च सावधानतया भक्तिं
 दुर्बन्धीत्यर्थः, कलकल्ला उदेव भवति नरा भवन्नाहोर्ध्वमध्यतो भवती तन्ना अभि-
 व्यक्ते निवर्तन भवन्त एवात्मता साधुमन्त्रण कल न एतद्वन्ति प्रार्थना तु दूरे
 ते भक्तेषु विरता प्रत्यक्षिष्यन्ती केचिदिति दुर्बला तेषा कायकात्मनोर्भूति
 स्वभावत एव भवति भवतीत्याहुः कलकलेवाकितं यम सावधानतामेव अभिरुचि-
 सेवोर्भूतिर्विषयः, दुर्बली कलका कलकलनयं कलेभ्यमिति पद्वन्त सेवेत्यर्थः सन्धयु
 मूला भवन्नामन्तरात्मनः, इयं कलेर्भूतिरिति, काचिदोमाहुः मरीहा इति,
 भक्त्यामन्त्रितैव ईहा कल्ला तेषा, तेषा काचिद्विषयीमाहुः कलेभ्यः इति —

संख्या **पुस्तकालयाभित्त-**

पादयन्त्रि तै वे रुचिराभरण-
 मयान्वयवस्त्राभरणोद्यमानि ।
 कन्याणि विद्यायां वरपुत्राणि
 साक्ष साक्ष वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

[illegible]

सुखीति श्रुत्वा सा मुञ्जसूत्रं ब्रवीत्-

1997-1998

१. बेलौरीया-बर्बरान-
 बिजनाह्वालीवाल बागबूनी ।
 हुताग्रबनी हुताग्रबनी नरिय।
 लनिबन्नी नरियबन्नी प्रबुन्नी ।

ते पूर्वोक्तानि अनुभवसमय एव सावन्तजनैर् दर्शनीया अवस्था ज्ञेया इत्ये-
विचारः, हासपूर्वकमोक्षित नाम मनीहूर युक्ता वाक्य न वेयम्, ते हास्यकरणात्
मनीहूरोन्दिमाणा च सा पूर्वोक्तं भवित, सामन्विच्छतोप्यन्धी गति साधुस्य प्राप्तये
मत्तस्य अनुविद्ययुक्तार्थविद्वद्दर्शं चतुष्पल न प्राप्तये इति, दर्शनीया जनस-
वामपुत्रा, उदासी विनास सर्वजनक, हासपूर्वकमोक्षित सर्वजनकम्, चतुष्पलानि
मोक्षजनकानि, कायो हि विषयमीन्द्रियैश्च अन्तःकरणेन न विभवति, अतो तौ
बीजैश्च विशेषतः अद्वितीयैकज्ञानैर्वर्षिणम् विभाव्यो हि अक्षय्य ज्ञानाप्रकारकत्वान्न,
उदात्तस्य सम्य सर्वोपकारकत्ववाच्य, भवमती हि बीजा सर्वेषा सर्वपुत्राभेदाविनीति
भवपरवन् हासो वेदादौ अष्टाध्यायजनक अक्षय्या निरन्तर प्रभौ न शिष्येभ्य हासपूर्व-
कं नाम प्रवेदनवचनेन भूत इतिहासो अविद्याभाषकम् नाम परमात्मव्यापकीति
भूतम् हि मलिनैककृपानन्दावस्था, कृपाणि च अन्नज्ञानस्य कृपाणि, अन्तःकरण-
अन्तःकरणं करनेन्द्रियाणा च तैराकर्ष्य सर्वेन्द्रियगुणस्वरवाद् स भववान् स्वपु-
त्रं चतुष्पलानि नमति, ते तु इन्द्रियाणि मयवच भवन्ति, भवितव्यु कलाव्यवसायिनी
कायादिनामप्यवगच्छन् अतिशूयवचनेन भवमवाप्तवत् फल प्रयच्छति (शुक्ल. ३।२५।१५)

सुवीक्षिण्यां संक्षुब्धादिषु लोकोपयोगिदेहवस्त्रकम् :

एव चतुष्पलकम् फलमुत्पन्ना सामीप्यवदित्वा फलमाह-

अथो विभुति मय सावन्तविमलतः-
मैत्रवर्ष्यमपि मनुजबिलतम् ।
मित्र भवमती साप्रसूद्वर्षित मतां
वरस्य ते मैत्रभुक्ते नु लोके ॥

अथो इति, सा च न भवितव्यमपि भवतु, लोकोप विमलप्रभम्, अथो मय
मायाविभो विभति मुखपञ्चदिकस्य रत्नविभक्त्या च, न तत्र भोग्यमपतीति सायाविभ-
हासुक्तम्, कस्यमापि विषयस्य भवमतीवना भवमस्तीत्येवमव यथी तद्विषया-
निही सर्वलोकोपिहा वा एवमवमिमादि, अष्टाध्यायि मयमेति सर्वैरवर्ष्यति,
भवमप्युपजनयन् भवमन्तम् प्रविभक्त मित्र सर्वानेव सम्पति भोग्यवर्ष्यताम्, मायवती
च भवमतीत्यवपति च भवमन्तवर, सर्वेव वा न सपुद्वर्षित, भवत भोग्यवर्ष्यति
मध्यमा भवति भवमन्तवय अवमन्ति इति, भवमन्त तेषा भोग्यो न रोक्त तत्र
देवपुत्र एव तथ्यो भोग्य भवमन्तित्याह वरस्य ये तेजनुवती नु लोके इति, परम
कायावसायवत्, लोके अतिशूयवत्, सर्वैरवमवर्षितकमप्यनुवती (शुक्ल. ३।२५।१६)

सुयोधिण्यां कलाधिकारजोः कलाधनिमन्वत्तत्त्वम् :

ननु लोभानां कावचमस्य नियन्त्रणमात्रम् 'धीमे कुप्ते मल्लोक्त विद्यति'
इति स्वरसान्प्रमाणम् किं वैकुण्ठधीमे विपक्षानुभावेन प्रकाशयामास-

न कश्चिद्विपक्षस्तथा स्यात्तदर्थे
न कश्चिन्ति नो वैदिकविद्यो वेदि इति ।
येषामहं विषयज्ञानात् पुनस्तत्र
तथा पुनः कुट्टयो वैदिकविद्यम् ॥

यस्य रूपं मनसि सकेदोषविद्यति वैकुण्ठे वा अहमेव परीयेता ते न
नश्यन्ति, धीमेकुप्ते मल्लोक्तं पश्यति वा न वा इति वाच्यम् तान् भवन्ति
सह वैदु - कावचस्य सत् विपक्षस्तत्र मल्लोक्तं. तत्प्राप्तौ विपक्षा - विपक्षा, वैदु, पुत्रा,
मित्राणि, गुरुव, शत्रुमित्रा, इत्येवम् कावचस्येति तस्मिन् योते मते सति
नियन्त्रेता कावचमहमेव करोति नश्यन्त येषामहमेवकावचस्य. नहि कालो वा
विपक्षी करोति तेषां मरणं करोति नास्ति यद्यपि. विद्यो हि विपक्षी भवति,
वैकुण्ठस्तु मद्रूप इति तस्मिन्नेव विषयं तत्त्वमस्य न प्राप्तात्वात् वैकुण्ठमहमेव,
वैदुन विषयेषु पुन्यमात्रेण प्रकृतिं सुखा इति सुखा भवन्ति, तत्र विषयमीयेतां
अहमेव भवन्ति, पुन्यमहमेव मल्लोक्तं तत्र वाच्योपि सुखा अहमेव,
तस्मात्तान् पुन्यमात्रं मद्रूपमात्र एतत् कलवार इति वा चारुतीनिकांस्त्वत्वार
पुन्यमात्रेणा वैकुण्ठं सगहमेव, पुन्यमहमेवमात्रं ये तत्र विद्यते यतः ते मल्लोक्तं
पुन्य, पुन्यत्वात् तु तस्मिन्नेव विषय इति वैदु देवता, पुन्य, पुन्यदानं वा प्रवीणम्.
ननु न इत्यन्तं अत्र देवा वाच्यमात्रं जनिता एव (पुत्री १/२५/१४८)

सुयोधिण्यां कलाधिकारजोः.

एव कलस्य निकृतिं सामुद्रिकं वैकुण्ठं धीमेकुप्तेविद्यति
(पुत्री. १/२५/१२-४०)

॥ इति धीमेकुप्तेविपक्षमात्रेण-विद्यति - सुयोधिण्यां कलाधिकारजोः
तत्त्वमस्य-निर्णय ॥

श्रीहृष्याय नमः ।

श्रीगोपीजनबल्लभाय नमः ।

श्रीमदानार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीकल्याणरागविरचितसेवाफलोक्तिविरृतिसमेतम् ।

श्रीमदानार्यचरणैः सेव्यमानोऽस्मीश्वरः ।

निरासतु मेसाधान् कुरुसन्दोहसिद्धये ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवानार्यचरणैरुपकारेण सेव्यमानो भगवन्निजोपदेष्टुं किमिदं फलं दासति भुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्भगवानार्यः सेवसिद्धौ फलं निरूपयति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्णेनोक्ता 'सेवसाधनं सेवे'ति तत्सिद्धौ फलं यत् फलं भवति तदुच्यते ।

अस्य सर्वस्य गुणार्थलाभिरूपमपि श्रीमदानार्यः कृतवान् ।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादस्तुष्टायेत्येकमप्यमवाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति विविध्याद्विरुत्ते सेवानार्यः फलव्यवहित्युक्तम् ।

तथोचनं फलमाहुः आलौकिकसाधनार्थमिति । भगवता सह बानादी सामर्थ्यं, सुखानामिव । मन्त्रं फलमाहुः साधुत्वमिति । सह सुवर्णमिति सधुर्ह, सधुर्हो मायः साधुत्वं सहमात्रं, गोपानमिव । साधारणं फलमाहुः सेवोपयोगी देहो येकगुणान्वितिरिति । आदिपदोद्भूतेषु उक्तवादीनामिव ।

सेवसिद्धौ यत्नां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं कृपादयति तदा फलविषयको मनोरथोन्मोदोति दिव्यतीलाहुः आलौकिकम्वेति ।

आलौकिकस्य यानि हि भाषाः सिध्यन्मनोरथाः ॥ १ ॥

आलौकिकस्य योग्यस्य स्वीकारदेवनि सति अधिकारकृपणी यत्नां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । इति गुणभाषनम् । यत् फलं साधनानां साधनसाधनसत् । योग्यम् ।

१ साधनविशेषः । २ सेवसाधनविशेषः । ३ पूर्वोक्तं साधनविशेषः ।

चात्त्य इतिपठे साधारणदीनमध्यमयोः कथयित्तिद्यावपि भगवद्दानं विनोक्तं फलं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

फलकर्मवशादहं कदाचिद्भवेदित्याद्यन्वाहुः फलं चेति ।

फलं वा साधिकारो वा न फललोत्र नियामकः ।

मदनानन्दरक्षणफले उदयिभरयोः फललो नियामको दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः ।

सेवाविद्धौ व्यनसत्या फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्वाहुः उदेग इति ।

उदेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा ख्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां क्रियमाणापमन्यस्य भगवोच्छादिकदेगः । सेवातमये लौकिकनीतिकार्यान्तासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः । भोगो निषागम् ।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकः । तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । लौकिको लोकसिद्धः । यदा लोकाः स्तर्ष-मुत्पादयन् पदादीनामीव योगं कुर्वन्ति स लौकिको मुक्त्या त्याज्यः । एतेषु भुविस्मृतिपुराणादिभिद्धौ भोगो व्यावर्तितः । अलौकिको भगवत्तः आम्बरीषादेरिव । स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु त्रयमफले प्रविशति, यदा सेवोपयोगिदेहं दत्त्वा तेषां कारयित्वा प्रसारत्वेन दानार्तां योगं कारयति भगवान् स अलौकिकभोगो न त्याज्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः । स मुक्त्या त्याज्यः । यस्त यत्साधनस्य च श्रोतारो न सम्भवति स भगवत्कृतः । स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेदु गतिर्न हि ।

यथा वा तत्प्रवर्तिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः । अत्र शोकस्य निवारणं भगवत्कृतश्रेयसितारण्य विवेक इत्यन्तम् । तद्वान्वशेषाणि व्यर्थेति । महादेवभारदादीनां यकिदात्त्वमवदान्महादेवादिश्रेयसा सेवातत्फलसिद्धिर्दिनिष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवाणि स्वर्गा, नैतरत्नसाधनित्येवार्थः । तदेति । तदा आसुरः आसुरावेशवान् आसुरावयवान् चार्थं जीय इति निर्धारो नियम इत्यर्थः । जीमस्तासुरासेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदा कथं समं भवतीति शोकाभावात् नवकानीयः श्रेष्ठया तर्षं ददाति मम प्रत्येय मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञातव्यार्थेन धनमनननिर्दिध्यासनानि कुर्वता योगमित्यर्थः । यथा तद्वर्तिर्धारो भवति तस्यैव विवेको वा साधने इत्यर्थः । अत्रात्र साधकः । दुःखंवाद् पादिसुखे मत्तापराधे च भगवान् प्रतिपन्न करोति तदा अन्यसेवया शतो वा मुक्त्यं फलं न भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु साधारणो हीनोऽपि भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशङ्क्याहुः
सन्निमोल्पो घातकः इति ।

सन्निमोल्पो घातकः स्याद् कलादेनौ सदा मती ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिवृत्त्यात् ॥ ४ ॥

साधकानां परित्यागो भोगेष्वेकः तथा परम् ।

निःशून्यहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ५ ॥

सुखिप्रत्यहं सर्वथा न स्थितिः । जायमानोऽप्यस्तमुज्ज्वलनश्च भवति, भावघातमपि
भवति, अतस्त्याज्यः । ननु साधकानां चित्तेनैव भोगप्रतिपन्नकर्मोपायकलमिलात्
आहुः साधकानेति भोगप्रतिपन्नी वस्तुसाधनार्थेय प्रतिपन्नकर्म उपायानित्यर्थः ।
साधकानामिति श्लोक एवं योजनीयः । साधकानां परित्यागः कर्तव्यः । भोगेष्वेकं
परमुत्कृष्टमेकं भोगं विहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो विजयहृदं यथा साधक
महान् भोगः प्रथमे प्रतिगृह्णीत । पूर्वं व्याख्यानमेका । ज्ञानस्थितीति । ज्ञानमार्गेण
सिद्धापरि प्रतिपन्ने वा चिन्ता तदभावात्परिमितार्थः । अतस्तं भावः । पूर्वं ज्ञानमार्गेण साध-
नमित्युक्तम् । अतस्तं श्रीकृष्णप्रसादान्नामानुक्तिरपि न भवतीति स्वसंसारनिवृत्त्यात्
कलार्थे चिन्ता न कर्तव्येत्यापी । ननु पूर्वमुक्तोपायः साधकं कर्म कर्म न भवेदित्याशं-
क्याहुः आद्येति । आद्येन भगवता समवस्तुनवतिपन्नेन कलामात्रे साधकान्मनोविषा-
कतया कलसाभावात् सा सेवा साधित्विनी, साधकान्मनोविषाकतया कलामेति
भक्त्यासाधिता भगवत्सेवा न मन्येत तदा वा सेवा साधित्विनी भवति, भगवद्भक्तिनी
न भवति । साधित्विनीया एतत्कलसाधकत्वात् । भोगेति । सुखपरित्यागः
सदा कल कल साधित्वि चिन्ता संसारनिवृत्त्यात् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥
ननु प्रतिपन्नसाधारणभोगेनैव कलैति साधककलैव कल साधित्वार्थेन्याहुः न
त्याज्ये इति ।

न त्याज्ये दाहता नास्ति तृतीये साधकः पृथक् ।

अपश्येयं सदा भाष्या सर्वमन्यमनोभ्रमः ॥ ६ ॥

आद्ये साधकतुल्यतिपन्ने भगवतो दाहता नास्ति । तृतीये साधारणभोगे
पृथक्कर्मोपायेत्यर्थः । अपश्येयमिति । एवं चिन्तित्वत्तत्, कर्तुमशक्यमिति कलार्थे सदा
कर्तव्यत्वेन भाष्या । अन्यत् सर्वसाधन मनोभ्रमः व्याप्त्यर्थेतित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयान् सदा एतत्कल प्रतिपन्ने किमर्थं पूर्णं कर्मवित्याशङ्क्याहुः
नदीचरिति ।

तदीधैरपि तस् कार्यं सुखी नैव विलम्बयेत् ।

ननुवदीधैरपि पूर्वोक्तश्रावने कार्यम् । नर्षादाभावंपीनश्रान् । ननु मल्लिकार्जुनवेद्य-
पात्रेण कश्चित् कलं रक्षय इत्यत आहुः सुष्टानिति । सुष्टर्षणीकरो नु मयवान् विलम्ब-
नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं कलतिष्ठितिर्यः ।

रत्नशोभोन्मां ननुतः क्षोभेति एतदेव शापने कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः शुण-
क्षोभेपीति ।

शुणक्षोभेति द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मम निवप एतवानेवेत्यहुः मे मतिरिति ॥ ७ ॥

ननु शापनानां कृत्वां सत्ताम् किमिति एतदेव शापनमित्यत आहुः कुस्तुष्टिरयेति ।

कुस्तुष्टिरज या काचिदुत्पद्येत स ये भ्रमः ॥ ७॥ ॥

भ्रमस्तिन्मले कुस्तुष्टिः कुत्तिलानां शापनानां वा दृष्टिः कल्पना उत्पन्ना सन्त
ता भ्रम एव इत्यर्थः ॥ ७॥ ॥

सेवाकलोक्तिविदुः शाचार्याणां यथागतिः ।

ज्ञाता कल्याणरूपेण विदुः समुखाय च ॥ १ ॥

इति श्रीमहम्मदचरणीकलान्नीकल्याणरायविरचिता सेवाकलोक्ति-
विदुः समाप्ता ।

11/10/2014 11:11

श्रीगौरीजनबल्लभान नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणवन्देभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

वाचाश्रीगोपेशविरचितविश्रुतिटिप्पणीसमेतम् ।

श्रुत्वा तत्रैतद्विषयमाहः सेनायाः वानसंनिपातकमिति विद्यामनुकृत्या सीमा-
पार्ययत्नोक्तनिषन्धे तु यत्किं शतम्त्या मुक्ता न दुर्लभेति न सोम्यत इत्युक्ते शब्दिशब्दान्
स्वावृत्तिरिति ।

यादृशी सेवाया प्रोवादा तद्विषयी फलसुख्यते ।

पादथी सेवना योजना तल्लिख्ती केल्लुच्यत ।

पादथी पयसर्जिका सेवना सेवा योजका सप्तवेपु पुश्तिविपुश्तिर्यादापयी-
रादेरेया विविबोळा तल्लिख्ती केलां साकलवननकरूपयोमत्तापी सतां तळकारणे
फसमुच्यत हत्येः ।

कलमुच्यत इत्यर्थः ।
तत्र प्रथम भाष्यार्थं निरूपयितुं निवेदनपूर्वकं तमेव शब्देन विनियोगे हेमि
नले वस्तुत्वं कलं भवति तद्वदुः ।

अष्टौक्तिकस्य दाने हि श्राव्यः सिल्वेन्मनोरथः ॥ १ ॥

[illegible]

एवं बुधिसिंहिनयनस्य फलमुत्पत्त्या बुधिसिंहोदात्मनोदात्मनयोः फलानाहुः ।
 त्रिभुवनोदात्मनोदात्मनयोः फलानाहुः ।

कालं वा दधिकारो वा न कालोत्र निषाधकः ।

कलं वा दधिकारी यो न कालान्तरं निवेद्यते ।
कलं पुष्टिद्योतमानानुत्तं पुष्टिर्षादयमवयवमिवर्कः । येनपदो । अधिकारो

रमाद्याभिलषैकुण्डभूतोदयेतस्मिन् भगवतोपायोम्भेदइति । सर्पाद्यामन्यकठमित्यर्थः ।
नेति । अत्र कठनये कालो न प्रतिपन्नक इत्यर्थः ।

विशुद्धी सेवायां कलत्रप्रमल्लौकिकसामर्थ्यं साधुज्यं सेवीपथिकदेहो
वैकुण्ठादिचिन्तनेन निधामक इत्यन्वयान्नो व्याख्यातः । अलौकिकसामर्थ्यं
अलौकिकजननानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः ।

मूले सेवाया प्रतिपन्नकत्वमप्युक्ताह ।

उद्वेगः प्रतिपन्नो वा भोगो वा ख्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः भयमे कीदृशे नश्यद्भयसेवाया च यथाव्याधिननिवापाद्येन सती
प्रवर्तमानावापिन्द्रियाणां प्रसन्न प्रवर्तनाद्विधेय इत्यर्थः । प्रतिपन्नो वेदनिन्दा म्लेच्छन
लिष्टपट्टिर्गुणजनितोद्वेगश्च, साधारणो भगवत्कृतो पाटिर्गुणरूपमेति द्विधो
वीत्यर्थः । भोगो रूपरसगन्धस्पर्शस्यार्था लौकिकनिषाणामसाधनं सेवमित्यर्थः ।
रिपिति । साधनं तु प्रतिपन्नकं भवेदेव । कलत्रस्तु न सादित्यर्थः ।

विशुद्धी सेवाया प्रतिपन्नकत्वार्थं उद्वेगः प्रतिपन्नो वा भोगो वेत्तनेन
बाधकमित्यन्वयान्नो व्याख्यातः ॥ २ ॥

मूले त्रीकारमाहु बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकः तथा परम् ।

निष्पत्त्युक्तं महात् भोगः प्रथमे विद्यते सदा ॥ ३ ॥

बाधकानामुद्वेगसाधनप्रतिपन्नलौकिकभोगसाधनानां परित्यागः कर्तव्य
इत्यर्थः । अत्र उद्वेगसाधनं प्रथमेश्चिन्तनम् । वेदनिन्दाया म्लेच्छकृतोद्वेगस्य
पट्टिपट्टिर्गुणतोषसाधनं च अनन्तम् साधारणप्रतिपन्नसाधनं सस्तिन् वैकल्यस्युक्तिं
निपन्नो इत्यर्थविधेयः । लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शस्यार्था । तथा च
दत्ताभयनयनं सावेदित्यर्थः । लौकिकलौकिकसाधनयोर्लौकिकभोगसाधनस्य त्याग
कर्तव्यो न लौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः भोग इति । भोगे दत्ताभयनयनं लौकिकं
तथा साध्य लौकिकभोगरूप प्रतिपन्नजननात् सकल्पमित्यर्थः । परं द्वितीय साधनं पूर्वोक्तमे
मान्यसेवाफल निष्पत्त्युक्तं निर्गतं ब्रह्म प्रतिपन्नो भोगो परमात्मनः । एवम् त्यागहेतो
प्रतिपन्नसाधननात् सकल्पमित्यर्थः । ननु वीर्य प्रतिपन्न इत्युक्तम् । तथा च उद्वेगनात्
यस्य न सकल्पकत्वात् । महात्ति । पूर्वोक्तमेवान्धसेवात्वात् साधनं कारयित्वा
भयवत्ता दत्तो ह्युत्तरेषु पञ्चविधेषु भगवत्कृतो 'यव ह्यु च' मित्यादिसा निरूपितस्य मनो
रमस्य निपत्तमापन्नो भोगो महात् सोऽयम् एवेत्यर्थः । कथमित्यन्वयमत्र आहुः प्रथम

इति । प्रथमे उच्यते विज्ञाने त्रिविधे भवति । तथा च फलरूपः । अत एव न त्रिविधरूप इति । तत्राद्येन न सक्तव्यमिति भावः । शक्तिस्तु त्रिविधैर्गोचरं न तु महाफलमिति श्रीमद्वा-
चार्पचरणीकैराहुतन्त्रेयेति हि । भोग्येपीत्यनुस्यूतं शक्तिव्येष्टेष्टमेव सत्तत्त्वम् ।
द्वितीयस्तु त्रैलोक्यकृतत्वेन तत्त्वस्यैव शक्तिविभाषापमानत्वादिति व्येष्टम् ।

विपुली भगवत्कृतसाधनपरिव्यापः कर्तव्यः । भोग्यो द्विविधः । साधा-
रण्यो भगवत्कृतश्च । तत्राद्यो मुख्यो व्याप्यः । असीक्तानोवास्तु फलानां
मध्यमे प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विज्ञान इत्यन्तर्गम्यो व्याख्यातः । अस्यानां साधनेति
साधनपरिव्याप्यत्वेऽप्येवमेव न वेदताः पुनस्तत्रो न सादित्याद्यः । तथा च सर्वैकतितयस्य
त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः । व्याप्य एवेति । त्रैलोक्य-
भोगस्तु अक्षिप्तं व्याप्य एव, परन्तु असीक्तस्य न व्याप्य इत्युच्यते । तत्राद्य इति ।
साधनसहितव्याप्यः । तथा च साधारणप्रतिपन्नसाधनस्य सर्वविशेषस्य मुख्यो व्याप्यः
समाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

सूत्रे भगवत्कृतप्रतिपक्षे चत् कर्तव्यं तद्वदुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेदतिर्न हि ।

हि निश्चयेन सर्वथा सर्वप्रसारीभगवतः सर्वतमर्पस्यापि चेदकर्तव्यं फलदानं
न निश्चीयितं चेदित्यर्थः । ननु भगवद्वीपकुलोत्पन्नस्य निश्चयिष्यतायां बाल्ये कुलभगवत्सोपा-
यश्लाघनसहस्रान्तासाधनान्तासाधनैर्मूलवद्विर्मुक्तस्यस्यपि 'त्रैलोक्यं साधनं विपुलः परमार्थस्य-
दुष्टिना'दितिवचनात् त्रैलोक्ये निश्चयेन ह्येव कुर्वतु किं सादरभातुः मतिर्न हीति ।
प्रतिपन्नस्य साधनसूत्रसाधनसत्तायाव इत्यर्थः ।

विपुली भगवत्कृतस्यैव प्रतिपन्नस्यैव भगवान् फलं न दास्यतीति
अन्तर्गम्यम् । तद्व्याप्यस्यैवपि व्यप्यत्वेन 'नही'त्यन्ते व्यप्ये व्याख्यातः । तत्राद्योक्त-
नियम्ये 'सर्वथा चेद्विरुद्धं न भवितुमिति यत्तु हि । कस्य सर्वमप्यप्यं स्यात्तर्ग्येतिपुन-
रात्म्ये'ति सूत्रमुक्त्या साधनेव व्याप्यवद्विने 'समय न सर्वेषां सुखफलविकारः, किन्तु
नेतु भगवत्कृतम् । कृपापरिज्ञानं च सर्वमप्यं निधीयत' इत्यनेन । इत्यन्तर्गम्यार्थपरिवे-
भगवत्कृतव्यप्यः । इत्येव वाद्विर्मुक्तमिति विभाषणीयम् । 'दुष्टिमेवमप्यप्यं वाद्व्यप्यं
सर्वैरिति'ति श्रीमद्वाचार्पचरणीकैरेव येन साधु कर्म करपति तं वनेवो होयेव्य
उल्लिखीयति एव त द्वासाद्यु कर्म करपति तं वनेवो निश्चीक्री'तिपुन्यं भगवत्कृतस्य-
प्रवर्धनेनासुरादेवं सम्पद्य वाद्विर्मुक्तं प्रतिपन्नं करोतीत्यप्यन्यथा निरन्तामनुसन्धेयम् ।

तदान्धेति । यदा पाहिर्मुख्यमाभिर्भूतं तदा कुला तु न्यर्थम् । किन्तुन्या वैश्ये कृता शानि
न्यर्था निःपत्तेरर्थः ।

गुह्ये यत्नः नरं तेन विं निर्धेयमत आहूः ।

यथा वा तत्परिनिर्धारो विधेयः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

यथा वत्सहारको या विकल्पेन सम्प्रतिर्धारसाजीवनिष्ठसातुरत्वस निश्चयः । तया च शब्देशासुरत्वनैर्गणिकासुरत्वयोर्षोऽस्मासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विधेको ज्ञानं साधनं श्लोकानुल्लसौ कारणं मतं सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः । चेति विकल्पवाचकस्यैव देहरीरित्यप्येवोपपन्नमिति । तया च तत्त्वनिर्धारणेति वैकल्पिकः, साधनमिति वैकल्पिक-मेव । इत्यन्वायेनासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संशुद्धिरिति नाह । वक्ष्यन्ति येनमर्ष-
द्वितीये सर्वप्रमाणेन ।

विदुषी तदा आसुरोऽयं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तत्त्वं
शोकाभावादेति विवेक इत्यनेन मतमित्यन्ताग्रन्थो व्याख्यातः । तदेति । यदा
चादित्यस्य भाविर्भूतं तद्विषयः । विवेकः साधनमिति व्याचक्षते । तदा ज्ञानमेवेति । यद्यपि-
यस्तुलनिर्धारसादा ज्ञानमार्गेण ज्ञानजनकोत्पादेन स्यात्तत्त्वं वर्तितव्यम् । शोका-
भावाच्च शोकस्तुलस्या इति । अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं मया लीक्यः । तदा च सप्त-
लोकस्थितिरग्रग्रन्थो वा नास्ति फलमिति भावः । यद्यप्येवंविधपदुर्गमः समानेवर्तितव्यो-
न्येतन्नः प्रैविज्ञतां, सा क्षतिः । तस्मात् समानेवर्गमवगच्छतेतोऽन्तुरूपमिति तदुक्तव्यम् ।
इदं वाः श्रीमदाचार्यवरणासादेऽनुपदिशन्तीति श्रेयम् ॥ ७ ॥

मूले लीलाकमोयस्य सभाष्यमतिचन्द्राय च त्यागे प्रयोजनं कृतमाहुः ।

सविभोन्नो धातवः ष्याद्भुतादेर्लो सदा मती ।

सवित्रं धर्मान्याधितुमर्हति । अल्पं धातुतरनिनादित्यर्थः ।
साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः । साधारणप्रतिपन्नस्य तद्वत्तादातेति ।
पातकः पातजनकः । मन्त्रात् सामर्थ्यात् । स्वसत् मनेत् । तथा च साधारण-
प्रतिपन्नो पञ्चदशपातकः सादित्यर्थः । तथा हि वेदनिन्दात्मकं पञ्चदशं दानेन
जन्मरूपं पातं करोति । मन्त्रेण च दानेन पुण्येण च तदस्य सर्वसहानि कर्तव्यानि
च पञ्चदशं पुण्यं । अतो देवोः साधारणप्रतिपन्नोत्पत्त्याद् सवित्रस्यापि भोगः सदा
निर्गन्तव्येति प्रतिपन्नत्वात् । अतो साधारणप्रतिपन्नोत्पत्त्याद् सवित्रस्यापि भोगः सदा

तिसृतां स्नाधारणो भोगः कथं लक्ष्य इत्याकांक्षापामाह सपि-
मोरुषो पालकः ग्यादिति । सविमत्वाद्दत्तत्वाद्भोगस्त्याज्यः । ९०

सदा प्रतिपन्धफावित्यनेन भूतानित्यन्तज्जन्थो व्याख्यातः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दार्थः साधारणप्रतिपन्धः भौगो लीकितकृतस्यदिसेवनं कथं पुनो हेतोरित्यर्थः । सचिन्मत्वादिति । द्वाभ्यामाभ्यां हेतुभ्यां शीघ्रस्तज्जन्थः । शिष्टाद् फलकत्वरूपाहेतोः साधारणः प्रतिपन्धस्तज्जन्थ इत्याशयः । ननु सुविमलगत्यत्वं च भोगात्कर्षजनकम्, न तु सेवायाः । तथा साधारणप्रतिपन्धनिष्ठं फलकत्वं चतुर्थ-
मेन्द्राप्रकारजनकम्, न तु विशिष्टं सेवाया एवेति नियमयोः साधप्रयोजकं रूपमिच्छाश-
कायमाहुः घृताविति । प्रतिपन्धफलमेव साधप्रयोजकम् । सुविमलादिकथनं तु योगसाधारणप्रतिपन्धस्यदोषोदाहरणार्थम् । तथा च सेवाप्रतिपन्धफलाद् साज्जनेन । निर्दोषदुष्टत्वादपि साज्जावित्याशयोक्तुमन्येव ।

कानेशसुरस विवेकतापनमिति श्रापुडनिदानीं निरर्गितासुरस का गतिरिच्छाका-
शावानाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याग्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अस्तीत्यविकार एव भगवताऽसुरसम्पादनाद्वैतार्गिकसुरः । तथा च भगवान्
वस्मिन् सदानीमेव स्वमार्गाद् सर्वशास्त्रानिजगत्सर्वेषां कष्टिर्मुक्तकथनप्रतिपन्धं कृतवान् ।
इत्यथ वेदनिन्दारिसाधारणप्रतिपन्धाद् द्वितीये भगवत्सुते सर्वविधप्रतिपन्धे निर्धारिते
सतीत्यर्थः । चिन्ता जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्येव केन प्रकारेण स्यादिति विचारः सर्वथा
सर्वप्रकारेण प्रमाणीकृतमिष्येति भावः । सा साज्जा न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसार-
निश्चयात् । संसारेपर्यभावेन विधितत्वादित्यर्थः । तथा च 'द्वैती सम्प्रतिमोक्षात्'
'निपन्धतापहृती मता' इत्यादिप्रमाणैः साक्षादपरिहर्ष्ये न त्वं शोषितुमर्हसी'त्यादिमाना-
निकमुक्तिविशेषः समाधिः सम्पादनीय इति ज्ञातः ।

निवृत्ती ज्ञानस्वित्वाभावे चिन्ताऽभावाव्येमाह द्वितीय इति । द्वितीयो
भगवत्कृतः प्रतिपन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तज्जन्थो व्याख्यातः । ज्ञानेति ।
'ननुपि च निवृत्ति च जना न निवृत्तसुरा' इति भगवद्वचनात् सदनासुरस्य ज्ञानमार्गेति
स्तिर्निरेव्यतीत्यशयः ॥ ५ ॥

सुते 'अतीकितस्य दाने क्षी'त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्याद्यां मनोरथा वच्छते
नेवेदित्युक्तम् । यदि स न सिन्नेत् कदा का गतिरित्यन्तज्जन्थो व्याख्यातः ।

न त्वाये दातृता नास्ति तृतीये पापकं यद्वा ।

नाये स्थित्यन्धः । तथा पापमये स्थित्यर्थः । इत्यथ वरकृतमनोरथमने तु
भगवतो वरकानन्ददित्या नास्तीति भावः ।

विपुली आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा
नाभिदैविकीर्युक्तं भवतीत्यनेन नास्तीत्यन्वयः व्याख्यातः । न त्वाय इति
मृत्माद्यफलाभाव इत्यनेन व्याख्या दातृता नास्तीति मृत् व्याचक्षते
भगवतो दातृत्वं नास्तीति । कतिचार्यमाहुः तदेति । यदा कलत्रद्वितस्र मन्त्रोप-
स्थाभापसदापिदैविकीसेवाभवनाभ्यो न भवेदिति । नयमर्पो न त्वायै दातृता
नास्तीति मृदेन कथितोस्तीत्यर्थः । इत्ययं प्रेमान्तसेवया युक्तोत्तमसाधुर्न भवतीति
मायः ।

गृहे साधकानां परित्यागइत्यनेन तत्साधनस्यागर्हकत्वाभक्तिपन्थकत्वान्न
उक्तः । तत्र दैविकयोगसाधनीभूतरूपरसवगन्धस्पर्शव्यानां त्वामे इतिपन्थकमाहुः तृतीयै
साधकै रूहन् । भोगस्य तृतीयप्रतिपन्थकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्या-
गोपि तृतीयः परित्यागः । तथा च तस्मिन् गृहे प्रतिपन्थकमित्यर्थः । इत्ययं कृतादित्यागो
रूहत्यागधीन इति मायः ।

विपुली भोगाभापस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृह-
मित्रान्त्वमन्यो व्याख्यातः । भोगेति । भोगाभावाः तत्तत्पद्मभोगपरित्याग इत्यर्थः ।

मृदे पुष्टिपुष्टिभिरर्वादाभर्वादाभवनानां कठं इतिपन्थकं तत्पत्नीकारं पोष्या
व्याख्यातं वेदानीं सेवीमुपदिशति ।

अथइत्येवं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अथदया सास वरदा न । तथा च साकृत्संसाध्या भगवदनुग्रहेकसम्पत्तेरिति
भावः । इयं श्रीमदाचार्याणां इति अनवरतमुत्पद्यमानत्वाद् साक्षात्कृतत्वरूपं साधनात्मानं
मानसी सेवा, सदा मित्रारं, भाव्या सम्पादनीयेत्यर्थः । तथा च साकृत्साधनसाधनी-
भूतत्वनिष्ठेपसिध्यैर्मनवरत भावना कर्तव्येतादृशः । इत्येव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः
सर्वमिति । यतश्च यदपत्तं किञ्चित् जमाकृतमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भवना-
नन्दार्पणसाधित्वाद् भ्रम एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि चतुरादिभिर्निद्रियैः किं सम्पादनीयमित्थंकांक्षाकमाहुः ।

तदीपरपि तत्कार्यं पुष्टी नैव विराम्ययेत् ।

मनसोऽनुपरीमभुप्रादिभिर्निद्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम् । तथा च
श्रीमदाचार्यमार्गवक्ष्यतावादविषये वेत्त्यस्तदीभ्यस्त्रिगुणैर्यत्कल्पयतिमातृस्य वा भगवतो
दर्शनसेवादिना अत्यन्तमन्येव मनःकार्यरूपं भावनारूपं मानसी सेवा सम्पादनीयेति-
मायः । इत्ययं चतुरादिसर्वेन्द्रियैरपि असाध्याभावे भवतीति सम्पादनीयो, 'भगवता
सह संताप' इत्याहुत्तमस्येति ध्येयम् । ननु किमपिचर्येवंकृतिलभ्यात् उच्यतेति ।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्त्वस्वेन भवेत्तु नितम्बं कुर्वादिद्वयः ।
 क्या न माधोलतिर्ष्वन्तमेवंदुतिरिति भावः ।

काङ्क्षितोपि दोषः परिहरणीय इति चापात् कदाचित् कमपि प्रतिपन्नकमाशङ्क्य
 तत्कालीनामाहुः ।

गुणशोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणाः प्राकृतसत्त्वस्वसमाश्रित्य, तत्कृतशोभो मर्तान्तररुचिः, शीबिकविषयशोभित-
 न्मार्गारूप इत्यर्थः । एतदेवात्मदुक्तं 'मपरमेयं तदे'ति तत्रमेव द्रष्टव्यम् । तथा पैतृसप्तौक-
 क्षापथेनैव सर्वप्रतिपन्ननिवृत्तिरिति भावः । ननु सत्त्वं प्राकृतगुणेषु निरन्तरकिञ्चनानामपि
 माधवार्थां भावो मोक्षस्यत इति चेत् ? असम् । यावत्कालं मनस्वाविर्भूय मन्यमान्तःकर-
 नमन्यको न सति तद्वदविद्याया विद्यमानत्वात् गुणा अपि सन्ति । तथा पारिशर्षेव-
 हृती कृतास्तुर्भवात्वाविर्भूतान्तःकरपदसम्बद्धः सन् भविष्यमेव गच्छेत्, तदा सुखा
 गुणमात्रः, शोभो निरन्तराया माधोलतिरिति भवेत् ॥ ७ ॥

शोकप्रमेये निःसन्दिहानेनैव शोभमिति साधुपरिच्छिद ।

कुसुमिद्वयं वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

कुसुमिद्वयः दृष्टमात्रः, अत्रात्मदुष्टी, वेत्तनादरे, वस्तुतस्तु मोक्षस्यत एवे-
 त्याशयः । काचिदुत्पद्येत भगवदस्वरूपनिपन्नसर्वविकल्पमुत्पादेन वा काचिदुत्पद्येत
 चापेत चेत्, वै निश्चयेन, स तु भ्रम एव ज्ञानिरेवेत्यर्थः । तथाप्येवमप्येतत्प्रमान-
 विवेकदर्शनमास्तत्तदिति विस्तरेति भावः ॥ ८ ॥

इति श्रीविद्वत्सेनारत्नमज्जीवनदयामतनयश्रीमोपेक्षमोक्षानिविरचिता
 शेषाकलविद्वत्तिरिष्यणी सम्पूर्णा ॥

धीरुष्ण्याय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविश्रुतिटिप्पणीसमेतम् ।

कल्याणार्थचरणचरणं शरणं मम । कल्याणे तुल्ये सेवाफलं कृष्णः प्रदच्छति ॥ १ ॥

ननु कृतप्रयुक्तार्थत्वेन कियमात्रसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यते इति चेत् । इत्यन् । यावद्भीषं तथा कियमात्रसेवा देहावस्थाने जीवस्य या गतिर्भवति सा च फलमप्येवोच्यते । यद्य फलमाधुनिकमवनादुत्पन्नवर्तमानमात्रमपि किमुनवानन्दप्रदं भवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमापाति चेत् फलान्तरत्वमुच्येत । 'यं यं वापि स्पर्शं भावं सजसन्ने कलेवर'मिति यमवद्वचना'दन्ते वा यतिः सा यति'रिति न्यायात् सेवाफलं तेनैवेति नोक्तविरोधः शङ्कनीयः । तुम् कौश्यां किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किमिदं श्रमतश्चिह्नं क्व चार्थः सतिः शैर्निर्निरूप्य सुगमत्वात् शक्यमेव विवृण्वन्ति ।

पादशी सेवना प्रोक्ता तस्मिन्ही फलमुच्यते ।

पादशी सेवनेति । प्रोक्तैति । अपेक्षयाद्वयम् । तेन स्वसिद्धान्ते पादशी सेवना यथा प्रोक्ता, तादृशी सेवना विचारे यत्प्रमाणकलापिका भवति, न तु प्रमाणा-न्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा । अन्यथा तत्र तत्र कथिदुष्टा प्रसिद्धा भवेत् । अत्र तु साधारण्यार्थोक्त्यादप्रमवसाधिकृत्या न कापिद्वर्षभावनेति ज्ञाप्यते । सति पाद-शीषमनिन्देन कृत्वा, शफलद्वयं तु कियमात्रं कृत्वा, परिपक्वायैत्याहुः तस्मिन्ही-ति । सिद्धिरत्र वाच्यार्थं निर्वाहः । तदुक्त्याचार्यचरणैः 'सेवायां वा कल्याणं वै'ति । फलमिति । एकवचने पित्र्यामिषायेवेत्याहुः सेवायां फलत्वमिति । यत्तार्थं भावः । भक्तिमार्गे बुद्धिमर्मादप्राप्त्यहमेदेन जीवेषु भगवद्दीक्षाकरः विविधः । तेनापिप्रतिभेदेन सेवा विविधा, ततः फलमपि विविधं कथ्येवोक्तम् । तत्रार्थे बुद्धिसेवाफलमाहुः आसीदिक-साधारण्यमिति । नवायगायकः । श्रीमद्भगवत्सोक्तरीत्या सर्वस्वमानेकलक्ष्यभजनानन्दा-नुभवकथनं फलमसीदिकमुच्यते । तस्मैवरमयाणां चरणचरितरसाधनशाप्यस्वमतीरि-कृतम् । तदनुभवमोमयात्तद्वृत्तेभिकारम् सामर्थ्यभेदेनोक्तः । तस्मात्तनोचत्वात् तत्तौक्तिः । द्वितीयफलं सायुज्यम् । तदत्र पुण्योक्त्यै वेदितव्यम्, न तद्वृत्ते । अह-सायुज्यं तु केवलमर्पादायां ज्ञानादिनामि भवतीति ततः बुद्धिसेवकमननरकलात् । सायुज्यानन्तरमपि बुद्ध्या कदाचिदाद्यमतीरितं फलमपि भगवान् प्रपञ्चेदितमपि ज्ञेयम् ।

अन्यथा दुष्टितेपापत्वं साधुज्यमार्थं न वदेत्तु । मत्तु तद्वाच्यमप्या भवताम् । 'ने वया मां प्रवचन्त' इति वचनविषयात् । तेन दुष्टिमर्षाद्यामायादी साधुज्यम्, नप्ये भवन्तानन्दानुभवः, अत्रे पुनः पूर्वसाधुज्यविस्तृक्तं वयति । अत्रे नप्यमकलत्वं । तुतीये फलं वैकुण्ठादिदेहः । आदिपदेन च्छावति तथा भावनायां तादृशदेहप्रतिष्ठः । तत्तात्त्विकनीपदेवमेव महत्त्वमेवोक्तः । अर्थाधिक्यमस्तु साधुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणकलत्वात्तत्त्वसाधुज्यत्वाच्च समाश्रयित एव स इत्यप्युच्यते । तत्र कदाचिन्नायफलसंभावेति साधारणकलत्वं । अत एव वैष्णवमतानामेकादस्यादीनां कलत्वेन सतिपुरात्वे तु एवोच्यते ।

तद्वा साधुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणाधिक्यत्वेन तदर्थं बीजव्यपः संवपति, आद्यकलत्वं तु लोकेपेक्षितत्वेन प्रमाणाप्योचरतात्वात् सतिप्रतिष्ठाप्यत्वं, यत् पुनः तत्तात्त्विकं तत्तात्त्विकं तत्तात्त्विकं, अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकत्वं दान इति ।

अलौकिकत्वं दाने हि चाप्यः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥ ॥

फलं वा साधिकारो वा न फललोभ निषामकः ।

अलौकिकत्वात्फलं तस्य दाने, अर्थाद्यमता कुले सति तन्मनोरथः सिध्येत्, न तन्मनोतीर्षः । आद्य इति । साधुज्यवैकुण्ठमनोरथमेव स आद्य इत्यर्थः । अरूप इति पठे वयति लीलात्मकतातिभासात्तुमर्षमेवफलसंवाप्तिमनोरथो बीजस्य साधनतः स्वस्वतत्वात् एव । अथर्वे चकारः । तथा फललोभे तदपि स्वतः महत्त्वात् न सिद्धिः । सिध्येदिति प्रार्थने तिङ् । आचार्यप्रार्थनाया प्रभुः सत्ताद्वेदेति भावः । आद्यकलत्वं स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह द्वितीयः । ननु वचनानि तादृशविकाराभावे मनोरथं कथं पूयेदित्यत आहुः न कलत्वं इति । अत फले इत्यधिकारे वा ॥ १॥ ॥

अथ प्रतिपन्नकथोक्तिरिह साधनदद्यात्तमेव । तदुक्तं वृत्ते वाचकानां परित्यागेति ।

वहेगः प्रतिपन्नो वा भोगो वा एतास्तु वाचकम् ॥ २ ॥

वाचकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्ययं महान् भोगः प्रथमे विद्यते सदा ॥ ३ ॥

तद्विषयं जगतां सामान्यपरित्याग इति । साधने सति स्वस्वतः सकृद-
श्रमत्वात् । भोगेऽप्येकविधविधि विद्यते सदेतन्नाविचार्य भोगो द्विविध इत्यस्य प्रविचारीत्यनेन । अतुष्टात्वेन सुखमेव मोक्षनीयम् । तत्वेदिति किमप्य-
मप्युच्यते । यथा प्रतिपन्नस्य एकत्वान्मोक्षो न, तथा भोगेऽपि एकं लीलात्मकं मोक्षं तत्वेदन्तमतीति न । एते निःप्रत्ययमुदयनन्तसाधकम् । एव हेतुः । महानिति । अलौ-
किकभोगः स्वस्वतो लीलात्वाच्चान्योपि फललोभत्वात्, अलौकिकत्वात् । अतो न तन्मन इति भावः । अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः प्रथम इति । प्रथमे साधुनिकमन्त्रे सदा निरन्तरं विद्यते, मन्त्रनिर्वाहकत्वेन तदेतन्नां अतीतीत्यर्थः । एतदेव निषयते स्मृतीकृतम् ।

अलौकिकभोगस्तु फलानां शेवाफलान्मूलवस्तुतां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिपन्ना-
यापस्तत्र निश्चतीति न तस्यायः । तथा चोपपादितमेकदशरुक्तेः । 'कामेन कामे'ति
श्लोकविवरणे ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं भगवत्कृतश्लोकारम्भ विवेक इत्य-
नेन । अयमर्थः । आमुस्मासि देशकल्पवदीवर्तने जाते शेवायां प्रवृत्तिर्नवति । तेन केव-
चित्कालोपाविशार्थप्रतिपत्त्ये जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम् । तेनामे फलमावय ।
तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिपन्नात् पूर्ण कृता सासि व्यर्थी । तस्मादुत्पत्तिर्निराश्रयः । तदा
तद्वर्तिष्यश्लोकभाषाया ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं मुक्ता स्थितिः विवेकः साधनम् । यद्यप्यामु-
प्रसंगेन न वक्तव्यम्, तथापि कश्चिदेव भगवदीनेत्यपि इत्येत चेत्तदा तथा नापनीयम्, न तु
स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रथी दोषतोषः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञापते ॥४॥

सविमोर्लपो पातकः स्याद् पलादेनौ सदा मती ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याग्या संसारनिवृत्त्यात् ॥ ५ ॥

न त्वाये दातृता नास्ति तृतीये पापकः सुहम् ।

सविमोर्लप इत्यस्य विवरणे सविमत्त्वादल्पत्त्वादिति । साधारणभोगः
सविमो विवसहितः । ताप्योप्यल्पः, लक्ष्यतः फलतः । सोऽपि न ज्ञपते चेत्तदा
पातकः शेवावतिष्यकः स्यात् । अतः सर्वथा त्याग्यत्वाद्दृष्टादामहादिति एतौ
साधारणभोगप्रतिपत्त्यर्थी मती, त्याग्यविविधेः । तदुक्त विवरणे सदा प्रति-
बन्धकाविति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिपत्त्यः । तत्र ज्ञानमार्गेण
कृतत्वमिति चिन्तानिरुक्तिरूपेण पूर्वमुक्तम् । तदस्येति साधनान्तामाहुः द्वितीये
सर्वथेति श्लोकार्थेन । तदायासो ज्ञानस्वित्त्वभावे चिन्ताभावावर्थाभावेति ।
तत्त्वतोऽपि द्वितीय इति । विषयमात्रफलान्मात्र इत्यादि नपनीयत्वम् ।
आपकः नीयस्य देयस्य, तदभावे भगवत्कृते दातृता नास्ति, तदा आप-
दैविकी फलान्पत्तिरिति शेवाति नेत्यर्थोक्तं भवति । तत्पूर्वं द्वितीयप्रतिपत्त्ये जाते
ज्ञात्वा सर्वोक्तकृतविषयिणी चिन्ता त्याग्या । तत्र साधारणो हेतुः । संसारनिवृत्त्या-
दिति । 'अनर्ह दिव्यः कुरात् फलान्तेषु तत्पत्त्या' इति भगवदुक्तसाधारण्य निवृत्त्या-
दन्वया न वपतीति सर्वथेष्टुक्तम् । न त्वाय इति । आये पुत्रोक्तसाधारण्यप्रतिपत्त्ये
दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वतीति, अतः कतिपये चिन्ता कर्तव्या, न तु
द्वितीय इव सर्वथा त्याग्येति भावः । एवमायद्वितीयोर्लपस्यामुत्पत्त्या तृतीयः साधारण-

श्लेषाकृतः प्रतिपन्नपक्षश्च कर्त्तव्यमाहुः । सुनीये चाधर्म्हं गृह्णमिति । अलौकिकनोवेग
साधारणयोगपरित्याग आनुपसंगिकः पूर्वमुक्तः । अन्यथा अलौकिकनोवेगो न स्यात् । उक्तयो
रेकाधिकरणत्वाभावात् । यदि साधारणयोगे साक्तं न कञ्चुकात् तदा सेवाप्रतिपन्नपक्षत्वेन
तन्मूलकस्य गृहं सत्वेदिरहास्येन तद्विरुद्धं न्योगान्माचस्तदेत्यादि ।

ननु सायतः प्रतिपन्नप्रतिपन्नविषयस्य सेवाया अस्मन्वे तदधिकारिणां कथं तत्फल-
शक्तिः । तदभावे च द्वितीयतुल्यता साह्य । नीयस्य देवत्वमपि व्यर्थं नयेत् । तत्सादृश
स्वाभौतिकतास्य किमिति न श्रूयत इति चेत्, इदमाभाति । सेवाधिकारिणां मध्ये येषां
गृहमनुकूलम्, तेषामन्यतः प्रतिपन्नः साधारणः, तेन प्रतिपुष्टिः कर्तुं शक्या । ततः सेवाया
तत्फलशक्तिः । नोपपद्यते तेषामप्रतिपन्नहेतुलौकिकत्वमिति पूर्वमुक्तम् । येषां पुनः
गृहमेव प्रतिपन्नकम्, तेषां तत्परित्यागदेव लौकिकसोचनियुक्तिः । सागोपि सम्भावनिष्-
सौकर्यकारेण भक्तिमार्गीयोऽप्येव, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा । एवं सति तत्फल-
माप्तिरपि तेषामनीयमित्यने तु नोच्यविरोधः शङ्कनीयः ॥ ५॥ ॥

अविमलौक्यपक्ष निरूपणाभावेन योचना ।

अवश्यमेवं सदा भाव्या सर्वमन्तर्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीपरिचयि तत् कार्यं गृही मैव विदित्यप्येत् ।

गुणश्रोत्रेभिः द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसुष्टिरस्य वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ८ ॥

इत्युक्तरीतिः । अवश्यं सत्ये भावितुमशक्याणि गदुकत्वात् सदा
भाव्या । अवश्यं भावेति वा । यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः । ततः विधि-
स्त आहुः कार्यमिति । उक्तरीतितोष्यत् सर्वं मनोभ्रम इति ज्ञायत इत्यर्थः ।
सर्वैः कर्ममेव गान्धीकृत्य इत्याशङ्क्याहुः तदीपरिति । भ्रमसंश्लेषवितादरीकात् कार्यं
कर्त्तव्यमित्यर्थः । भक्तिमार्गीयस्तु बहुकिमप्यन्यथां निरुद्धं न कर्त्तव्य इत्याहुः गृही
मैवेति । कदाचिदसुरस्यानि सेवाप्रतिपन्ने जातेति यत्तदुपपन्नमिति वा मैत्रलक्ष्यं
पुनरादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः गुणश्रोत्रेभ्योति । श्रोत्रोक्षुद्रादिः, स
तु गुणवस्तुसाधारणसुरस्यानि यजतीति गुणवस्तुत्वमेव । अत एतत्पुनरादिमेव तत्रापि
द्रष्टव्यं भावनीयमित्यर्थः । उक्तविश्लेषमेवाहुः मे मतिरिति । मतिः सम्मतिः ।
अवतारकत्वाहुः कुसुष्टिरिति ॥ ८ ॥

यवामपि कृता सेवाकालेतिप्रतिपुष्टी मया । स्त्रिन्वी सर्वश्रेष्ठः प्रकाशस्तु सर्वतः ॥ ९ ॥

यद्वातुपितं विविदलेति मतिमान्यतः । अन्वयः तत्राह्वयार्थः मिथी धीरतिविस्तृतम् २

इतिश्रीदेवकीवन्दनकृतता सेवाकालोचितविपुतिस्त्रिन्वी समाप्तः ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविश्रुतिसमेतम् ।

श्रीकृष्णं कुतर्दनं तदनु च श्रीवत्सालम्भान् निवृत्तम् ।

आचार्यानि च विद्वत्परायणं नत्वा प्रभुं सर्वथा ॥

श्रीगोविन्दमूर्तीपूजाविधायं कालं समर्प्य दत्वा ।

एवार्त्तं मरुतज्जातदेतुमायुना किंचिद्व्याप्त्यध्वनः ॥ १ ॥

अथ श्रीमहापादः स्त्रीयानां बहुलप्रणयलोकनप्रवासमसहमानाः सुश्लेषैश्च कामा-
दीपसेवाफलप्रतिफलपदानि निरूपयन्तः प्रथमं कालं निरूपयन्ति यादृशीं सेवयैति ।

यादृशीं सेवनां शोका तत्तिसङ्की कलमुच्यते ।

यादृशीं यादृशकालिणं कालपुरुषार्थत्वेन कालान्तर्निष्कन्देनात्यवकाशमन्वयेना-
करने मत्प्रवासजनकत्वज्ञानेन कियमात्रसंज्ञापनमूलकप्रतिश्रुतरोषादपयुक्तमात्रसंज्ञेना आ-
वृत्त्या सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुसपत्न्या फलरूपतया शोका निरूपिता शिक्षाना-
मुक्तवत्त्वा 'वैतस्तत्त्ववत् सेवे'ति । तस्याः तिस्रः पञ्चजीवनिर्बन्धेय मयमनिसृष्टिगु-
णतदासत्तया व्यवहनकरत्वसिद्धौ वत्फलं तदुत्साहं फलत्वेनाभिमन्य, तदुच्यते
निरूपयत इत्यर्थः । ननु सेवायाः सर्वत्र प्रत्येय फलरूपत्वोक्तेश्चकितोक्तिरनुपपत्तेस्तार्-
वणादुर्विचारे सेवायां फलजनयमिति । सेवावशेष कियमात्रावशेजनयं भवतीति ।
तदुच्यतेति सेवावशेन तन्मात्रव्यवहितया न तस्याः सत्पुरुषार्थस्वप्नानिर्दिष्टार्थः । अत-
एव सेवापत्रमित्यत्र पाद्रीमन्नायस सकली विचक्रिदक्य । तत्रपमेवाहुः अलौकिकसामर्थ्यं
कामुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठ्यादिमिति । तथालौकिकसामर्थ्यं हि मयापक-
कोटिसुखादिरूपसत्त्ववैतकालविरक्षायां सर्वलोकानिर्दिष्टस्य प्रयोर्हृदयवशेन तदनुभव-
सामर्थ्यम् । तत्र न श्रीरामोरे सम्भवतीति तदनुसामर्थ्यवत्परीरप्राप्तिर्मुन्या । सा च
प्रभुवैवाचाकरणेनैव सम्प्राप्य इति प्रभुर्वादिजालौकिकसरीरनिष्ठसकलप्रभुपदसमसामर्थ्य-
मेव प्रचलानतुरोधिप्रीयकसाध्यं मुख्यं फलवित्तर्कः । अत एवोक्तं प्रभुभिः शीवमुनां प्रति
प्रार्थयन्ति वैमास्तु तव कश्चिन्मि तनु कलामिति । नवर्त्तं च तादृक् श्राव्यमेव । अत एव
तनुवत्त्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति । तथा च यथा हनरस्थानां सर्वदा जीत्यनुग्रहानु-

काष्ठो वा निषामकः सत्पादिरूपः फट्टः कठिरूपः प्रतिपन्थको वा केतव्यैः । एतेन काष्ठानियम्यतेति तात्पर्यम् । नित्यत्वमपि सूचितम् । अत एव कतिहरेदैरेषां 'नो विविधो वेदि हेतिरिति' निरुक्तिरिति । अथ बाधव्युत्पत्तिरित्यस्यापि फलरूपतया तत्त्वमकश्ल-
शेषनाशः ।

एवं शेषाश्रयिकं फलमयं विविधं प्रतिपन्थकत्वं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यदि ।

उद्वेगः प्रतिपन्थो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

एते बाधकमित्येतन्नयनेन विज्ञातव्येन बाधकत्वेत्याशङ्क्याहुः विवरणे सेवायां प्रतिपन्थकत्वमिति । उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणमाशुस्फुटो वेगः सर्वथा समाप्तिरता धातुर्लक्ष्यमिति यावत् । स च सेवाया अनाविदिविकीलसन्नादकतया प्रतिपन्थकः । अस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः वेगलक्षणाधिकीत्यान्मागसीत्याभावेन प्रतिपन्थेनानाविदैर्विकीलतात् । एतद्वेगे निरूप्य प्रतिपन्थमोक्षी निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिपन्थस्यानियमत्वेन फट्टकवमनोपेक्षारूपत्वेन शेषं निरूपयन्ति भोगो विविध इति । शेषे द्विविधं लौकिकालौकिकयोरेवेति तदाहुः लौकिकोऽलौकिकश्चेति । तत्र लौकिके लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां अत आशयतया शेषः । अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी । स तु प्रतिपन्थक एव न भवति । तस्मात् फलतां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमपदेऽलौकिकस्यान्वयेन प्रभुसत्त्वानुभवस्वरूपसमोमे प्रवेष्टात् । यतः सर्वेन्द्रि-
यैस्तत्सम्बन्धितरूपैस्त्वदुत्पत्तिषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मः प्रभुर्वास्तुमूयत इति भावः । एवं शेषं निरूप्य प्रतिपन्थं निरूपयन्ति प्रतिपन्थोपीति । साधारणः सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिकपदार्थान्तरव्यापकः । मग्नस्तु प्रतिपन्थमाशुस्फुटवाप्रतिपन्थेना-
साधारणत्वादनित्यत्वेनावसक्तसम्बन्धतया अथ एव बाधकः उद्वेगलौकिकमेव साधारणप्र-
तिपन्थ इत्यर्थः । ननु कथमेतेषां भिन्नतां रक्षाम इत्याशङ्क्याहुः अयाणामिति । उद्वेग-
लौकिकयोगसाधारणप्रतिपन्थकतां अयाणां साधनं तत्त्वकतेषुत्पत्त्यां तस्य वरित्वात् कार्यम्,
हेतुभेदे प्रथमत्वात् । सिद्धस्य स्वरूपत्वेनैव साधनार्हत्वात् । नहि केनापि
स्वभावशीलसन्नादितं सुषुप्त्यादि किमिदं कथमज्ञेयानि स्वतः सम्भवते । ननु साधा-
रणप्रतिपन्थे सेवायां लौकिकवैदिकपदार्थान्विरुद्धो साधनस्य लोकाद्वैदिकताऽऽशङ्क्यता-
त्वात् कथं तस्याम इत्याशङ्क्य बहुधास्माहुः तज्जाय इति । तत्र साधारणभगवत्कृत-
प्रतिपन्थोरागः साधारणः सुन्दरा उपपन्नानुर्गेण स्वात्म इत्यर्थः । सुदिशु सेवायां
प्रतिपन्थत्वेन नरासति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानुपपन्नसम्बन्धेन निर्वर्तते
विशेषो यथा न सेवां प्रतिपन्नति । तथा च सुवर्तिनाद्वैदिक्येन तज्जादि विप्रात्पीयम्

१ अत्रेव प्रथमपदे लौकिकसम्बन्धे उद्वेगस्य सम्बन्धमात्रं प्रवेष्टव्यमित्यसम्बन्धेन प्रभुसत्त्वानु-
भवस्य उद्वेगसत्त्वमिति तात्पर्यम् । २ आमेवेति सुवेदमात्र- भावः ।

यथा न सेव्यप्रतिपन्थः । परितोन्नादेस्तु भव्यस्य भीष्मपर्मलक्षणैः त्वाः । काष्ठान्तरे
या करणम् । एवमन्वयाति सर्वत्र हरिचरणातिप्रतिपन्थनिवृत्ती मुद्रित्युत्पन्नेषां । यद्वा ।
कदाचिदावश्यकत्वात्किञ्चैदिकत्वात्पक्षे तद्व्यवस्यसम्भवेन त्वाः । कर्षं शक्यत इत्यत आहुः
मुद्रयेति । यदीयादिना कलत्तर्ककारणेति तत्र मुद्रित्यै स्थाप्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं साधारणप्रतिपन्थं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिपन्थं निरूपयन्ति ।

अकर्तृत्वं भगवतः सर्वथा चेद्विनिर्दिष्टं हि ।

अकर्तृत्वमिति सूत्रे । विदुषो भगवत्कृतस्येति प्रतिपन्थ इति । भगवतः
सर्वलभ्यस्यापि स्तब्धेच्छनवा पतिपन्न किञ्चिदपि कुर्वित्तिपः सर्वथा सर्वत्रकालेन प्रार्थना-
प्राप्तये तद्व्यवस्यप्रतिपन्थो न सर्वथा कलाभाय इत्यर्थः । इति विदुषोऽपमर्षः । सर्वलभ्यकृतदत्तुः
ब्रह्मोः शक्तिपूर्वके केनापि कार्येण फलसिद्धेः । भगवत्कृतप्रतिपन्थः । भक्तिव्याप्तौ विशिष्टेष्वापाः
कारणतया सामान्येष्वाकृत्युत्पन्नेष्वपि सर्वत्र वा फलसिद्धिः प्रतिपन्थो वा । किन्तु
स्वयमर्गीकृत्य भक्तिन् नपि प्रसूयदा सत्त्वैकति, तदा तत्र तत्र करोतीति वस्तुस्थितिः ।
तथा च भक्तिव्याप्तौ प्रसूयदा निरन्तरं सेवां कुर्वतीति कदापिदुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रसू-
यिप्राप्तेः तद्विद्वे मनोरातिप्रोपेन प्रार्थनयापि क्षमामन्वापनादित्येव तस्मिन् प्रसूः फल-
प्रतिपन्थं करोतीति च भगवत्कृतप्रतिपन्थः । तस्मिन् सति सर्वथा सर्वत्रार्थकलाभाय इत्यर्थः ।
ननु भगवत्कृतप्रतिपन्थेष्वाप्येष्वां फलदादृषां सेवका कलाकारं भक्तिव्याप्तौलक्षणादुः
तदात्म्यसेवेति । यद्वा 'फलमत्र उत्तमे'ति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः ब्रह्मोः शक्तिपूर्व
तदात्म्येवावति तदधीनात्वं फलदातृत्वमात्रात् तत्त्वैवापि फलसाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः ।
ननु सर्वथा फलसाधक आतुरेष्वेवेति कर्षं देवस्य भगवत्कृतप्रतिपन्थे तत्त्वैवावतितातुः तदा-
स्तुरीयमिति । यथापि हि तदादादृषा 'विपन्थकस्तुरी मो'ति वाक्येन भगवत्कृतप्रति-
पन्थदेवास्तुरात् । यत्र यदा प्रसूः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव सम-
येऽयं पतिपन्थेऽतिपन्थः स जीव आस्तुरः सेवकादिना देवत्वेन प्रतीतोति आतुर एवेति
विचारो नित्यः इत्यर्थः । एतेनैवप्रतिपन्थकृतप्रतिपन्थः सर्वथा दुःसंगादिषु साधनैः
सेवमित्युक्तं भवति ।

ननु साधारण पक्षात्तानि शोकेतस्य पूर्वं भक्तिव्याप्तौ इति तदन्वापार्थं तत्पति-
पन्थेऽप्युक्तं विवेकस्य साधनं भवति । यथा चेति ।

यथा या तत्पतिपन्थो विवेकः साधनं भवति ॥ ३ ॥

वाङ्मनोकारो । यैव प्रसूये । नास्तमः । एतत्पतिपन्थस्य शोकास्तम-
वार्थसाधकप्रतिपन्थकृतप्रतिपन्थः, किन्तु यथाकथञ्चित् साधनैर्विपन्थानेन वा भावात्मन्या-
दिदोषेन तत्पतिपन्थे विपन्न शोकास्तमार्थं विवेकः भगवत्कृत इत्यर्थः । विवेकस्तु

गमितेन प्रभुया कृतं सर्वं महात्मकं कोटं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तादिरूपः । तमेव च तत्त्वनिर्धारणार्थं निवृत्ती विशदयन्ति ज्ञानमार्गेणेति । ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपादेन स्वातन्त्र्यमित्यर्थः । किञ्च ज्ञानविज्ञानि न तन्वार्थी भुक्तिः, किन्तु मोक्षभावन एवेत्याशयेनाहुः श्लोकाभावाप्येति ॥ २ ॥

अतः परं यदर्थेषां निरूपणं बाधकानां तत्त्वबोधनमाहुः बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोक्तेष्वेकः तथा परम् ।

निष्कामसूत्रं महान् भोगः प्रथमे पिबते सदा ॥ ४ ॥

बाधकानामुद्देशमोगप्रतिषेधानां परित्यागः परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । भोक्ता बाधकत्वेन स्वात्मसुखस्याज्ज्योतिरेकं तदभावमाहुः भोक्तेष्वेति । भोक्तेष्वेकमतीतिक्रमोपक्रमं कृतप्रतिष्ठया तथा तेनैव प्रकारेण, परं प्रतिषेधयोः परं भगवत्कृतश्री-सम्पत्सम्पन्नमहात्म्यत्वात्वेन विहाय तत्त्वैत्यर्थः । ननु भोगस्येति तुल्यतामाशङ्क्य तस्मिन्नतीतिक्रमे वैतृक्ष्यमाहुः निष्कामसूत्रमिति । मतीतिक्रमान्तर्यरूपे प्रथमफले भगवत्कृतानन्दराजस्यैव रूपे भोगे किमपि प्रयुज्येत्याशङ्क्य केनपि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्कामसूत्रं वा एव शिष्यति । तीक्ष्णे तु सर्वथा तदभाव इति महतीक्ष्णमित्यर्थः । अत एवेकं प्रभुभिः कृपासाधनिर्यसि 'हरिरयं न कथ्येति कर्तुं पाथां कुतोपर' इति । केच महामिति । सारूपतः फलतः साधनत्वमत्र महान् । विषयानन्दमहात्म्यानन्दरेषुवा तद्वत्तानन्दस्य महत्त्वादित्यर्थः । अत एव कतेष्वपि प्रथमफल एवमतीतिक्रमान्तर्यरूपे तत्त्वेन प्रविष्टे प्रविष्टीत्यर्थः । किञ्च सदेति । वैकल्पिकबाधविषयत्वादित्यर्थः ॥४॥

एवमतीतिक्रमो वैतृक्ष्यं निरूप्य तीक्ष्णभोगसाधारणप्रतिषेधवैकीकुल तद्व-
मनिरूपणमुत्तरं वैतृक्ष्यं निरूपयन्ति सविमोल्लेखे पातकः स्यादिति ।

सविमोल्लेखो पातकः स्यादन्त्यादेती सदा भती ।

तीक्ष्णो हि भोगः सविमो विमलविक्रमः, कर्मफलानिभिरात्र निमग्नमन्वात् । अल्पम् । सारूपतः फलतः साधनत्वमत्र परिशिष्टत्वमित्यर्थः । साधारणप्रतिषेधो हि पातकः । सेवाकालोपयोगकृता उद्यमकः । एतौ भोगसाधारणप्रतिषेधौ सविमलान्त-
रालपातकत्वविनिर्भेदेतुसौस्वात्म्यमन्वित इत्याशयेनाहुर्विभूती ननु कथमित्याशङ्क्य पा-
तकः स्यादित्यन्तम् । सविमलान्तत्वमलोक इतिष्यम्य पातकत्वाच्च स्वात्म्य इत्यर्थः ।

एवं तीक्ष्णभोगसाधारणप्रतिषेधयोस्तागदेतुसूत्रं पर्यन्तत्वा भगवत्कृतप्रतिषेधे
त्यागसम्मनेन ज्ञानमार्गेस्वित्वात्प्रविष्टीत्यो मन्मतेः कर्तृविन्ताया मोक्षे यथासिद्धि
तदभावान् चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता साध्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिपत्त्ये सर्वथा सर्वप्रकारेषामप्येत्येव कृतसम्बन्धाभावाच्चिन्ता
कृतविधिविनी त्वान्यैसर्पः । तत्र हेतुमाहुः संसारनिश्चयादिति । संसारोऽङ्ग-
मन्तारत्वा सर्वानर्गमूलं यदाह्वयफलरूपः, तस्य निवृत्त्याह्वयवत्कृतप्रतिपत्त्ये संसार एव, न
कृतान्तरविधिविधिविनिर्दिष्टः ॥ ५ ॥

प्रतिपत्त्यविचारप्रतिपत्तिविरुद्धत्वेन विधाबोद्धेरूपप्रवचनप्रतिपत्त्येन पक्षमात्रे भगवतो
दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति नन्याप्यहं गृहे निवृत्त्याभावात्कलेति ।

नन्याप्ये दातृत्वा नास्ति तृतीये पापकं गृहम् ।

भावेन प्रतिपत्त्येन कृतमात्र इत्यर्थः । नन्विहं विरोधोक्ती । आद्ये उद्देशरूपम-
तिपत्त्ये भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया उद्देश्येयकतोद्देशे विद्यमाने ऐवाया
कमालहीत्वेन भगवत्सम्बन्धामात्रादनाभिधिविधित्वे तत्प्रमुक्तः इवोः कृतदातृत्वाभावात्
इत्यर्थः । अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य कृतदातृत्वाभावात् न परेत । एतदेव विधुती विरुद्धवन्ति
तदा सेवैत्यादि । एवमुद्देश्यभावात्कृतत्वा भोगपापकं निरूपयन्ति तृतीय इति ।
तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव पापकमित्यर्थः । अजायमाशया । योगो हि सर्वथा पापकः,
भगवद्भुत्त्वस्याप्यदकत्वादितिहादीनां वैकल्याणादकत्वात् । स च पापकत्वमिति,
यतोवापि निवर्त्यमात्रो न निवर्तते । गृहस्य सर्वथा पापकत्वात्तत्र विचार्यतेत्येति
भोगसम्बन्धादुद्देश्यतिसागः । कृतार्थप्रयोगेन कदाचित्कृतितिसागो वा भोगमात्रात्
विधेय इत्यर्थः । एतदेव च विधुती विधुती भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा
गृहपरित्याग इति । अत्र एवास्मदाचार्यविरचिते निरूपितं भगवद्वैद्योदाहरणेन 'गृहे
सर्वोक्तता साध्यं सर्वोक्तं न शक्यते । कृतार्थं तत्प्रवृत्तिरूपः संसारबोधः' इति ।

एवं कृतार्थं प्रतिपत्त्यर्थं च निरूप्य निवृत्त्यं प्रत्येकद्विचारादिभिर्येन सर्वव्यत्येन
यस्तुपुनस्तद्वन्ति अत्राप्येवमिति ।

अत्राप्येवमं सदा भाज्या सर्वसम्बन्धमनोप्रमः ॥ ५ ॥

इवं कृतार्थी प्रतिपत्त्यर्थी पापकत्वा, न साधयथा । यत्किमर्थं कृतप्रतिपत्त्यर्थी-
निवृत्त्योः वैकल्याणवदधीनत्वात् । तस्मात् सदा निरन्तरं भाज्या सर्वव्यत्येन विचारणीया,
विचारे हि साधनायाः साधनत्वात् कदापि कृतमिति, प्रतिपत्त्यर्थं साधनत्वात् साधित-
मितिर्हितः । अतः कृतान्तरं प्रतिपत्त्यन्तरं वा यत्किमर्थं किमिद्विचारादिभिर्येन सदा-
मन्यदिति । एतत्कृतार्थं प्रतिपत्त्यर्थं पापकत्वाभावस्तर्हि कृतप्रतिपत्त्यादिकल्पने अनौ-
चित्यः सान्द्रप्रतिपत्त्यर्थः । अत्रैवमुक्तं भवति । यत्किमर्थं ऐवाया उद्देशमभ्यसताभारवाधि-
कारकमेव कृतप्रत्ययमेव, न बोधादि । प्रतिपत्त्यर्थं बोद्धेयादिकमेव, न पापदिकमिति ।

‘सापादयन् भवत’ इति वाम्बात् । तथा पैतलकनिष्ठितार्थेत्यतिपन्थसाधनान्नो
निमित्तैः सर्वैः सर्वेषु निषेधेति भावः ॥ ६ ॥

नन्वेतत्कलप्रतिपन्थक्यदिरूपं तद्विधान्प्रति पठते तदीयदेहादेरामत्तान् ।
तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुण्योक्तमङ्गमित्येव कलरूपप्रभुत्वम्भात् प्राक्कल-
तया साम्प्रति कलप्रतिपन्थनिरूपणं स्वार्थमित्यर्थस्य बाहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव चित्तम्ययेत् ।

तदीयैः कृत्वात्यजपर्यन्तैरपि कलप्रतिपन्थक्यदिभावनं कार्यमवश्यकार्यम् ।
पुष्टिमर्षादायार्थगीकारेण कलचित्तम्यकलनं कार्यमित्येव पठ्यमानम् । अचित्तम्यस्तु कैवल्य-
प्राप्तेष्वेत्बाहुः पुष्टौ नैव चित्तम्ययेदिति । पुष्टौ कैवल्यपुष्टौ मर्षादाभावेन साक्षा-
दङ्गीकाराच्च चित्तम्यः । साम्प्रतं तु पुष्टिमर्षादायार्थेण पुष्टिकामर्षीकाराकलनमिति द्विविध-
मसङ्गायेन साधनपर्यन्तं श्रेयितवर्तुका इव कलप्रतिपन्थभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

तदीयानां गुणक्षोभेति निश्चयदेव निमित्ताद् देशान्तरस्थान्तिकया इव मयति ।
तत्राप्येतदेव कलप्रतिपन्थक्यदिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम् । एतद्विधानेन चित्तज्ञ मनु-
पगतया गुणक्षोभेति न भविष्यतीत्यर्थः । ननु गुणक्षोभनित्यैकानि साधनान्तराणि भविष्य-
न्तीत्याशङ्कयाहुः मे मतिरिति । विचारं मित्यपानेदस्वभावेतिव नपेक्षानात्रान्यत्साधन-
मित्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् कुशलित्वमवधे, तदीयत्वे निश्चयेन कलसम्भवात्, तद्वैजल्योपति-
मिवा प्रतिपन्थाक्यभावाच्च, तदीयत्वे क्षुब्धभावादेर्यं न निरूपयमुचितमित्याशङ्कयाहुः
कुशलित्वमिति ।

कुशलित्वं वा कानिदुःखमेतत् स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अवस्थित्तये वायुव्योवधारणार्थः । यथैव वा कुशलित्वमवधे स सर्वथा दोषा-
नाशकम् एतेत्यर्थः । अनुपलब्धितिरिहस्तु पुंस्त्वेन मयोः सादृश्येनैव निरूपणेन कृत इति
कृत एव विचारनीयमिति दिक्षु ॥ ७॥ ॥

इति श्रीवज्रभाचार्यचरणान्जनासातुदासश्रीहरिरायविरचिता
सेवाफलविधुतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

सेवाफलम् ।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम् ।

पादवी सेवाया मोक्षा तत्सिद्धी फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि आद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

पादवी पञ्चमहोरिक 'चेतसात्मक'मित्याह 'कृष्णमेव विचिन्तये'दितान्ते-
मोक्षा । तत्सिद्धीमिति । तथाः सेवायाः साधनरूपकलावसासिद्धी फलमुच्यते
फलं निरूप्यत इत्यर्थः । कुपेत्सर्वभोग्यानाहुः टीकायां सेवायामिति । फलप्रथममिति ।
फलतावच्छेदकप्रथमित्यर्थः । यथा स्वर्गस्य फलत्वं तद्वच्छेदकं चासुखादिफलं तथा माय-
सेवायाः फलत्वं तद्वच्छेदकं चेदं फलप्रथम् । सेवायां फलप्रथममित्यनेन सर्वोपायै-
रुक्तः । उक्तार्थोक्त्याहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । मृतेऽलौकिकस्येत्यलौकिकस्य
सामर्थ्यस्य । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वानुग्रहाय । तथा दाने । आद्य इति ।
आद्यो मनोरथो 'नयना सह संजातो दर्शनं मिलितस्य चेत्यादिविरक्तः पूर्णोत्पुष्पा-
योगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः । अनेन गुणारसस्य पूर्णदत्तमुच्यते उक्तः । यथा-
राष्ट्रीयिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदत्तमुच्यते भवति । स तु परितो गत्यरूपवर्णितोवाचि-
रवसात्मको ज्ञेयः । एतेन दीपमात्रा गुणासाधने मुख्यमात्रा मुनेन तु फलमिति सूचि-
तम् । नैवुतीति 'वर्णमात्रां मुखे प्रकाशयन्ती मुखमपि स्वरोमयोम्यं करोती'ति निरुक्तिम् ।
'वर्णमयोमिर्निजिर' इत्युत्तरदत्तमुच्यते गुणानुग्रहेनैव निरुक्तिस्तत्सामर्थ्यविशेषनाय हि-
तम् ॥ १ ॥

फलं वा साधिकारी वा न काश्चिज्ज नियामकः ।

फलं वा साधिकारी नेतृत्वात्तदुक्तः साधुन्यमस्तिविराजः । मृते फलं वेति ।
साधुन्यस्य सोऽनुग्रहादित्युक्ती फलत्वेनेव तत्सिद्ध्या फलत्वं साधुन्यमायकम् । तथा च
द्वितीयं फलं साधुन्यमित्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति । फलदर्शनाहुः टीकायां
सेवोपशान्तिदेहो वैकुण्ठादिपिबति । यत्र आदिसन्धेन मोक्षप्राप्तीप्राप्त्यानादिकं
साधय । मृते न फल इति । अथ सेवोपशान्तिदेहो साधो नमेरुः । यथा लीलाइतिहा
आमङ्गलादपी न फलमेषां, किन्तु भगवदिच्छनेन पुण्यमिति फलमिति च, एवं नैकया
यति सेवोपशान्तिदेहः भगवदिच्छनेन भगवत्सिद्धिर्वापि उच्यते ।

उद्देशः प्रतिपन्नो वा भोगो वा स्यात्तु यावत्कम् ॥ २ ॥

उद्देश इति । श्लोकार्थमाहुः रोचायामिति । उद्देश इति । मनसोन्मत्ता उद्देशः । स्वप्नस्थान्तरता प्रतिपन्नः । इन्द्रियावायन्मत्ता भोगः । इदं ग्रन्थं यावत्कम् । तद्विषयभोगार्थां कृतवचनसामर्थ्येण भक्तिरहस्यवचनस्य यावत्कम् निदानप्रतिपत्तिरिति प्रतिपन्नकमिति सूत्यर्थः ॥ २ ॥

अकर्तृत्वमित्यारम्भ विधाने सन्देशान्वयार्थमाहुर्विपरमे अयाणामित्यारम्भ विधेय इत्यनेन । अयाणामिति । उद्देशाभावात्प्रतिपन्नटीकिकगोचानामित्यर्थः । साधयेति । एतावतामेव साधकत्वात् । ननु कथमेतन्मत्तस्य साधकत्वं न तु पञ्चा-
णामित्यतो व्यपस्तानाहुः भोग इत्यादिता । लौकिक इति । अनिवेदितपदार्थां समर्पणं विना विदयाप्रत्ययभोगो लौकिको भोगः । अलौकिक इति । निवे-
दितानामर्थां भवत्यभोगार्थं विविधेन वाते तदवयवात्वेन स्वीयभोगकृतिरलौ-
किको भोगः । तस्यास्य इति । आत्मे लोकात्तः साधारणः । मुख्य इति । विषयगत्येत्यर्थः । कलामां मध्ये इति । यस्य कृतवचनमि मयति तस्य सेवो-
पयोगिदेहकत्वे दशमे फले प्रविष्टति सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । एतन्नोपलब्धकृतसाधकत्वेन पूर्वं कृतसम्पन्नः । तदुत्तरं च दास्यतेनेनैतत्कृतमाहुत्तरं सम्पन्नाः । इदम-
होत्तरमपि फले स्यात्तु भवतीति मोक्षस्यार्थः । अयं श्लोके सन्देशस्यार्थो ज्ञेयः । निःसंस्पृहमिति हेतुमत्त्वं । पतोयमच्छादिकृत्वविमानावाहिःप्रसृष्टं तिष्ठत्यतो महा-
नित्यर्थः । यच्चि पाठकमेव सेवोपयोगिदेहस्य सुवीचकत्वम्, तथाप्यनुमानादुपेधात् तस्य आयाम्मेव तिष्ठति । किञ्चित्साधिकात्वेन निरूपणादपि तथा । भगवत्कृतप्र-
तिपन्नस्योदिति । अवयवार्थानादिता हरिभेदद्वये विविधते तदा यज्ञा सर्वदा निर्वहति । तस्या अन्वासे तस्यां भक्तिरहस्यवचनस्य सामर्थ्यं तिष्ठति । किमप्यनेषि अवयवार्थ-
नादी हरिभेद विविधते उदात्तालो न भवति । तेन वाज्ञा मनोऽन्मत्ता वा तु भवत्-
कृतप्रतिपन्नः । उदा भगवत्कृतप्रतिपन्ने अन्मत्तसेवा महातुल्यावितेया व्यर्थं निः-
संदेहः । अविना भवत्यभोगमि तथेति ज्ञेयम् । किमप्यनेषि अवयवादी चेन्न हरिभेद-
सादृश्यः । पूर्वमेव ज्ञानादिगार्थप्रवृत्ती तु न्यहुरलमिति बोध्यम् । नन्याहुरले अवयवादी प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः । जीव इति । स जीव न्यहुरलमन्तःकरणं तु देवमतः प्रवृत्तिरिति भावः । ननु यदि निमातुरेव कान्त्यमित्यतः कथमप्याहुः तदा ज्ञानमार्ग-
मेति । अन्तःकरणस्य देवते इत्यर्थः । अन्तःकरणमाहुरले तु संसारविषयान्मोक्षसाध-
वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम् । शोकप्रसङ्गापकण्ठोपदिष्टज्ञानमार्गेत्यर्थः । विधेय इति । आयो तुल्यः साध्यः द्वितीये त्यागज्ञानमार्गेण लोभमिति द्वयोः प्रतिपन्नभोगविकः इत्यर्थः ।

भगवत्कृतलब्धेदित्याशयः विवेकः ह्यन्येनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम् । इत्य-
न्योल्लेखवागमेशाय पापकृतम् । अतीतिक्रमोपस्य प्रथमे प्रवेशाय पापकृतम् । भगव-
त्कृतपतिपन्थेऽपि सामर्थ्यादुत्साद एव न तु ज्ञातस्य चाक्षेपकास्तानि न पापकृतम् ।
प्रतिपन्नफलं तु भवत्येव । प्रतिपन्नो विज्ञानब्रीहदेतुः, प्रतिपन्नक इत्यत्र विज्ञानब्री-
हस्य सामब्रीहाशयस्यास्योपपत्तिपापकृत्यदिति बोध्यम् ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा या तत्पञ्चनिर्घातो विवेकः साधनं मतम् ॥ २ ॥

पापकृतानां परित्यागो भोगेष्वेकं नथापरम् ।

विःश्रुतार्हं महान् भोगः प्रथमे विज्ञाने सदा ॥ ४ ॥

श्रुते शोकद्वयबोधना । भगवतः सर्वथा ज्ञेयायां सामर्थ्यं अकर्तव्यं चेत् तदा
गतिः कठं न हि न भवतीत्यर्थः । ननु तदा तस्य किं साधनं शोकसाधयेत्यत आहुः
यथा वेति । येनात्मसाधनिर्घातो भवति तादृशो विवेकः आत्मावात्मविवेकः शोकसाध-
साधनं मतमित्यर्थः । 'तस्याहरे स्तवनयान् मया व्यासद्विज्ञानेनाहुः शोचै'त्यत्र तस्य
ज्ञानस्य शोकसाधयेतुल्यकथनप्रवृत्तमित्युक्तम् । भोगेष्वेकमिति । ज्ञानमित्रयेरीक्ष्यपदम् ।
अपरमिति । न तमपरम्, हीनम्, पापकृतत्वात्प्राप्तमित्यर्थः । ननु कथं न द्वितीयो
साधकस्तथाहुः विःश्रुतार्हमिति । निर्दिष्टम् । हेतुवर्त्मनिदम् । यतो निर्दिष्टं यथा भवति
तथा सिध्यति, अरुह्यदेवीफलत्वाभावात् । अतो महान् । एतारतो भोगः प्रथमे श्रुते
सेवोपबोधिदेहे तदा विज्ञाने, पूर्वमुपरं न सम्बद्धं भवतीत्यर्थः । पाठकर्म दृष्ट्वा अतीतिक्रमाकर्तव्यं
साधनं नान्यास्य इमनिग्राह्य टीकायां कृतानां न्यय इत्युक्तम् । यदा कलमयमपि
भवति तदा पञ्चदशं कठं सेवोपबोधिदेह इत्यर्थः ॥ २ ॥ ४ ॥

सविमोक्तोऽपि धानकः स्वान् यन्त्रादेर्नो सदा मनी ।

द्वितीये सर्वथा विमला साधना संसारनिव्ययात् ॥ ५ ॥

सविम इत्यत्र टीकायां सविमत्यादिति । अत्रानि सविमपदं हेतुवर्त्मम् ।
तथाचायमर्थः । पञ्चमे लौकिकभोगः, यतः सविमः, अतोऽपि साद्विज्ञाने हेतोःत्वान्य
इति । एतावदिति । तादात्म्यमवगच्छतो यत्नदेतोः सदा प्रतिपन्नार्हो मनी । यतः
हृदिवातां चान्दपरत्वात्प्राप्तुंयथोक्तं साधन्यसाधनौ । सन्ध्यापरत्वरूपविमौ तु
यत्नयथैव साधनौ । तदुक्तंसेवोपबोधना भवत्यतो पतिष्ठत्याद् प्रतिपन्ननामसाधये
जाज्ञापित्यर्थः । ज्ञानमित्रत्यन्ताय इति । पूर्वोक्तमुत्त्वाने स्थित्यभावे । द्वितीय
इतीति । द्वितीये साधककृतपतिपन्थे कते । श्रुते संसारनिव्ययादिति । अप सत्तारपदं
देष्टादिपरम्, कया च 'विरोधनोक्तदेह पर मह्य' इत्यादिरूपनिधन्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सेवोपबोधिदेहस्य कथमनिकारणम्, अधिकारतो वा कथं फलत्वमित्यत आहुः
नान्याय इति ।

अन्यासो दातृता नास्ति तृतीये भाष्यकं गृहम् ।

अयद्वयेयं सदा भाष्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

नमिषति कोमलमभये । आसौ सेवोपयोगिदेहकूपकले सति वा भवति कलत्र-
दातृता सा सेवोपयोगिदेहकूपावफलमात्रे नान्नीत्यावफलस्याधिकारकूपतेत्यर्थः । तथा
च कलावफलमेव फले न मलावपन्न फलत्वेनैव । यस्य च पुनरनेन साधुन्यादिफलं
न प्रति भाषफलस्याधिकारत्वमेवेति भावः । एतेन फलत्रये तात्तम्यमस्ति सृष्टिमिति
कोप्यम् । टीकायां तदा सेवेति । भाषफलमात्रेत्यर्थः । गृहे तृतीय इति । लौकिक-
भोगकृतप्रतिबन्धके सति भाषकं गृहं सेवासतिबन्धकं लौकिकभोगसहायकं सार्पादि स्वात्म-
निति शेषः । अयद्वयेयमिति । इयं प्रतिबन्धकवती फलवती च सदा निरन्तरं भाष्या
निवातनीया । भाषनया प्रतिबन्धकहतावतिबन्धनिवृत्तिर्यथिष्यतीति भाषः । सर्वमिति ।
ज्ञानादीनां साधनार्थं कलाव्यवशेषात् फलत्वमिति मनोभ्रममात्रम् ॥ ६ ॥

ननु 'तया निवेदने भिन्ना स्वाध्या यीदुरक्षोत्तमे' इत्यनेनात्मनिवेदितां प्रति-
बन्धकमवाप्तायात् किं निवर्तनेत्येतत् आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तरकार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मन्वदीयैरपि पूर्वोक्तपरीक्ष्यविषयत्वेन प्रतिबन्धनिवर्तने कार्यदेव । तत्र हेतुमाहुः
कुश्वितिति । तथा सति पुष्टौ सर्वोदाश्रयणे मन्वात् विलम्बं न कुर्वीदित्यर्थः । अन्यथा
तु यद्यपि निवेदनपक्षयो न मन्वति तथाप्यलौकिकदेहपक्षी विलम्बो भवत्येवेति । ननु गुणै-
र्विशोधने माननाया अलम्बनात् कथं तद्विपुलिरित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । शोच्येतेनैव
निवर्तयेत्यत इति भावः । ननु गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतारेण द्वात्रिंशत्काले प्रवृत्तान्तर-
मुक्तमित्यत आहुः इति मे मतिरिति । मन्वतिविशोभं मन्वाः । तयाच सर्वोदाश्रुति-
मेदेन व्यवसेति भावो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

ननु स मन्वरो मन्वदुक्तः, अयं च पीडा इति कथं तत्त्वफलमित्यत आहुः कुश्वितिरिति ।

कुश्वितिरत्र वा काचित्पुष्टयेत्यत स वै भ्रमः ॥ ७८ ॥

वाङ्मन्दोदारे । मन्वति वागवतिस्त्वादत्र मन्वात्वे पूर्वोक्ता मन्वा वा काचित्
कुश्विः कित्वायेत ? नोत्तयेत्यर्थः । यदि नेद्वलयेत तदा तस्य तादृशं पुनं पुनं दप ।
तद्वेवमार्थं गालमज्यवृत्तिः, किन्तु 'सात्विका मन्वदुक्त' इत्युक्त्यां तादृशमेव योभवा-
क्षमेवात्मत्ववृत्तिरिति भावः ॥ ७८ ॥

इति श्रीविष्णुसंज्ञात्मजाश्रीवाङ्मन्वजसेवाफलविपुलिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

—१०८—

ब्रह्मस्य श्रीमदाचार्यचरणीं तरुणाफलम् ।

सेवाफललोकिविहोर्निवृत्तिं विनोत्तमम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः क्षुतिमयसूक्ष्मीलक्ष्मीभक्तगतार्थगोचरसिद्धान्तसं-
तुष्टिजनसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्सेवात्मकसेवाभिधिपर्यन्तानां संक्षेपेन सिद्धान्त-
मुक्ताफलानां शेषशीर्षार्थे निरूप्य सेवाफलप्रस्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रविशान्ते
पादशीलादि ।

पादशी सेवाया मोक्षता तस्मिन्नी कलमुच्यते ।

पादशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा, व्यासशम्भो भुक्तिं मुक्तत्वाद्धारणा
विनिमयेत्यादिवाच्यत्वम्, मोक्षता सिद्धान्तमुक्ताफलानां व्युत्पादिता, तस्मिन्नी यथा-
लभ्योक्तमालनीशेवासाधकतायां कलां फलं यत् प्राप्तत्वेन विवक्षितं तदुच्यते इत्यर्थः ।
अस्य ब्रह्मस्य सङ्कितत्वेन दुरुद्धावज्ज्ञं साधयेत् कदाचो व्यावृत्तिं सेवायां फल-
व्यपभित्तादि । अत्र सेवाव्यपभितिं मुख्यत्वात् सङ्ख्या साधनसाधनरूपयोर्द्वयोरेव हेतव्यो-
तया विवक्षितेति बोध्यते । तेन साधनरूपया आर्क्ष्ये लक्ष्मीदहः, साधनरूपया
निर-कारसौम्यं विवक्षितं भवतीति सूच्यते । फलव्यपभित्तिनेन गृहे पादशीति सेवाविशे-
षत्वेन दलदोर्मितमन्त्रमन्त्रमात्रात् फलेति तादृशमिति प्रकृत्योपपत्तिं विरोधं स्मार्यते ।
तथा च तनोक्तमन्त्रमन्त्रमन्त्रेन साधनसाधनरूपयोर्द्वयोरेव निवृत्त्यादयः फलव्य-
पभित्ति इत्यर्थः । अर्हं किं फलव्यपभित्तिपेक्षायां शीघ्रतां तत्फलत्वं विवच्यते अलक्ष्मीकेक-
सामर्थ्यवित्तादि । तन्नाशकिकमन्त्रार्थं नाम फलानि विवच्यतुमुक्तमन्त्रसाधनानुभवे
'मदीयस्य' इतिप्रतीकरीतिकमन्त्रविशेषा योमन्त्रा यथा स्वात्मकस्य भगवतः पूर्ण-
साधनानुभवात् । अतिवर्धनमन्त्रा यथेकमाहुः । श्रीदत्तिस्यवास्तु भगवदिरहातुभ-
वाधार्थवित्ताहुः । श्रीकल्याणरावास्तु भगवतः सह मानादिमन्त्रार्थं मुख्यानामिहेताहुः ।
यथागोपीनामन्त्रार्थं भगवतः सह मानादिमन्त्रार्थं मुख्यानामिहेताहुः । फलव्यपभित्तिं भगवतो यथा-
विषयवैशेष्यमुक्तमन्त्रादिद्विधायां ज्ञातुमन्त्रादुपपन्नम् ।

साधुज्यं 'यथा नामनिधानाती'त्युक्तौ भगवत्स्वरूपे लयः । यथा अयमेवम्, प्रीतिपत्तीनन्दनाथ । श्रीहरिदासु सह सुनर्तयि ससुक् ससुजो भावः साधुज्यं संयोग-
तुल्यवसामर्थमिलाहः । श्रीकन्याभराबासु योषानामिषेति विशेषमाहः ।

सेवोपयोगिदेदोक्षयात्मको देदेन्द्रियासुदीनः पुरुषश्रीननुपक्षिपृक्षायाकृतिः
संज्ञानविशेषः । तदेतत् फलवर्ध विविधसेवायां यथावर्ध योष्यमित्यर्थः ।

ननु 'यथाकृतु'मिति श्रुती तत्कृतुन्यायस्योक्तत्वाद् संन्यासनिर्णये 'भावना साधनं
यत्र फलं चापि तथा भवे'दित्याचार्यैरिति तदर्थीकृत्यापन्न एवमाति ताप्यहृतवाशित्ये-
विशेषस्तत्त्वमस किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले अलौकिकस्य
दाने हीलादिषादप्रवेश ।

अलौकिकस्य दाने हि चाप्यः सिध्येन्मनोदधः ॥ १ ॥

फलं वा साधिकारो वा,

अत्र हिदेतो । योष्यमाने । यतो हेतोर्लौकिकस्य सम्पदाविर्भावधिक-
पोक्षरीकृताधरात्मविग्रहस्य दान एव आद्य आदी भव उत्तमफलविषये विद्यमानो
मनोदधः निश्चयशब्दोक्तकामगारात्मकः सिध्येत् । अतएव तु फलं वा हि निमित्तेन
अधिकारो वा सिध्येदित्युक्तम् । तथा च 'लोकानु लीत्य कैवल्य'मिति न्यायेन
भगवता अलौकिकस्य सम्पदाविर्भावस्योक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्पत्तिफलतायास्तत्कृतु-
न्यायमन्येन पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तद्विरूपमित्यर्थः । यद्वायमनादरे । तेन तत्कृतुन्यायेन
कदाचित् तद्वदं भवतीति बोधितम् ।

नन्यधिकारस्य कार्यान्तरयोष्यताकृत्याद् तथा च साधनदत्तायावति सत्त्वाद्
कर्म फलमिति तत्र आहः ।

न कालोन्नियामकः ॥ १ ॥ इति ।

अथेत्यधिकारः । तथा च काळविमर्शताभावेनाकाङ्क्षा निवृत्त्यादस्ताति फलार्थं
निःप्रवृत्तमित्यर्थः । एतन्ने एतं दानहेतुकमन्यद्वयमिति भगवदनुग्रहेकहेतुकम् । सर्वोदा-
मार्गे निर्गुणाभारविषया तादृशजगत्प्रभोः ससुपणा सन्वनोमवदहरादिविषया च 'जहन्
श्रीदन् रगभाव'इत्यादिशेतेकेत्यर्थवर्षनामाहेति आगमात् ततोभिकस्य सेवोपयोगिदेहादे-
क्षम फलत्वा अतिरहितमन्योदया ससुपणाकृत्यात् । तथा तदुपगमे 'यमेवैव' इत्यादि-
श्रुते'सेवयाद्वेकया ज्ञात्वा' इत्यादिस्मृत्येव विरोधस्य ह्युपरिहरत्वात् । अतस्तत्त्वमन्यो-
ष्यत इति भावः । अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ 'हरादीनां वचः श्रुते'त्यादिकृत्योपविपन्नस्य
गृहहानतीक्ष्णकया 'संज्ञयो विदितः साध्यः' इति कुमारीयः प्रति भगवत्कृत्यं प्रमा-
त्येन योष्यम् । द्वितीये च 'निकरयतां न' इत्यात्मन 'यतिमन्वी बहुल' इत्यन्यं कथित-

नाम्नम् । तृतीये च 'को पार्थिवित्वा भगवत्परिचर्ययोर्वे'तिनि चरन्निवर्त्तय इति मन्त्रादि-
नाम्नं ज्ञेयम् । ततो पातस्तु भगवद्विच्छन्न एवेति तत्रैव निबन्धं प्रत्यादिशतिमिति न
कथितस्तद्देहः ॥ १७ ॥

तनु भवत्येकमनुमहर्देविष्यात् फलदेविष्यत्, तथापि 'नित्यं हरीं विदधत' इति
काव्ये कामकोपादीनामपि भगवन्ति नित्यं विधाने कर्मफलसोक्तत्वात् कर्मवारे च
साधुव्यसैव सुकल्पात् सिद्धान्तमुक्तास्तस्यामप्युपयोगस्तु कमेत्यैव पूर्वोक्तं च फलिष्यती'
त्यनेन मानसा एव फलत्वेनोक्तत्वात् तत्रापि कर्मफलता सिद्धी तस्यैव सुकल्पात्कर्म
कदाचो येन तृतीयं फलमित्यत आहुः ।

उद्योगः प्रतिपन्नो वा भोगो वा न्यादिति ।

सेवाया विषयायाविति शेषः । किं तावदेतादृशाया सेवा साकल्यं दीक्षाया
विशृङ्खलति सेवायां प्रतिपन्न इत्यदि । प्रतिपन्नो नाम विद्यानामी तन्मन्त्र
प्रतिपन्नकः । तद्वेदोद्देशादित्यम् । तयोद्देशो नाम तद्वैर्देव परम वा । श्रोत्रिणी भव
परमयो । तदन सेवाया विषयाया विषयिणी मन्त्रो भव तः परादिवा तु वेदा
वा । अत्र द्वितीयं चान्यम् । एतदुपपन्नान्तरयता द्वितीयोद्देशो वाद्येवापकल्पाया
नामसीतस्मान्नाधिकारविरुद्धत्वात्तद्वैकल्यवित्पन्नः । प्रतिपन्नो नाम तद्वैर्देव
वा तत्प्राप्तियुक्तो वा निष्कः । तन्मन्त्रे प्रतिपन्नो वा । प ३ २ ३ । सोऽन सेवाया कृषी
तस्यामपि परीतादिमानः ॥ १७ ॥ तदाकर्म फलित्वं विद्वत्प्राप्तिसिद्धिं वापारकृषी
वाद्येवासाक्षात्प्राप्तिकल्प्यात् तद्वैकल्यवित्पन्नकल्पवित्पन्नक कदापिकः ।
भोगो नाम सुखदुःखाक्षारकरोऽव्यवहारकः । प्रतिपन्नो वेदेन्द्रियोऽव्यवहारकः
विषयेन्द्रियानामक्षीकृषी पक्षिः स्यादप्यतः प्रातः । तथा च सेवासेवाविषयवित्पन्नवित्पन्न-
वानवित्पन्नान्मुखादिकृतम मान्स्या उपपन्नं भगवन्तान् तथा तन्मन्त्राया अनिष्टी सुखेन
तृतीयं च फलं सिद्धिरित्यर्थः ।

तनु भवत्येव तथापि यदनं सुखं फलं तनुं हर्षैकसाध्यवित्पन्नम् । दानं तु
पूर्वं साधुमन्त्रकम् । तथा सति नूनं पुण्यानेन सेवाकर्मैव एव किं फलं प्रतिपन्नंति
च-देहः कथं निवर्त्तयत आहुः ।

तु साधकमपकर्तृत्वं भगवतः सर्वथा चेष्टनिर्भेति यथा वा इति ।

तुः शक्तमिच्छते । साधकं पूर्वोक्त उपपकर्तृत्वं भगवतः सर्वथा चेत् तदा
हि निश्चयं गतिर्नै, प्राणाया देहादुत्थमं च । मन्त्रो वा भगवत्प्राप्तिसिद्धिः गतिर्नै,
किन्तु 'काव्यमपि दयैकान्त-दायै'त्यभिप्रायान्नामेव भगवत्येव तपः । 'ता तद्विद्वि-
ति' ॥

सुखरीत्या भगवदेकताकत्वं हि विमयेन । एतेन मुख्यफलमवयवविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । यथापेक्षि मित्रं वाचयन् । अत्रानि वाचकं भगवताः अकर्तृत्वं चेदित्यनेति । तथा न यथा येन प्रकारेण सेवा, यत्तदीनितकम्पभातया तेन प्रकारेण वाचकं भगवतोपलब्धं चेददा, या फले विकल्पः, सेवा वक्ष्यमा चेन्वाप्यमम्, यपन्या चेन्नफलं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । अथवा । ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम् । भक्तिमार्गस्यानुब्रूहेकत्वम् : शुद्धिवाहकसौदायां स्थापितः, विषये च 'सर्वथा चेद्वरिह्या न भविष्यति यस्तु हि । तदा सर्वमश्रयं हि सार्धस्मिन् गुतरामयी'त्यनेन । एवं कृतस्मिन् मार्गे प्रतिफल एव फलं येन फलवैविध्यमित्यत आहुः तु वाचकमित्याहम् यथा-वेत्तवान् । अथ येषां वाक्यानि, तेषु विषयि वाचकपदं चेत्तदं चान्येति । तथा च वाचकं पूर्वाकं भगवताः अकर्तृत्वं चेददा प्रतिपन्नस्याभावप्रतिषेधम् फले भवति । वाचकं सर्वथा चेददा न हि विमयेन वेत्तापत्तये न । वाचकं यथा तथा चेददा वा विकल्पः । तथा वैधं भगवद्विष्णवर्गविषयमित्यर्थः ।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः ।

अतएवनिर्धारोऽपिवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

वाचकामां परित्यागः, इति ।

अथोक्तमालम्ब्यस्य अवस्य बाधसन्दिग्धत्वादतएवनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति । यथापत्तां साधनपरित्यागः कार्यत्वम् इति । यथापत्तां पूर्वोक्तानां साधकानां परसाधनमवयवनिर्धारविषयकत्वं तस्य परित्यागः सर्वथा त्यागः कर्तव्यः । तत्प्रतिषेधि-मूलावयवनिर्धारविषयकसौकर्यभासेन तयोः प्रागमायानिवृत्तिः सम्पादनीया, र्थसौ या । तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्वात् यथा योजनस्यित्यागे पूर्वोक्तैरेव निवृत्तिः भाविनश्चातुत्पत्ति-स्यापि तत्त्वनिर्धारि वाते शुद्धिदोषरूपसोदेयस्य निवृत्त्या निषेके च वाते प्रतिपन्नभोग-योर्निवृत्त्या तयोर्निषेधनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः ।

ननु वाचकत्वात् कर्तव्ये भोगस्याप्य अवस्य, तत्राहुते अवरिहितोर्बलादेवसाधनत्वात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिपन्नस्य चाच्छ्रयस्यत्वात् तस्यावस्यप्रत्ययत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्हितसार्थकत्वां तदर्थं निबान्माहुः भोगोपीत्यादि ।

भोगोप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विद्यते तदा ॥ ४ ॥

अपि समुपये । भोगे, अपि कदाचु प्रतिपन्ने, एकं परित्याग्यमिति शेषः । तथेति पंचमं दृष्टान्तः । यथा योजनप्रतिपन्नसौकर्यं परित्याग्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विभज्यम् । भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्महान् भोगः प्रथमे विद्यते इति ।

प्रतिपन्नस्य तयात्वे हेतुः सदेति । तदेतत् सर्वं मन्दादेहेतुं परं दुर्गमं चेति तदर्थं एतन्मो
 व्याकुर्वन्तः प्रतिहोमकामादाय प्रथमस्य मोघं विप्रवन्ते भोग इत्यादि । भोग उक्तरूपो
 द्विपक्षकः । तयोर्नये लोकासक्तिरन्त्या सार्वादिकलेन चतुष्टयपक्षत्वात्प्रत्येकं सत्तत्त्व
 एतत्सर्वः । ततो नूनं प्रतिपन्नं विप्रवन्ते प्रतिपन्नयोर्पीत्यादि । तस्य कादाचित्कलेन
 सत्त्वत्वात् पूर्वं तत्त्वप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । तयोः प्रतिपन्नयोर्मध्ये आद्याः साधा-
 रण्यः सुखेन उपायचतुर्थेण स्वात्म्यः । ययपि तत्त्वनिर्गतिविषयी पूर्वं प्रतिपन्न-
 विपक्षकत्वेन युज्यते तथापि न तात्त्व्यादेव निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्त्वहकारित्वेना-
 पेक्षिता । अतस्तथा त्याज्य इत्यर्थः । यत्तु ययलेन तथाप्यतीतिक्रमोपात्तत्वे किं चीन-
 निष्ठापक्षभावां तत्र योज्यमाहुः अतीतिक्रम इत्यादि । तु शक्यमित्ये । मतीकिन्ते
 मगदत्तसहायत्वेन विपक्षकस्य भोगः कलानां मत्वे प्रथमे आद्यमनोरथात्मके प्रवेशे
 प्रामोक्ष्यतो निःसम्बन्धत्वात् स्वात्म्य इत्यर्थः । ययमेव हेतुर्नैव महामिति पदेनोक्तो
 बोध्यः । द्वितीयप्रतिपन्नस्य निःसम्बन्धत्वे यो हेतुः सदा वदेनोक्तस्य सुखादपन्नि
 भगवत्कृत इत्यादि । सेवायां तस्य श्वेः सामर्थ्यसम्पत्त्येव सत्त्वेति यदा पुनः पुनः पुनः पुनः
 द्विपक्षेण तन्निर्गताभावः सेवायामव्यभिचारी स भगवत्कृतप्रतिपन्नः । तत्रैव हि साक्षा-
 त्मेयां च 'द्विपक्ष विपक्षक'मिति बुद्धिरिति । तात्पर्यं च चेद्वेदेन तदा भगवान्
 कृत एतौक प्रतिपन्नमिति सेवाफलं न दास्यतीति व-तन्मत् । तेन सेवाप्रतिपन्नपक्षता
 मुक्तिमिर्विचारयोग्यम् । तदन्वयेषां पुनर्दीनां सेवा चेत्तदर्थं पुनर्दीनां सापि व्यधी ।
 एतत्कृतस्वार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वैव सम्पन्नः । तदापि यौ 'य एवमिति
 किं'मिति चतुर्थस्तत्त्वयानयोक्तत्वेनानुक्तत्वात् आनुर इति निर्धारः कार्य इति
 श्रवणादायापत्तिः । तदा ज्ञानमार्गेण साधनानि त्रयमेव चतुष्टयस्य सामान्यसंज्ञासहस्रादि-
 सदाशुभासन्नपरेण वा साधन्य कोकामायाव । आत्मज्ञानस्य यौक्त्यात्कृत्यभावनाया
 स्थिती ययिन् स्यात्ते निवृत्ते एतत्साधारण्यपुत्र्य वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति विधेयः
 ऐतत्कलात् प्रपकरणवितर्कः ।

अनेतद्व्यवहारीय भवेद प्रतिपाद्यः । आस्तुरीयस्य हि पुष्टिनाह्वयोदायां 'जीवाले
 क्षामुताः सर्वे प्रयुज्ये चेति ययिता' इत्युक्तस्यैव अत्रदुर्गमेदेन द्विनिर्गता निरुक्तिः । ते
 तु मोघदेशाहः । 'मलिका ययवत्कृत ये मुक्तपवित्रास्ति । ययान्तसम्पत्ता ईशान्
 तेपामर्थे निरुप्यते' इति प्रतिज्ञावाचनेन तया नियमात् । अत एव 'इतिरपि समानस्य
 पुष्टिनाह्वयेन दुर्गमे । तस्मिन् विपक्षकत्वे नान्तर्येण ययते यय' इत्युक्तोपपत्त्येव । यया
 अतीत्यादिः । अतस्तत्त्व तदेव प्रतिपन्नपुनरेव इति ॥ ४ ॥

एवमतीतिक्रमोपपन्नवत्तु प्रतिपन्नयोस्तत्त्वान्वये चीन व्याख्याय साधारण-
 प्रतिपन्नतीतिक्रमोपपन्नान्वये चीन वक्तुमशक्यमिति ।

सविप्रोत्पत्तौ घातकः स्याद् यत्तादेती मदा मती ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता स्वाभ्या संसारनिवृत्त्यात् ॥ ५ ॥

साधारण इत्यादि । कथमिति हेतुसूत्रप्रकारबोधकम् । तथा चैतदोत्पत्त-
व्याज्यबोधकः प्रकारः क इत्यर्थः । अन्यथा प्रमाणं साधनद्वित्वात् । कर्तव्य इति पूर्व-
ग्रन्थविशेष आनयेति । व्याकुर्वन्ति मयिप्रत्यादित्यादि । कात्स्न्यदिशुद्धिग्राह्यादित्याद्
सकृत्तः साधनतः फलतयात्वात् तथेत्यर्थः । एवं भोगे स्वाभ्यवर्तनीयत्वे व्याख्याते
विष्टो घातकरूपो हेतुः साधारणप्रतिग्रन्थनिष्ठ इत्यर्थेन बोधितम् ।

ननु प्रतिग्रन्थकथाप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्तुनकात्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः
यत्तादेतीति । व्याकुर्वन्ति पतादित्यादि । यत मनी लौकिकभोगसाधारण-
प्रतिग्रन्थी सदा धने धने प्रतिग्रन्थकतो दुष्टता उपायघातुर्वेण यत्ताद् व्यात्
स्वाभ्यौ । यथापिकं शुक्तं चैन्यमेवानीन्तना सेवा कदा, तथा नागायासकथा जागरः
कृतमेदिदानीं निद्रापाति, जगत्तदेव न विभक्तित्वेव पुत्रलोपायचातुर्वेण सर्वथा तत्क-
व्याप्तित्वेत्तदर्थं पुनः कथयन्तित्यर्थः । द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति । द्वितीय
इत्यादि । पूर्व भोगप्रतिग्रन्थबोधमप्योक्तत्वात् योन द्वितीय इति शक्यनिरासयिदुक्तम् ।
ननु भगवत्कृते प्रतिग्रन्थे काश्चीं स्थितिरिति सा तु पूर्व विवृतिरिति पुनराहुतः किं
प्रयोजनमत आहुः ज्ञानेत्यादि । तथा च पूर्वोक्तादिति यो हीनः सिद्धान्तमुक्तावस्थां
'मत्तवगमे ति'ति परीक्ष्योक्तस्तस्य समारोपणाद्विनिवेशविशेषमर्थमिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पूर्वमुदेगादिभ्यः समाधन स्वाभ्यवर्तनोक्तत्वात् तत् स्वाभ्यवर्तनाभ्यासविमार्गं च
कुत्वा पश्चाद्बोरोपायस्य स्वाभ्यवर्तनं वक्षिष्यति न तुदेगस्यापि, तत् कृत इत्याकाक्षायामाहुः ।

न त्वाचे दातृणा नास्तीति,

यत्र प्रायः पाठे द्विषांसीकुर्वन्ति केचिन्नन्विषि । केचिन्न न लेति । त्वानि तु इति
निर्दिष्टं परं निवृत्तार्थकमिति मम प्रतिपाति । आद्ये उदेगे । तुः संव्यतिरुदे । तु निव-
देव वा न, चिन्ता फलदाप्रतिग्रन्थिनी न स्वाभ्या । तत्र हेतुः । दातृणा नास्तीति ।
अदातृणा नास्तीति वा । ज्ञेयज्ञानकुर्वन्ति । आद्यफलत्वादि । आद्यं यत् फल-
मलौकिकसाधर्म्यरूपं, तत्साधने प्रयत्नी, यत्प्रयत्नो दातृणा नास्ति, तदा तस्मिन् दानप्रत्यये
सेवा भवतिद्वितीया ।

उदेगो हि मानसो, मानसा एव निरुद्धसाधर्म्यजनकः, सा दानप्रत्यये 'चेतस-
प्रत्यय' 'सा चाविदन्' इतिवद्व्यवधि हीनं न करोति, केन सा सेवा अन्तर्निवेदि-
यिष्यतुक्तं भवति । अत उदेगे भविष्यत्पूर्वा चिन्ता भव्यद्वयवर्त्या न स्वाभ्या, किन्तु

सदा कर्तव्यम् । द्वितीयापेक्षे उद्यमेन कृत्वा फलाभाये मुख्यफलप्रमाणी भवत्युद्देशागुलं
नस्ति किन्तु तदोद्देशदशायां येनानाधिदैविकीत्युक्तं भवति । अतस्तथा आधिदैविकीत्य-
स्मादनायोद्देशनिवृत्त्यर्थं विना न त्याज्या किन्तु कर्तव्यम् । तथा चोद्देशस्य मुख्य-
फलतिरिक्तफलप्रतिपन्नकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दितायाश्च
'अनिष्टतो गतिमण्डी प्रयुक्त' इतिवाक्येन 'कहिंविद् स्म न भक्तिमोक्ष'मिति वाक्येन
च श्रुतशङ्कस्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः । अस्मादाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथमेन सेवाया
अनाधिदैविकीत्यस्य्यादकलारूपमुद्देशस्याप्यतापीननप्युक्तं ज्ञेयम् ।

ननु सर्वविधार्थियेकाभ्यां प्रतिपन्नत्वात् यत्प्रमाणानि प्रयासां त्यागशीलं ज्ञान-
दोषि यदा न प्रतिपन्ननिष्ठानिः तदात्मेन किं कर्तव्यमित्यत्र आह ।

शुनीये बाधकं गृहमिति ।

तदेतद्विगुण्यति भोगाभावा इत्यादि । उद्दिष्टः साधारण्यतिवद्भो विरक्तपि
व्याकथयन् भक्तिमान् केनेत तदापि शुनीयं फलं भक्तिमत्त्वात्प्रति तस्मिन्नपि बोधो
लौकिकः प्रतिपन्नं करोति । अतस्तृतीये बोधरूपे प्रतिपन्नेऽवस्थायां सति भक्त्या
गृहत्याग एवमेव प्रकटेष बोध्यत इत्यनुसन्धानं बाधकाभूतं गृहं त्याज्यम् । यतो
'भोगाभावात्सदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तथा च तदानीमपनेधोपायी
नेत्र इत्यर्थः । अपे त्यागो न भक्तिनार्थिसंन्यासरूपः, अधिकारभावात्, किन्तु 'तात्पर्य-
स्याति ततर्त नेहस्तान् विनाशन'मित्यादि भक्तिवर्तिन्युक्तभक्तिवाचनसन्नादनायै इति
ज्ञातव्यम् । एवमत्र यावान् कठिमांशः सोऽयं स्वयं व्याख्यातः ।

अतःपरं न एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्नुयात् तदर्थं गृहे उपायद्वयदिशति ।
अथद्वयेषु सदा भाज्येत्यादि ।

इयं फलप्रप्ती प्रतिपन्नकवती च अथद्वया, यथायत्नं भवदद्वयप्रदेकसम्यक्ता-
ज्ञापद्विषयमात्रसाध्यत्वात् अथद्वया, न शक्नुतसम्पत्त्यात्मता । अतः सदा भाज्या
प्रतिपन्नोपशितसामर्थ्यत्वेनैव सर्वेन्द्रिय तदा तदा विचारणीया । अत्र सदापरिदेहेनैव
पीयते, न तु फलहीनसमर्थम् । 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे'त्यादीनां विशेषागतेः ।

सर्वमन्यमाननोक्षणः ॥ ९ ॥

फलस्य शक्नुतसाधनमात्रकलबाधं प्रतिपन्नस्य शक्नुतसाधनान्तराधलनायनं च
मनोऽप्यविशतयादिमुख्यकाम्यदके भावस्त्वनायम्, भवद्विन्द्यां विना कथमपि केनापि
किञ्चिदपि कर्तुमशक्यमस्मात् । 'एव तु एव शक्नु कर्म कात्यती'त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात् ।
'अन्यासाधितपन्तो मा'मिति वाक्ये व्याख्यां योग्यैवद्वयस्य सर्वदेन्द्रियत्वात् तत्तत्त्वात्
प्रतिपन्ननिष्ठपद्विषयमप्येवस्यापि भवतीति कर्तव्यत्वादेकद्वयस्य द्विष्ट्याये 'जातयदो
नरकस्यासु निदिग्धा कर्तव्यम् । वेदं दुःखात्मकम् कथम् पत्त्यानेत्यनीयम् ॥ एते

भवेत् मां भक्त्या अद्वातुर्दनिशयः । सुप्रमाणम् तान् वल्लभान् दुःखोदकीयं गर्हयति-
त्यनेन तथा करुणसाक्षात्प्राप्तम् ॥ ६ ॥

ननु यथैवं तदा भावनसाक्षि किं श्रयोजनम् । नहि जीवप्लुतया भावनया सत्य-
संकल्पो भगवान् सविचारितादित्यथा किमिति करोति । तथा सति किं भावनोपदेष्टुमेत्यत
आहुः तदीयेरपीत्यादि ।

तदीयेरपि तत् कार्यं पुष्टी मेव विलम्बयेत् ।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वद्वन्द्वेभ्यः भगवत एव भावनाय भगवदीयाः,
तेरपि तदुक्तं भावनं कर्षयेत् । तत्र हेतुः । पुष्टी अनुपपन्निक्ये, भगवन्निव विलम्बयेत् ।
एतादृश्या विलम्बं न करयेत्, न कुर्षोऽह । एषो राज्यमन्त्रीरदितिवत् स्वार्यं जित् ।
तथा च पुष्टिमर्षोदायां स्वयमेव साधनतास्तुतरेषादस्यात् स्वयमज्ञाय वेतिरिपीरिति, एति
विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यो, अतो विलम्बमात्रायाप्यनुदेष्टुं इत्यर्थः ।

ननु 'सर्वं त्यक्तम् इति गुणो जीवस्य मेव मे । चित्तया हेतु गृह्यात् स्रवणतो
निवन्धत' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्भाषणात् चित्तया गुणाः कालकर्मसमापयन्त्यां क्षुम्प-
माणाः प्रतिपन्नान्तेन तदा किं कर्षयितव्यम् आहुः गुणक्षोभेपीत्यादि ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणक्षोभेपि चरतरया भगवदिच्छाधीन इति तथापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बय-
मेव कारुण्येन द्रष्टव्यम् । इति मे मतिः । इदमस्माभिरुच्यते । अथ नात्यस्त
सम्प्रतिस्तिर्यः ॥ ७ ॥

तत्र हेतुः कुसुष्टिरित्यादि ।

कुसुष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

एते सर्वे साधनान्तरीयेदेष्टव्यमिति कदाचित्प्रतिष्ठितं वा विकल्पेनेत्यथेत, परं
॥ विकल्पोऽपि तदेष्टव्यमप्यपानाद् वै निवन्धेन भ्रमः । भगवता 'देही क्षेपा गुणमयी मम
माया इत्येता । मामेव मे श्रवणतो मायामेवां तरन्ति न' इति गुणप्लुतिवृत्तये स्रवणवि-
भाज्येन साधनसौकर्यात् । साधनान्तरकल्पे च निःक्षेपविप्लवभावात् । भगवत्कृता-
विलम्बकल्पे तु भगवन्तेन चरन्मिति दुःखप्लुतये । अतोऽस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यते
इति तथैत्यर्थः ॥ ७॥ ॥

एति तथैत्यप्याहुर्द्विस्तु पुष्टोक्तम् ।

केवाक्येतिरिक्तोक्तिरिति चैवमुच्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासार्थपरमैकतामसीपीताम्वरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य
कृतां सेवाफलविशुद्धिप्रकाशः सञ्जयः ॥

श्रीहृण्मात्रं नमः ।

सेवाफलम् ।

विरुतिविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीराजभाषायां विद्वेष्यन् निवान् गुरुम् ।

सेवाफलस्य विरुतिविवरणं नितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ द्वैतोद्धारप्रवक्तव्यानां श्रीमद्भाषायां निवानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावमुक्त-
वेधायाः निरूप्ये तत्कृतप्रतिफलसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति पादवी सेवा-
मेति । एतद्द्वयस्यातिवर्तिष्ठानेन दुर्बोध्यत्वात् अथमेव विरुति रचयन्तः सेवाया निरूप्ये
फलसाधिकायां तत्कृतप्रवक्तव्येष्ववधारितेषु सेवायाः साधनसाधनार्थेन साधनवर्तमानं वारयन्तः
फलसाधनान्याहुः सेवायापामिति ।

पादवी सेवाया मोक्षा तरिष्यती फलमुच्यते ।

अलीकिकस्य दाये हि पादाः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

सेवायां फलप्रथम्, अलीकिकस्यामर्थम्, साधुज्यम्, सेवोपयो-
गिदेहो पैकुण्डादिषु । सर्वत्र साधनान्ते फलम् । फले कथं साधनसाधः । अथ
सेवासाधनमेवायां किमवाप्तायामित्युच्यते न तद्वत्साधनकारः । पादवी सिद्धिः साधन-
पत्त्यां कथिता पादवी सेवा, नमिष्यती गान्धीये सिद्धे, तस्यां वरकृतप्रवक्तव्यलीकिकसिद्धि,
तदुच्यते । आपककृतलीकिकस्यामर्थस्य प्रमुखा दाये कृते, वरकृतप्रवक्तव्यलीकिकसिद्धि
कथिते साधिते, आदी उक्तमफले नाथो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फले साधुज्यं वा
जिप्तेत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यभिप्रेतवान् । हि मुक्तोपदर्शः ।
अथ द्वौ पादवी पूर्वफलमुच्यते ॥ १ ॥

फलं वा साधिकारो वा न फललोभ निषामकः ।

वदेमः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु वाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां प्रतिबन्धफलप्रथम्, वदेमः प्रतिबन्धो वा भोगो वा ।
फलमिति । आपककृतमविषयम्, परमाहुर्प्रदीकृतमन्त्रम् । एवं पादस्य दायेकं साधनम् ।
फलप्रथमं साधनमाहुर्महोदयम् । कथमित्यस्य सेवापूर्वकाले सितत्वकारणं फलप्रवक्तव्यं
माहुः न फल इति । अस्मिन्निष्ठारे सत्यमुक्तारित्यः फलमे निषामको न । अतः
फलप्रवक्तव्यसाधनताविचारः । एवं सेवार्थिकं फलप्रथममुक्ता प्रतिबन्धकप्रवक्तव्यमाहुः
वदेमः इति, विरुति सेवापामिति । उद्विक्तो वेगः अथ, आराधादिना मन-
वाच्यं वा पादादिना । स च सेवाप्रवक्तव्यसाधनेन वाधकः । प्रतिबन्धक्य सेवायां कथी

सत्त्वानि तत्समये लौकिकवैदिककानिषादिकर्षासंक्षिप्तम् । स च तत्समदशोभनेन
पापकः । योगश्च शरीरपृथक्पुनरेवान्धकारप्रवनादिरूपः । सोऽपि पूर्ववशाधकः ॥ १ ॥

ननु कलानामनुग्रहलभ्यतायानुग्रहस्य च भगवद्विष्णुधीनतालोपायां क्षिमा-
पायां यम कर्तुं यत्नियति न वेति सन्देहः कथमेवादत्तसन्निवारणाय तु पापकमिहा-
रम्ब इवा केसलमाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेष्टुर्निर्दिष्टम् ।

यथा पाप्मनश्चनिर्धारोऽविचेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

साधकानां परित्यागः,

अपायां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भगवतो पापकमयं न करणीयं चेत्
तर्हि एतत्त्व अल्पम गमनं न, फलं तु यथा यत् । येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण
फलमिति सन्देहात्माहः । यद्वा भक्तिमार्गो भगवदनुग्रहलभ्यः । तस्मिन् कथं प्रतिभगव-
त्प्रतिपत्त्यस्तु पापकमित्यदि यथा केसलमाहुः । पापकप्रवृत्तम् । पापकं पूर्वोक्तं
भगवदोक्तं चेत्तदा भक्तिर्निर्दिष्टा सेवायां साधुभ्यः ॥ १ ॥ पापकं चेत् सर्वथा तदा
न हि फलमात्र इत्यर्थः ॥ २ ॥ यत्तदोक्तिरसम्बन्धावयाव पापकं तथा चेत्तदा वा यम
कर्तुं निवृत्तम् ॥ ३ ॥ तथा चेत् भगवद्विष्णुधीनतायै विष्णुध्यात् फले प्रविश्यन् ।
तथा च यथा जीवस्य बाह्योपकारः स तद्वती तेषां कुरियति, तस्य साधिकाद्योर्ग
फलं च भविष्यतीति सन्देहात्माहः । एष फलविकल्पे शब्दे किं कार्यमत माहुः भगव-
न्निर्धार इत्यारम्भ साधकानां परित्याग इत्यन्तम् । निवृत्ती स्वप्नालामिति ।
प्रधानाद्वेगादीनां साधनसाधननिर्धारसाधिकाद्यै च तत्त्वनिर्धार विवेकयोरन्वासेन
सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः । ननु तत्त्वनिर्धारविकल्पो किञ्चिदपि तथा हि, तस्य लोकनेदमसिद्धस्य
दुःखोपशमस्य भास्वरम्, तस्य निर्धेय निर्धारः । 'सर्वं यत्किञ्च नमः,' 'स ह्येवावासाह,'
'अस्यैव कृष्ण'दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भावनम् । विवेकस्तु 'हृदि सर्वं विवेक्यम्
कुरियतीति सर्वत्र भावनमुक्तिः । ननु पापकानां नान्ये भोगस्तानि त्यागे यतो न विना
शरीरमित्येवमग्राह्यं चेत्तथा अस्मिन्मात्रेण त्यागे व्ययत्वाभाहः 'भोगोपीति ।

भोगोप्येकं तथा परम् ।

निःशून्यं मतान् भोगः प्रथमे विद्यते तदा ॥ ४ ॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽर्थाधिकारश्च । तत्र लौकिकः स्वात्म-
तत्त्व । प्रतिपत्त्योपि द्विविधः, साधारणो भगवत्पूज्यत्वेति । तत्राद्यो मुक्त्या
त्यागः । अर्थाधिकभोगस्तु कलानां मध्ये प्रथमे यद्विद्यते । भगवत्पू-
ज्यत्वेन प्रतिपत्त्यस्तदा भगवत्पूज्यत्वं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदाभ्य-
मेवापि स्वार्थः । तदाशुचोर्ग जीव इति निर्धारः । तदा भगवन्मार्गेण स्वात्म-
त्यागः ।

[illegible]

सभिमोल्पो जातकः स्यादुहादेर्ना सदा मर्ता ।
 ...

सविमोक्षयो चातकः स्यादह्लादना सदा मनो ।
 सविमोक्षस्तथाज्ञेयस्तथा । एतौ सदा इतिवन्धवो । यस्तादिति । यत एतौ
 सदा यथेष्टाने सेवासनयोपकालेन मनो ह्यती । अतो यताह्लादहृद्योपायवाच्ये
 त्वायौ । अस्तकृतं श्रीपुरुषोत्तमा आह । यथाहि, 'मयापि कृतं मेन्मोदासीतना सेवा
 यता, मया गान्धावातयथा जामर इत्येदिदानी निद्रायति, तस्मादेव न विवेकमिति ।
 इत्युक्तमनुसराय । अतः परं ज्ञानविषयोऽप्यात्मा नमस्कृत्यवतिन्दते स्थितिप्रकारमाह ।
 ॥ ५ ॥

क्रितीये सर्वथा विज्ञा त्याज्याजरोभारविशेषान् ॥ ५ ॥

द्वितीयं भयवस्तुत्वमिति च । आनसिस्तामनि चिन्तामात्रादेवाह द्वितीय इति ।
द्वितीय इति भयवस्तुत्वमिति च । आनसिस्तामनि पुनश्चापीदमपि चिन्ता मर्यादा-

लाभ्या । कुतः ? अर्थसाधनविषयात् । अनाथमर्थः । 'अभिन्वितमर्थं नास्ति शेषकं सर्वथा यत्' इति शम्भयेन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति ।

एवं भोगप्रतिपत्तौ स्वात्मत्वेन विचार्य उद्देष्टव्यमे पीवं वदन्ति नन्विति ।

अन्वाये दातुता नास्ति तृतीये चापार्कं एहम् ।

आशयकलाभावे भगवतो दातुत्वं नास्ति तदा सेवाभाभिदैविकी-
त्युक्तं भवति । अथ दातुत्वम् । नन्विति, न स्थिति । नु निशयेन, आये उद्दे-
ष्टेति कलविषयिणी चिन्ता न लाभ्या । तत्र हेतुमातुः भगवतो दातुता नास्ति ।
एतदेव विवृताशयेत्यादिशोकम् । एवं च सेवाया अनाभिदैविकीलाभ्यादकलादुद्देष्टो-
ति लाभ्यः, परिष्कारादुद्देष्टो वस्तुहेतुः, स सर्व्वेन निवारयिष्यतीति निश्चयेन लाभ्यः । एवं
जानतोपि यथाकल्पितेपार्कं प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिपन्नं करोति तदा कर्त्त-
व्यमातुः तृतीय इति । विवृती तदति योग्येत्यादिना व्यापशब्दे । भोगाभावस्तदैव
स्थिरमिति यदा गृहपरिक्रमः । तृतीये भोगरूपे प्रतिपन्ने गृहमेव लभेत, कृपा-
वशेन गृहं दातुमीति । तथा इत्ये भोगसालीकिकत्वं विधेदिति लौकिकभोगसत्त्वक एव ।

अथइत्येवं सदा भाष्या सर्व्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुरी मैव चित्तम्यवेत् ।

गुणभोगेभ्यो हृष्टम्यवेतदेवेति ये मतिः ॥ ७ ॥

कुसुमिदं वा काचिकुसुमयेत स वै भ्रमः ।

एवं कठिनां सर्व्वं व्याकुल एतत्सामेयसमर्वाणां यत्कर्त्तव्यं तदाहुः अथइत्येति ।
इवं कलमपी प्रतिपन्नकलपी चावस्था, अतो चापकलासुरादिकीं कृद्दिन्यतिशये
सदा विचारणीया । अन्वत्सर्व्वमिदं साध्यमातुं वा वातुतामित्यादिरूपं मनोभ्रमः पित-
वादिर्तुस्त्वमेवेति शेषम् । ननु भगवत् सत्तज्जितज्ञः, यथा सर्व्वं निवारितवांस्तपेव कतिप्य-
नीति विमोहेनेत्याद्यन्वातुः तदीयैरिति । एते हि शम्भयेन तदीयतः । स्वकीयार्था सर्व्वं
चिन्तानं भागवत एव कर्त्तव्यम् । अतो भगवदीयैरपि गदुकमात्रं कार्यम् । एतेनावन्य-
तरमात्रं ज्ञात्वा गुणवस्तुभेदे भगवत् पापकेषु सात्त्विके नैव चित्तम्यवेत्, कलं दद्यादिव ।
ननु चिन्तनां गुणार्था शोभे निचारे निजमात्रेति प्रतिपन्नो मदेदेव तदा यत्कर्त्तव्यं
तदाहुः गृणेति । सत्त्वादियुगेषु क्षुम्भमानेष्वपि भगवत्कृता प्रतिपन्न एव कारणमिति
ब्रह्मम् । तदपि भगवदिच्छाविषयमपेक्षितमो भाग्यः । यम भवेत्तस्य पर्यवसानम् ।
सर्व्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्व्वगुणवत् । अनादिनिष्ठपदे अपरितुष्टिः कुपुष्टिः
नकाराद्यपरिपन्नास निवारणे बन्धोन्मुखावशेमेतद्व्या वनसि जलेन तदा साति प्रवक्तृ-
येतिशेषम् । एतेनावन्यमात्रनपूर्वीं भगवदीयैः शेषम् ॥ ६ ॥ अथ ॥

इति श्रीसेवाश्रमविधुतिव्याख्यायं समाप्तम् ॥

सेवाफलम् ।

उत्सृज्यते । अतः प्रकृत्युत्पत्तिरिति सिद्धम् । अतः प्रकृत्युत्पत्तिरिति सिद्धम् । अतः प्रकृत्युत्पत्तिरिति सिद्धम् ।

नौवर्षेभ्यः कन्दे मज्जराजकिरीष्णम् ॥ ६ ॥

श्रीमदाचार्यवर्गश्रीनिङ्गस्यकृपापताम् ।

श्रीमदाचार्यपञ्चाननसंस्कृतसंग्रहम् ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्त तस्मिन् कलमुच्यते ।

[illegible]

अलीकाले हि वाचाः सिध्येमनोरथः ॥ १ ॥

अलीशिकलर दाने हि व्याधः शिथिलमनोरथः ।
 मयंस्तु अलीशिकलंन्द्रियर्षण दाने मयस्ता इत्ये सति व्याधः 'मयमती'-
 त्यादिसौकन्यर्षणेषु विपु फलेषु वपनो मनोरथो मयमर्षणादिमिवकः शिथिल-
 पलवर्षणसापी मयतीति मयमर्षणार्थः सम्यक्तत्वात् । 'अक्षयतां पतनिद'मिषिमुति-

रूपयोनिकायान्पात् । अक्षय्यतामिन्द्रियवतामित्यर्थः । तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भग-
वत्कर्तृवर्मभेदितम्, अन्यथा पूर्वोक्तमन्त्रा 'अगत्यास्तु वा मोक्ष'मिच्छिष्यन्नातिमङ्गीर्यते
दर्शनवदिकं न सिन्धेदिति भावः । न च सास्तु दर्शनमिति, साधुव्यवसायित्वविधानम् ।
'नैकार्जनां वे सृष्टयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनविलम्बात् । इह क्वात्मतां न
सृष्टयन्ति, अपि तु दर्शनवदिकमेव सृष्टयन्तीत्यर्थादप्याति । 'मत्सादसेवाधिरता' इति
वाक्यात् । अत एव मूले सृष्टादप्यर्थः मनोरथव्याप्ता उक्तः । अत एव शुचादुर्योक्तं
'न योगसिद्धीरप्युपार्जय पा सनखस स्वा विरहस्य कांक्षे' इति । अर्हस्तु अजुपार्जय मोक्ष-
यति स्वां विरहस्य न कांक्षे अपि तु स्वानेव फलत्वेन वरंश्च इति । एतदेव श्रीमन्नारदसि-
म्भक्तं 'अक्षय्यतां फलविदं न परं विदाम' इति । यतो मोक्षः साधुव्यादिरिति
मुषोपिन्वा व्याख्यातं च । अत इन्द्रियवतामिदमेव रक्षात्मकं दुरुपयोगस्वरूपमेव फलम् ।
'मगपता राह संगतो दर्शनमिल्लिख्य वे'ति मुषोपिन्वा सर्वेन्द्रिययोगवत्त्वेन कथनात् ।
अत एवाक्षय्यतामित्यस्य मुषोपिन्वा वाक्यलाभात् परं विष्णोर्'मिक्षुतेमोक्षस्यैव दुरुपयोग-
स्वरूपमेव फलम्, तद्वदितानां तु मोक्ष एव फलमिति स्पष्टयामितम् । पुष्टिमन्त्रास्तु
भगवत्सेन्द्रियानि तत्प्राप्तौ सक्तसेन्द्रियैः रक्षात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति । न होतात्मकं साधु-
व्यादाविति । 'मक्षानन्दे प्रविष्टानामाहमेव सुखममा सेवातस्य विलीनता'दितिनिश्चयात् ।
अत एव 'दीपमानं न एतन्ति विना मलोपनं वना' इत्यनेन सात्विकप्रादानामवप-
नुक्तम् । न च मोक्षमुखाद्यानाञ्च पृथङ्गीतिवाच्यम् । 'मत्सेवया प्रसीतं च सात्विकव्यादि-
पनुक्तम् । नेच्छन्ति रैवमा पूर्णं कुतोन्वात्मकविलुप्त'मितिवचने तेषमा पूर्णं इत्युक्त्या
तेषां भगवता शमायनात्, अन्यथा अज्ञानात् एतन्तीति भगवात् तेषां सिन्धत्वेव कुर्वाण
स्तुतिम् । अतो ज्ञाते भगवत्सेवया मोक्षादप्यधिकरणोन्मीति । 'मपुद्गिरतोवातुरक्रमनसाभ-
गवोचि फलम्'इति वाक्यात् । अतः फलव्यापामाभिदेवित्वान्वाचनार्थं वा फलरूपा
भगवत्सेवा वा मोक्षादपनुकृत्या । अतः सा भगवता परमातुवदभावनाय वादशाधिकारिणे
पुष्टिमन्त्राय दीपते, न तु सर्वेषां भक्ष्यम् इति ज्ञेयम् । 'अस्तेवर्मदं भगवान् मन्त्रां
सङ्गन्दो मुक्तिं ददाति कर्दधिरस्य न मक्षिषीम'मिति मुख्यवचनम् । इह भक्तियोगमित्यस्य
फलरूपपुष्टिर्भक्तियोगमित्यर्थो ज्ञेयः । एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्ति न ददाती-
त्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना वाच्यी भक्तिर्न शक्यत इत्युक्तं भवति । अत एवावति
मूले अलौकिकरूपस्य दाते हि पाचः सिध्येन्मनोरथ इत्यनेन दानमेवोक्तम् ।

तथा च सिद्धमेतत् । अलौकिकरूपसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिमाभिव्यक्तेवाच्यमेव, फल-
द्वयं तु भर्वादामतात्मात् । अतु तृतीयस्तन्मे कथितवानप्ये 'देवतां पुष्टिमावा'मित्यत्र
भर्तृत्वप्रमाणवत्त्वा 'पश्यन्ति वे मे' इत्यादिवा भक्तिफलत्वेन फलनपनुक्तम् । तत् फल-

वदमित्यर्थः । इदं मध्यम कृतम्, अतीतिक्रमान्मध्यमेष्वपि हीनम्, सेवीपपिच्छदेशेऽप्येवो-
त्तमम् । अतो मध्यमम् । अतीतिक्रमेन्द्रियवर्गस्य दानसाम्येभ्यस्तन्माध्यमानां तदन्तर्गते साधुष्व-
भवति । बहुकं मूढे, फलं वेति ।

फलं वा साधिकारो वा न फाल्गुन्य निषामकः ।

फलशब्देन साधुष्वपि । साधारणमर्पादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः । 'इत्यात्मनो
इतश्चापि' भक्तिरनिच्छते मे भक्तिमन्वी प्रयुक्त' इति तृतीयस्वरूपव्याख्यायात् । न चान-
यापये 'अनिच्छत' इतिपदेन बोधेऽप्यशङ्कानां दुष्टिमचानां ग्रहणाद्येवमेव साधुष्व-
साधोसीतिवाच्यम् । बोधरश्मयेव तैर्बोधकैः कृतत्वात् । अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना
कदाचिदाशङ्कयाचोदयात् । न ह्ययं वाच्योपां सार्वदिकः । अतो भगवति प्रेक्षाप्रेक्ष-
सोपाधिः । बोधरश्मत्वेन भवति ज्ञातत्वात् । अत एतेषां साधुष्वपि प्रतिभवंति । इतश्च
तृतीयस्वरूपव्याख्ये स्पष्टम् । पूर्वोक्तातीतिक्रमान्मध्यमफलसाधारिण्यां तु भगवति निष्ठा-
पिच्छेग । साधुष्वपिप्रत्यक्षं स्पष्टमहिमेनैवोत्तमत्वात् । अतो भगवत्स्वरूपस्य सकृदे-
न्द्रियास्वाकषेण तेषामवैधित्यादतीतिक्रमस्यानं दृष्ट्या सर्वेन्द्रियास्वायो भवति, येषां
बोधरश्मत्वेन सोपाधिक इति तेषां साधुष्वपि निमित्तविषयः ।

एव मध्यमानां फलसुतरसा हीनानां फलमाहुः सेवीपपिच्छदेशो वेति । व्याप्ति-
वेद्यम्यादीं पार्पदादिदेहद्वयमित्यर्थः । 'अथो निमित्तं यम साधारिण्यान्मध्यममनु-
प्रयुक्तम् । अथ साधवती वा स्पष्टमहिमं भवति फलं मे तेषु भवति तु लोके' इतिप्रतिपादनात् ।
एतद्व्याख्ये 'अतीतिक्रमादिक्रम फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

अत्र केचिद्वक्तव्यं यदेन व्याप्तिवेद्यम्यादीं देहद्वयमित्यर्थः । अथ निमित्तं यम साधारिण्यान्मध्यममनु-
प्रयुक्तम् । अथ साधवती वा स्पष्टमहिमं भवति फलं मे तेषु भवति तु लोके' इतिप्रतिपादनात् ।
एतद्व्याख्ये 'अतीतिक्रमादिक्रम फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

इदमत्र प्रेरम् । अतीतिक्रमान्मध्यमफलं व्याप्तिवेद्यम्यादीं देहद्वयमित्यर्थः । अथ निमित्तं यम साधारिण्यान्मध्यममनु-
प्रयुक्तम् । अथ साधवती वा स्पष्टमहिमं भवति फलं मे तेषु भवति तु लोके' इतिप्रतिपादनात् ।
एतद्व्याख्ये 'अतीतिक्रमादिक्रम फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

एतत् फलमनुप्रयुक्तम् । अतीतिक्रमान्मध्यमफलं व्याप्तिवेद्यम्यादीं देहद्वयमित्यर्थः । अथ निमित्तं यम साधारिण्यान्मध्यममनु-
प्रयुक्तम् । अथ साधवती वा स्पष्टमहिमं भवति फलं मे तेषु भवति तु लोके' इतिप्रतिपादनात् ।
एतद्व्याख्ये 'अतीतिक्रमादिक्रम फलमाहे'ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात् ।

तु शुद्धा त्याज्य, शुद्धिपूर्वकं तस्य त्यागं कर्तव्यं इत्यर्थः । अलौकिकभोगस्तियति ।
मग्नस्त्वोपायं मुक्तदुर्षासनादिदोषनिवृत्त्यै ताम्बूलमक्षुषादिरूपं, मग्नश्रमित्यादलोकितम् ।
'मलिनं निर्गुणं प्लुतं निजिगम्यमात्' । 'कथमेव वाचा यन्वेतिद्विर्वा' इति श्लोके मग्नदुर्षं
प्लुतस्य इत्याधारमादेरिति मग्नदुर्षमस्य नवयोमित्यस्यैव कविनोक्तत्वात् । 'धर्मज्ञं मागं
यत्तान् प्लुते'ति प्रयोगनामात् । श्रीमन्नयुचरस्यै स्वयत्तस्यै तथा व्याख्यानात् । कलानां
मध्यमे प्रथमे प्रविशतीति । साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । भौतिकसामर्थ्यरूप-
फलसाधको भवतीति यावत् । अतोऽलौकिकभोगो न त्याज्यः । तदुक्तं प्लुते ।

निष्पत्तुं महान् भोगः प्रथमे चिन्तने सदा ।

अथस्तु सज्जान् भोगः पूज्यो भोषो भगवत्सेवार्थमवरागतेष्वदिरूप निष्पन्नपूर्
निर्विघ्न यथा स्वात्मना प्रयमेत्तर्ज्यैस्त्रिस्तान्मर्त्यरूपे कते प्रतिष्ठति, तत्कलत्रावको भवतीति
यान् । साधारणप्रतिपन्थस्य सुखा त्याज्य इत्यनेन निराश्रयस्य दाह ॥२॥३॥

यस्य भगवत्कृतमद्वैतब्रह्मसत्तायाः निवृत्त्युपायो यत्कथ्य इत्याशयस्य नास्ति कश्चिद्विद्वत्
 चाप इत्याहुः । भगवत्कृतमद्वैतब्रह्मसत्तायाः विधिक इत्यन्तेन । तदा भगवान् फलं य
 दाक्ष्यतीति । सेवाफलं मुक्तिरस्य न दाक्ष्यतीत्यर्थः । तदान्यसेवापीति । मुक्तिप्राप्त्यर्थं
 यन्मया दीर्घदिनेत्यर्थः । तत्र हेतुः । तदाऽऽसुरोद्यमिति । आसुरस्य तु 'विजम्बायासुरी
 नते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति दीर्घदिनेत्येवापि नपेति भावः । तद्वत् सत्यं ।

अथर्ववेदः सगद्यतः सर्वथा वैदु गतिर्न हीति ।

तस्य पञ्च भगवत्कृतं प्रतिपन्नं च त्रिपुरं, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि
पलायनादित्यवनिवृत्त्यै स्यात्, तत्त्वैवमिति कथं स्वादिष्टासनस्य लेखनितुः-मुद्रापन्नाह
तदा ज्ञानमागच्छेति । येनाहमुल्लासिता तेन कर्मभरेण यदिधारितं तथैव भविष्यतीति
मया ह्येव स्वात्मनिर्वाहोदयारूपेण साधनेन नेमि-त्वेन स्वेवमित्यर्थः । तदुक्तं मते ।

यथा वा तत्परिणामो विवेक माधन मत्तः

साधनमिति शोभायसाधनमित्यर्थः । एव साधारणप्रतिपत्तौ शुद्ध्या साध्य
दृष्टवत्ता भगवत्कृतप्रतिपत्तौ वस्तुतत्त्वसामान्यात् तद्व्यपेक्षानिवृत्तये ज्ञानमार्गेण श्वे-
दित्युक्तम् ॥ ४ ॥

अतः परं भोगकूपयतिन-धनिभूरक्षुण्णमवाह साधारणो भोगः कथमित्याह
 व्यासः इत्यनेन । भोगस्तं मुपदेहेतुर्नेन त्वा-यत न समस्यावातीत्याश्रयवाह ।

सन्निशोषणीयात्तक, खादिति ।

सविभालादभलादभेन स्यान्नयम् । गोमयं सविभलमयत्नं च सुहृद्भुविचार्य
न्यायं कार्यं इति मत्तः । शास्त्रप्रमाणविरुद्धं तु शास्त्रकालाव्याप्तरसम् । साधारण-

प्रतिपन्नं वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स च महादोषरूपत्वात् ऐवांसिर्देवीतयो
मतिः । अत एव वेदनिन्दारूपः पापार्ता च अन्तान्तरात्म्यादकर्तृ निबन्धे सेवाप्रकरणे
उक्तम् । 'अत्रापि वेदनिन्दारूपमभर्षकत्वात् । नरके न भवेत् पातः किन्तु दीनेषु
उपत' इति । एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्पत्ता साधारण्यम्, सकलसत्कार्यमात्र-
प्रतिपन्नकत्वात् साधारण्यम् । भगवत्कृतप्रतिपन्नसु अतुरमापत्तिप्रकृत्यादसाधारण्य
इति विशेषे द्वेष्टः । एतौ सदा प्रतिपन्नधकारिणि । ऐकिकयोगसाधारण्यप्रतिपन्नी
सदा सेवाप्रतिपन्नी । ऐकिकयोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारण्यप्रतिपन्नस्य च
सर्वदा सम्पत्ता सर्वदा प्रतिपन्नफलमित्यर्थः । तदुक्तं गृहे ।

यत्नादेतौ सदा भवतौ ।

सदा प्रतिपन्नकी भवतावित्यर्थः । भगवत्कृतप्रतिपन्नसाधारण्यसाधारण्यनिर्धार-
णेन आतुरधीनस्य सेवाफलमात्र इति निरूप्य तत्कुलशोकनिवृत्त्यै ज्ञानमार्गेण स्थितिः
कर्तव्येति पूर्वं निरूपितम् ।

अतः परं येन ज्ञानमार्गेण नाशयितुं क्षम्यन्मातुरस्य चित्तसाध्यप्रकारमातुः
ज्ञानस्थितमात्रे चिन्ताऽभावात्तदर्थमाहति । यस्यातुरस्य ज्ञानस्थितमात्रस्य
चिन्ताऽभावसम्बन्धादनार्थमित्यर्थः । द्वितीय इतीति । भगवत्कृतप्रतिपन्न इत्यर्थः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थस्तु प्रतिपन्नयोग्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिपन्ने चिन्ता न कर्तव्या । तत्र
द्वेष्टः । संसारनिश्चयादिति । न संसार एव कर्तुं परमेष्ठेय विचारितं न कृतिः ।
अत वाञ्छितं न रक्षणीयम् । 'निष्कामायातुरी मता' इति याज्ज्यात् । एवं च चिन्ता न
कर्तव्येति । एवं प्रकारेण सात्त्विकं मनसि सम्पादनीयमिति भावः ।

एवमातुरस्य गेहद्वयम् । तत्र 'ज्ञानमार्गेण सात्त्विक'मित्येकः प्रकारः एवं टीकावा-
युक्तः । गृहे भवत्येवम् 'भगवत्कृत इत्यस्य विवेकः साधनं मनसि स्थितेनोक्तः ।
द्वितीयप्रकारस्तु 'ज्ञानस्थितमात्रे चिन्ताऽभावात्तदर्थमाह'त्येव टीकावायुक्तः । गृहे द्वितीये
सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयादित्यनेनोक्तः । एवं द्विनिष्कामायातुरस्य
सेवाफलमात्रो निरूपितः, शोकावाप्यकारणोक्तः ॥ ५ ॥

अतः परमुद्देशरूपप्रतिपन्ने किं कर्तव्यमित्यासंशयमातुः च त्याज्ये दान्ता
भासीति ।

न त्याज्ये दान्ता नास्ति द्वितीये वाच्ये गृहम् ।

आद्ये त्रिषु वाच्येषु अत्रोद्देश्ये प्रतिपन्ने तु चिन्ता न कर्तव्येति पूर्वसाध्यां

चिन्तापदस्यान्वयपदान्वायमन्वयः । तथा चोद्देशरूपप्रतिपत्त्यस्य विचारयितुं शक्यत्वेन तन्नि-
वृत्तुपापचिन्तां कृत्वा उद्देशो निर्वर्तनीय इत्यर्थः । अत्राप्ये हि चिन्तात्वाभो विधेयः ।
'तस्मादपरिहार्यं न तं शोभितुमर्हती'ति वाक्यात् । साप्ये तु चिन्ता रक्षणीयेव ।
यद्युद्देशकप्रतिपत्तिव्यतिरिक्तं साक्षात् किं सादिसाकांक्षावानाहुः । आशयपदलाभाय
इति भावेन पदार्थाय इति तृतीयस्तत्त्वम् । अथवाच्येन प्रतिपत्त्येव आशय उद्देश-
कत्वमेव कृते पदार्थाय भगवतो दातृत्वं नास्ति, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः ।
तत्र हेतुः । तदा सेवा वाधिदैविष्योत्पन्नं भवति । 'मनसो वृत्तिः साधारिणी तु
या । अनिमित्ता भागवती भक्तिर्गुणैरीषधी'ति तृतीयप्रकरणे कथितवाक्यात् सेवाया
भगवत्परात्मनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तसौख्यसाधनमाहुः इमे यं चित्तसौख्येनाज्ञात् सेवाया
वाधिदैविष्यत्वं न स्यात्, अत उद्देशनिवृत्तिं कर्तव्येति तत्त्वार्थम् । पूर्वं ज्ञापार्थां
साधनपरिख्यातः कर्तव्य इत्युक्तं टीकया, वाचकानां परिख्यात इत्युक्तं
मूले । ततश्चोद्देशत्वात् प्रतिपत्त्यत्वाभो भोगत्वापत्तेरिति त्वाद्यवयवतुल्यं भवति । तस्य
तृतीयस्य भोगत्वागस्तोपायमाहुः 'भोगाभावस्तदैवेत्यादिना । मूले तृतीये वाचकं
पूरयितुमुक्तम् । अथस्तु तृतीये 'भोगत्वाभे' इति वाचकम् । एतदस्य सर्वा-
त्मना भोगत्वागस्तम्भवादिति ।

अथह्येवं सदा 'भाषया सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अथस्तु इयमेवादिप्रतिपत्त्यवश्यं अनर्हं सत्यस्या न भवति । अत्र सदा
'भाषया विचारणीयः, एतद्व्यतिपत्त्यवश्यं साधनपरित्यागो निवार्यः । एतद्व्यति-
पत्त्यवश्यं साधनान्नस्य शेषमिति तात्पर्यम् । ननु तर्हि प्रतिपत्त्यवश्यमन्यथा
सोपाय सेवाभारं जन्या इत्यादिनां एवाहुः इत्याद्यवयवतुल्यं इत्यादिभारं
सेवासाध्यं कृतं न भवतीत्याहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति । सेवातिरिक्तज्ञानादिरूप
साधनं तु न सेवासाध्यकत्वापत्त्यम् । अतोऽत्र पूर्वनिवृत्तिपदत्वमाकाङ्क्षितिरन्यसाधन
कार्यमितिज्ञानं प्रमत्तावमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु पुष्टिमात्रेणैव भगवदनुपपत्त्यस्य भगवत्पुष्टिस्वाभावात् सेवापद सर्वथा भवि-
ष्यत्वेन प्रतिपत्त्यवश्यं तत्त्वतोभिकेति निमग्नं वदिष्यात् कर्तव्य इत्याशयः तावत्साति
एतद्व्यतिपत्त्यवश्यं विचारणीयेत्याहुः तदीयैरपि तदकार्यमिति ।

तदीयैरपि ननु कार्यं पुष्टी नैव चित्तमन्येत् ।

तदीयैः पुष्टिमात्रेणैव तत्कार्यम् । प्रतिपत्त्यवश्यंभावेन कार्यम् । किमर्थं कार्य-
मित्याकाङ्क्षायां 'पुष्टी नैव चित्तमन्येत् । भवति पुष्टी पदमात्रेण नास्ति, तथापि
पदचित्तमन्यस्तु प्रतिपत्त्यवश्यं नयेत्तु पुष्टी पुष्टिमात्रे न चित्तमन्येदित्यस्य न कार-

ये, प्रतिबन्धकवयादशावधानमेतु साकदा विलम्बो भवेत्, अतः प्रतिबन्धकप्रयोगात्
वृद्धं कृत्वा प्रयाणां साधनरित्यावः कर्तव्यः । सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन । एत-
दित्ये कतविलम्बो भवेदिति यावः ।

ननु प्रतिबन्धकवयासाधनपरित्यागेति सर्वेन भीताभायकतादी प्रकृतिगुणानां
पन्तरयसमतां प्रापत्यसोकताकक्षोभकृतः सेवावतिबन्धो भवेत्तर्ह्येति कर्तव्य-
मितीक्षाधानाहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेवि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणानां क्षोभेवि एतदेव बहुतमेन द्रष्टव्यं विचारणीयमिति । एतद्विषये
साधनरित्याव एवोपास्येन स्पृष्टम् । गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसंगः । सगुणं वस्तु
नगवैकादशे निरुक्तिं पदविशेषाद्ये । एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्य
सागः कर्तव्यः । व्यवहारविर्वाहस्तु 'मत्तिष्ठं निर्गुणं स्पृष्ट'मित्यादिवाक्याभ्यवसायान्नि-
वृत्तार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिरादार्थः कर्तव्यः । तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न
भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तेः सम्बन्धदोषरहित्यार उक्तः, स च न
सम्पत्तिः, सर्वसापि पदार्थस्य गुणवशात्प्रकृतमितिसांप्रसिद्धान्तादित्यार्थमपाहुः ।

कुम्भुष्टिरथ वा काश्चिदुत्पत्तेरुत स वै ज्ञानः ॥ ७ ॥

भगवत्प्राप्तविग्रहत्वात् सांप्रसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुम्भुष्टिः । अतस्मात्प्रज्ञानं
अथ एव । पदसि सर्ववदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव ।
'मत्तिष्ठं निर्गुणं स्पृष्टम्' 'मत्तिष्ठेन तु निर्गुणम्' 'निर्गुणं पदवत्प्रभव' मित्यादिवाक्येभ्य
इति यावः ।

तेनो दुष्टिप्रसौक्तं कारयित्वा निनां कृतम् ।

पदस्तु प्रथमं देतो वास्तव्यो मदीयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमहोदधेर्वैश्वनरश्रीनाल्लमाचार्यवरश्रीविहृतेश्वरचरणानुचरसेवकेन
साङ्ख्यमहोपनामपाठकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलभितृति-
रिष्यणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम् ।



पार्श्वर्हटकुन्बौति पेशुत्पदविशारदम् ।
कुत्सं दत्तवत्तादुर्पेक्षितमलक्षितं मष्टः ॥ १ ॥
नत्ता श्रीपलभाषापांस्तुतान् विहृतेभ्यस्तान् ।
विभुत्वा बहिरं केवाकल व्यासपापते मया ॥ २ ॥
नीताभयपतादापपुक्तं नमिदतादुदितम् ।
दुहिनेषाकलं ज्ञात्वा विचारे लक्षमान् मियान् ॥ ३ ॥
मिषोपमिपनथकुर्वन्तं सेवाकलामिपम् ।
सम्पन्निवरनोपेतं श्रीनदाचार्यपदिताः ॥ ४ ॥
पशुषाः सहस्रे पशून् सपेधम्यपिषी मये ।
नया विराजते निरतं कलेशायः पले तथा ॥ ५ ॥
सर्वेष्टेवाकलेभ्योव ज्ञाप्यतामनिकं पुनः ।
इति ज्ञानवितुं कार्यसततयेनैकवितम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीरामचन्द्रश्रीमानवतातुभाष्यभाष्यकलतत्पदीपशुपोधिम्प्यादितमाकलना-
समयैः वैमिदलितुतामाश्रीः श्रीपलमपरीषिः इत्याः श्रीपलभाषामेवताः क्षमानावहेवाकलं
निरूपयन्ति पादद्वी सेवना मोक्षतादि सार्वभवेन ।

पादद्वी सेवना मोक्षा तत्सिद्धौ फलमुत्पद्यते ।
अलीकिकस्य दाने हि पात्राः सिध्येन्ममोदयः ॥ १ ॥
फलं वा त्रयिकारो वा न फललोच विद्यामकाः ।

एवमा विवरणं तु मोक्षार्थं फलत्रयमालीकिकमात्रार्थं सागुत्तरं शेषो-
पविष्यदेतो वा धीकुषट्ठादिस्थिति । अथ सेवनापानि तु पादद्वी सेवना
मोक्षा तत्सिद्ध्यादितिलस विवरणम् । फलत्रयमिति तु फलमुत्पन्नं इत्यत्र वि-
तरम् । अलीकिकसामर्थ्यमित्यादि अलीकिकस्य दाने हि पात्राः सिध्ये-
न्ममोदय इत्यत्र अविषयरो बलेतदन्तम् अ विवरणं मोक्षम् ।

विषयकसामर्थ्यरूपसालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा कलस्य दाने वित्तमेव स आद्यः प्राथ-
मिकः सत्संगदिनेदं प्रयत्नयोलेखः विषयममगन्तव्यविषयको वक्तव्य मनोरथः स हि
निश्चयेन सिध्ये-मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवे-
दित्यर्थः । तथा च मनोरथविषयीभूतविषयसंगमसाधकं प्राथमिकं कल्पलौकिकविषयक-
सामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम् । अतः सिध्ये-मनोरथ इति वाटे स्वलौकिकसाल-
लौकिकविषयकसामर्थ्यसालौकिकसामर्थ्यस्य नाजदाने हि निश्चयेन विषयोपेक्षे
कति कदाचित् कदाचिन्मनसि वापमानत्वादतः सत्यो मनोरथः विषयसंगमविषयक-
सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः । पक्षेभ्यस्तत्रान् एवाभ्योनि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम् ।
अथैव ज्ञेयम् । मयमतौ सूत्रेण्यथा “यमेवे”ति श्रुतेर्निश्चयितरूपसपरिहरमगन्तव्य-
शुद्धबुद्धिमान्निधिं वरयम्, तद्वत् सत्संगदिना प्राथमिको ज्ञपयत्संगममनोरथः, तद्वत्
शुद्धबुद्धिमान्निधायार्थसंगमः, तद्वत् मयव्याप्तिजनकस्तिरोहिततत्वेवानन्दनिर्मायाम
शुद्धबुद्धिमान्निधायार्थसंगमं निवेदनम्, तत्सदुपदिष्टोत्थिन्मार्गे गोपिकानाथेन शुक्लमिति
कलमकरणीयसिद्धाया “इयं च गोपीनाथेन ये भक्ता” इत्याद्यादिपुत्राणांवाक्यात् मूलक-
शुद्धबुद्धिमान्निधायार्थानां समभक्तानां यो भावस्तत्तज्जातीयभावभावनार्थपूर्वकं सत्तदुपस-
विष्टमभावनकूपरीवाक्येन स्तरकपाद्यवभादिना वा कल्पयित्वैव प्रेयोत्पत्तिं देहपाते
‘सर्वं शकुनीये’ति श्लोके ‘सद्वृत्तयो भवा’नित्युक्तत्वात् प्रेयवदार्थसंगमसद्वृत्तपदस्य
मायालीकितदेहे रक्षमणीयत्वात् पूर्वतुरगमारभ्य सकलप्रेयस्यस्यविर्भावः । कल्पयित्
मयवदिच्छया प्रेयाससंगमनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरोधैव व्यवस्ये विविध देहपाते प्राप्ता-
लीकितदेहे व्यवसायवशाद्विर्भावः । कल्पयित्वपि न प्राकुजदेहे प्रेयिन् जाते तदभावा पूर्ण-
तुरगमगिरिदाग्निर्भावः, ततः स्वतोत्पत्त्यर्थे वा स्वशरीरं पालिकाग्नयेन साक्षादपि वा मनु-
दज्जे ‘चक्षुःशक्तिः एतां तज्जातिवदनिरीक्षण’मिति लक्ष्यानुवादात्तद्विषयकः परमा-
दपुत्रैकनिरीक्षणकृत्यधुराग्यरूपमयममेवावशाद्विर्भावः । सत्‘वित्तागमः विषयमे निर्ले-
पित्वम विषय’ इति लक्ष्यानुवादात् ‘ततः प्रेय तज्जातिः’रित्युक्तत्वात् प्रेयोत्पत्तिरप्रा-
प्तितत्त्वकृतपदस्यपेक्षारूपकविषयसंगमरूपद्वितीयप्रेयावसायविर्भावः । इत्येवावस्था मेधा-
पदाभ्या । ‘अभावनस्त निरूप्यन्ते रक्षास्तानस्यविकारः । शीघ्रादुतः पश्यथ वृद्धि-
विनार एव च । भवत्या द्विमेव सायध्वस्तुगादिषु कमात् । चक्षुरग्नौ मनःसंगः संजयो
वावरताया । तदुता निषपेदेयो लक्ष्यमगन्तव्यम् । उन्मादभूर्धमरमान्येत दस दद्याः
एतां’ इत्युक्तत्वात्पक्षुराग्यविषयार्थानां शीघ्ररूपप्रपञ्चमगन्तव्योक्तम् । ततः ‘संस्तन-
मनोरथ’ इति लक्ष्यानुवादात्तदा विषयसंगमे एवमेव अस्मिन्निर्वादिगीतवस्तुसंगम-
वस्तुत्पत्तिप्रेयावसायविर्भावः । एतावत् किञ्चिदुत्पत्तिकः पूर्वानुरागजयो रिरहः ।
अथाल्लौकिकविषयकत्वादलीकितो रिरहः प्रत्यक्षमवदन्पनिदुःखतो भातीति लौकिक-

[illegible]

दीनां च गोकुले । शोभिकानां च बहुलं तदुक्तं स्यान्मम कचिदि'त्यादिना । भवेदयं
 शेषम् । येषां स्वटीक्ष्णिकशरीरं तेषां तु व्यसनानन्तरं प्रमुसम एव, न दशमदशमाकलयन्
 यथा रासमण्डलमण्डनानाम् । येषां तु लीक्ष्णिकशरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशो
 दयो भवत्येव, यथान्वर्द्धकतानाम् । इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृह्यतावां लीला । अन्यथा
 मण्डलानां सर्वेषाम् स्वटीक्ष्णिकशरीरमिति तावता स्वटीक्ष्णिकशरीरवत्त्वात्माकृतिर्व्यधीरीरसा च
 स्यादितिदिद्म् । 'नन्वन्ते या मतिः सा नति'रिति शेषपदाचार्यानुमदहतेनाश्रयणेन पूर्वा-
 राधनमगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपक्षे शिवशमो भविष्यत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां
 प्रपद्यन्ते' इति सर्पोदा भव्येतेति किमर्थमलीक्ष्णिकसामर्थ्यादानं निगम्य वा न तत्तदशानु-
 भावनमिति चेत् । अत्र वदानम् । 'रसो पै क' इति श्रुतेः प्रथो रसरूपमाहसमर्थद्वयेन
 स्वस्वरूपत्वात्प्रत्यक्षटीक्ष्णिकसामर्थ्यादानं तत्तदशानुमाननं चेति आनीहि । अत्र च, तत्क्षण-
 मेव देहपक्षे चक्षुरादिकमेवावस्थातुमाभावादर्शने रसवार्थविषयवदीयानां सन्देह-
 सालो वैर रसरूपमवधारयतिरेकसाधनान्वयरूपमवधारयतिरिति । तदर्थमेव कस-
 चिदलीक्ष्णिकसर्वावस्थानुमतेरेव कार्यते प्रमुखा । तथा सति तत्तदवस्थानुमन्म मण्डलतो
 दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसरूपप्राप्तेर्निष्पत्तेरन्वयार्थिणा प्रवृत्तिरिति निःप्रसूहा भवेत्,
 तदर्थमनैवालीक्ष्णिकसामर्थ्यादानं तत्तदशानुभावेन चेत्तत् प्रवर्तितम् । एवमेवालीक्ष्ण-
 णामर्थ्यं साक्षादनुभावेनैवमिति दीयता इत्यत्रे व्यतीतमिष्यति । यदा, बोधिम्यार्थे
 समाधाति तदा तु 'यदे स्मिता सधर्मतः । अन्वाह्यो भवेत् कृष्ण पूजया भवतादिति ।
 व्याहृतोति हरी पित्त अन्वादी न्यसेत् सदा । ततः श्रेय तयासक्तिर्व्यसनं च यदा
 न्येदि'ति भक्तिवर्धित्वां तनुवर्तितावसेयाकारणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्त-
 नन्तरं तत्र 'यदा स्वावसनं कृष्णे कृतार्थः स्वादेव ही'रमुक्तत्वात् व्यसनप्राप्तेः कृतार्थ-
 करणमभावात् प्रापयितो मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति । तत्र व्यसनविषये
 नष्टतापोदपावच्छर्तं लीक्ष्णिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमिति, यदस्यादिति भयवता व्यसना-
 दिर्भावादव्यवर्तितात्वं कलमकालमेव सावलीक्ष्णिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसाधनार्थम् । एवं
 चालीक्ष्णिकस्य दाने हि । हि निष्येनालीक्ष्णिकसामर्थ्यादानं दाने अन्वयः
 प्रापयितो मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयः सित्येतिप्रसक्तो भवेत्, व्यसनप्राप्तिः स्यादिति
 चावत्, तददाने च न निष्यय इत्यर्थः । तथा च तदनुष्ठानार्थिपक्षे प्रेमासक्तिरुपायां
 क्षेत्रायां निष्ठायां प्रपन्नकलमलीक्ष्णिकसामर्थ्यादिति धीमदाचार्येणैतस्य प्रपन्नकलम-
 नुक्तमिति भावः ।

अथैतादृशविषयोऽनर्थादेष्टव्येतरं तु यद्यप्यन्तरमेदेवेदानीं तु देहस्य लीक्ष्ण-
 णात्वादिमात्रावच्छेदकसमर्थमनैवात्तत्त्वमनैवालीक्ष्णिकसामर्थ्येन च याति परम-
 काहावर्जं पञ्चमेति मुख्यकलमस्य द्वितीयं कलमाहुः पदं चेति । अत्र विवरणे कथ्यमानं

दितिहासपुराणादिषु कुर्यापि भक्तिमार्गोक्तिरित्यमर्गे मन्त्रबोधप्रधानतयायूपनामकम् ।
 अपरम्, यदि मन्त्रबोधोक्तस्यावयविकर्तृत्वमभ्योगो विधेय भक्ति सावदा तदुक्तं यथेति,
 न तु तथा । यत्साधारणसर्वज्ञानभोगस्य पुण्यौत्तमज्ञानवन्धनमन्यनेशरूपस्यायुज्यत्वात् ।
 तत् तदुत्प्रेक्षणज्ञानं च भक्तिरूपम् । 'मन्त्रमृतः प्रसन्नान्ते'त्याद्यम् 'विशते
 तदनन्तर'मित्यन्तेन प्रयुक्तेन भगवता बुद्धिमर्षादात्मने एवमेव सिद्ध्यतितावत् । अन्यथा
 सर्वेषामेव मन्त्रभाषाप्रज्ञाना सर्वज्ञत्वभोगः प्रसज्येत, निवामवतमानम् । अतो मन्त्राभ्यो-
 चरशास्त्रिकसर्वज्ञत्वभोगस्य भक्तिं विना ज्ञानमानसाभावादप्रधानतया परमेश्वरो भक्तिरूप-
 मेव, न तु भक्तिं विना कुर्यातीति यदुक्तमेव साधीय इति दिद् । यत् एवास्मात्तत्पद्विधा
 'भुक्तिं ददाति कर्हिपितु' इयं न भक्तियोग'मिति भगवतो भक्तियोगद्वानामात्रं भूपते
 वस कस्तपिदिति दिद् । कुर्यापि सायुज्ये तु वेदमर्षादस्यवतनानावात् प्रमाणातीत-
 स्वरूपेण प्रमाणातीतप्रज्ञानां प्रमाणातीतसर्वज्ञत्वयोगः । एवम् चतुर्विधसायुज्यस्यापि
 प्रमानसिद्ध्यन्तेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदपरित्यक्तसायुज्येन कुर्यापमेव सायुज्य विपश्चितम् ।
 इदमेव यं तुदुष्टुधिमार्गात् सायुज्यमिति । अत्र 'ज्ञानेन सायुज्यं लोकोक्तमाप्नोती'त्यादि-
 शुक्तिप्रयोगाद्युत्तिर योग इति भाष्ये 'हेतुल कन्दमी'ति सादृश्यकाये किंवा सुहृदम्-
 भित्ति, तत् सहस्यदेन समासा, ततो योगसर्वजनस्वेति सहस्यदस्य सादेष्टः, ततो सापे
 व्यङ्ग्यस्यम् । यद्वा । सहस्युपसीति सायुज्यं किन्त्येतिहासेन कर्तारि किम्, सायुज्यो भाषा
 सायुज्य सहभाव इति शेषम् । अत्रैव तावत् । कदापिदतिशुद्धतां पुण्यौत्तमब्रह्मज्ञान-
 कथनसायुज्यपक्षो मन्त्रभाषनमित्यभेदोक्त सर्वज्ञत्वभोगरूपसायुज्ययोग्यताप्रत्यक्षं हि
 पुष्टिकृतमिति, वेद्यापिद्वयति, मुक्तोपस्य'व्यवदेनादिति न्यायात्, नतु सर्वेषां । अन्यथा
 यदिभेदकरमवैषम्योपात्त इत्यवधारयम् । नन्येतादृशमुदुष्टिफलप्राप्तिभेदेभ्योपनिश्चयति
 तर्हि तस्यायुज्यं किमिदं दानमिति चेद् ? कस्य सादवेच्छत्यदि कृतमितुमिति यदुक्तेति
 सर्वं चतुरस्रम् ।

यमं दशितम् नीतिं यादवी कृत्वा तस्मिन्नाप्यन्यत्वादीवयिकभाष्यकृतवर्तक-
 सेवया सादम्यगतस्य कथमिति सिद्ध्यन्त, तथा च तस्मिन् प्रवचनकारसेविविधित
 भगवत्कृत्य देवपानोत्तरस्य एव साध्यादमस्यविधिष्वी तथा तु पूजोक्तयान्तेनभेदे तत्त्वान
 एव मनसि समादी नेतरेद्वयतोत्तरं तु शुद्धान्तादी चार्थित्यन्तेन साध्यादमस्य एव भवति ।
 यस्मिन्तु देहपक्षोत्तराद्य एव न साध्यादमस्यार्थित्यविधी कृत्वा, किन्तु नित्यमेव, कस्यापि
 प्रेक्षोत्तरमस्य एव या वेद्यास्यवन्तारमेव भगवद्विषया का देवपते आत्मादीन्निभेदे
 वेद्यास्यवन्तारमिधेन व्यसनतत्त्वव्यवधिष्वीनं वा नित्यमेव च साध्यादमस्य एव भवति ।
 यस्मिन्तु दाम्यवदित्यावयिकार्थित्यविधी कृत्वा त्वं तु सादम्यवर्तकसेवया पूजोक्त-
 प्रवचनभेदेद्वयतोत्तरं शुद्धान्तादी साध्यादमस्यवयिकार्थित्यविधीनिकभेदमविरूप

तृतीय पक्ष मयतीत्याहु अधिकारो वेति । साधुज्वरूपफलदानेनाधिकारविशिष्टेद-
याक्षितौ भवतीत्यर्थः । अत्र सेवोपपत्तिकवेदो वा वैकुण्ठादिपितृति विवरणोक्त-
वैकुण्ठादेन 'मोक्तु नन्वेकमुष्ट'मिति कृष्णोपनिषदुक्ते प्रपञ्चातीतमावत्रिवासस्थान
प्राप्तिसैकुण्ठान्तर्गतं गृहद्वयं नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन श्रीगुन्दावनधीमदोवर्षनादि
प । तत्र साधुज्वरूपफलदात्रेऽधिकारः सेवोपपत्तिकवेदरूपो वाधवा मयतीत्यर्थः । वैकुण्ठ-
ान्तरस्य गुह्यगुह्याधीपफलरूपमनन्तरकलाभावाद् मोक्तुलस्यैव तदस्मन्मनतोक्तत्वादेवकुण्ठ-
पदेन श्रीमोक्तुम्, आदिपदेन गुन्दावनारिक प्राप्तिवैतमिति बोधम् । अत्रालौकिक-
सामर्थ्यं यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफलं तु मुख्यसाधुज्वरेण, एवमेवापिअदिद-
मात्रिकस्य तृतीय फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्य फलं लभिकादिदिद्वारैवानामि मुख्य
साधुज्वरेण । अद्वयसाधुपिकादिदिद्वक्तु'ल्लसद्विषयवर्तीकपन च मयत्तुल्लिख'आदिरूप-
मियतगमेपान्तरानुद्धर्मीमद्वयमन्तरसाधुज्वरेणैवेति मुख्यम् । अत्र एवालौकिकस्य दाने
हीन्यत्राधिकारो केष्वन च फलदायमेव साधुज्वर एव च फलपदप्रयोगः ।
अत्रादिद्वयसाधुनीनदाधार्यरेदलौकिकसामर्थ्यसाधुज्वरवैकुण्ठादिपितृति परोक्ष
वादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । ननु यत्र परतुल्यमन्तरातीतिपितृतिविषयदलौकिकसामर्थ्य
योगाधिकारः द्यास्तत्र न सर्वदा द्या इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारलक्षणाभ्यन्तरेतेनामि
नाश्र स्वादिति न परमफलत्वभोगेनानिज्ञानत्वाद् न कालोत्र निषामक इति ।
अत्रालौकिकसामर्थ्ययोगाधिकारेण सर्वोत्तमवशुकीलाभादकल्यात् काळ आधिनीतिरिक्त
आध्यात्मिक आधिदेविको वा निषामकः न भवति, भवतिवप्यवगादित्यर्थः । एतन्ते
लोकेषु प्रमुदतसामर्थ्यं भोगेधिकारे वाधिकारिणो निषामकत्वाभावात् । अत्र एवोक्त
समुपन्येव कालापीनद्वयम्, न गुणवर्तीकत्वेति 'दक्षिणं निर्गुणं कृत'मिहदिना प्रमुपै
कादरे । तस्मादेवा कालापीनत्वमिति यथावा फलदा नि प्रमुपमितायाः तत्तम् ।

अत्र, अलौकिकस्यालौकिकनिषामसामर्थ्यस्य दाने हि निषयेन कालो य आयाः
गुह्यगुह्याधीपफलसम्भवात्तुर्वैतन्यमावसतत्वादितरे प्रथमतोत्पन्नो मनोरथः
सिद्ध्यैर् तिष्ठे भवेदित्यर्थः । न आद्यो नवात्य क इत्यामनधायावाहु फलं वा
वाधिकारो वेति । फलरूपो वाधिकाररूपो वा । नात्र गन्देह इति भावः । अत्र फल
निषयमेविकारालिपयको मनोरथेति फलवदधिकारपदेन गुह्यगुणक इति ज्ञापयितुं रूप
केन विकल्पमिति दिव । तथा च तत्रमनवावसतत्वापीन्यने गुह्यगुह्याधीपं मनन
कर्तव्यमिति सिद्धान्तः सम्पन्नः । तत्र ज्ञानकेषु 'नन्दमोक्षमुद देवि पति नं कुरु ते नम'
इति वाचसादनन्यपुत्री कुमायाः मनवति पतिमावशुभम् । अत्रपदमत्तास्त्वा अन्धपूर्वोक्तु
'आरपमैव मुक्षेद मुष्टं सर्वतोपिकम् । मयि सम्पाप्य सर्वेति कुनकुत्ता मयिप्यवेति
पुराणमन्त्रगुणपदम् च 'तमेव परमात्मानं आरपुष्टमिति समग्रं, मत्कामा रमण ज्ञा'

निश्चितानामन्येषां धर्मिणा पर्याप्तानाम्प्राप्ता कृत्स्नपर्वीत्यर्थः । तादृशत्वं श्रीपञ्चोदा-
नन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेवमथेदि रमतात्मानमग्निहस्तमना'मिति वाच्यम् । तथा चान्ये
धर्मिणा अपि न निश्चितान्तररूपधीकृष्यस्त्वधर्मिणा इति भावः । अन्येषां किमित्यथ
भावं सूच्यते, निश्चयिर्हि लोकः इति न्यायायसा बहुषोको स तमेव भावं तमेव स्वरूपं
यमेव मुख्यं, मनवशील्यं भूत्वा प्रापञ्चानां निवृत्ताविषां शुभादयोनि वयस्मात्कारणात्
वाञ्छन्ति यः भावः । तथा च येन नि शेषविद्यामात्रपन्तथा एवान्वयप्रकारक भावकमप्यप्रकारक
वगवत्स्वरूपं यः सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठपत्रं ज्ञानवीथिं भावः । किम्, यत्तमपि यस्या
वैकृष्योक्त्या स्मरिषा लीकिका अत्र वाञ्छन्तः । वतोत्पन्नपदार्थं विना चोत्कृष्टं मन्वते
चेति वदमि । तस्याप्यत्र लीकिकालीकिकत्वा वाञ्छन्तस्तथावच्छास्वरूपमेव तदवच्छाद्य
सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्वात्पक्षीतत्वरूपस्य तज्जिज्ञानाभावात् सर्वाधिकृत्य
इति निगमः । अतः कथमादनन्तं कथा पञ्चाशद्वयमन्तकम् श्रीकृष्णस्यस्मिन् यो
रसोद्भोषामात्रभावं तस्य मष्टान्तमपि सहस्रमुत्पन्नतुर्मुखादिजन्ममि किम् ? न किमपि
त्यर्थः । यद्वा, जन्ममि पुनः पुनर्जन्मभिरन्तकथारसस्य तस्य किं मष्टं बहुतरस्यरूपम् ?
न किमपि । नेषां ममसि मष्टस्वरूपमप्यथोक्तं भावत इत्यर्थः । तथा चानन्तकथारस-
निष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु युक्तिरिति । तथा चैतन्मात्रं पञ्चाशदेव मुख्येणान्यस्वरूपस्य
न्यापीनत्वेनेतासां भावस्य सर्वोपमत्वात् परमकाष्ठपत्रसवरूपमगपरस्वरूपमेतदधीनं
मेवेत्यति विचार्यात्मनेवातिदिनैव दास्यकारणे तत्परमपञ्चाशदनुमदेन, न तु क्षात्रा-
नेति ज्ञेयम् । अपरं च 'आतामहो परमरेषुदुष्पामह सा कृदापने तिममि कुम्भलती-
पवीनाम् । या दुस्तय सज्जवमार्थमथ न हित्वा मेष्टर्मुकुन्दवद्वी क्षुतिनिषिद्ध्याम्',
'नन्दे नन्दमनसीना कदरेषुमभीक्ष्णम् । दाता हरिकयोऽहं पुनाति मुक्तामय'मित्या
दिना प्रथमकां क्षान्त्यस्याप्ययस्य च वरमकाष्ठपत्रस्य तात्वेन मुकुन्दस्य मीधदातुरपि
वद्वी येन मार्गेण मगात् न गच्छति तं मार्गमेव तदवच्छेदुश्चरति मेष्टर्मुकुन्द इति । तथा
च मुक्तपक्षपाती मगावचरन्नेष्टुलेन सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम् । एवं चेतात्पर्यपरमरेषोरेता
व्याधुमान्ज्ञानेन मयसीमन्तिन्य एव मुख्य इत्येतासांमहृष्टीयं भगवदवच्छेदुश्चातिरिति
श्रीजन्ममकपरमरेषुदुष्पानि मुख्यकतीपविन-वापि श्रवितवर्तिदीनायां श्रीमदुद्दीर्घवदन
च तदवच्छेदुश्चरेण च कृतमन्यया मुक्तिपञ्चाशत्प्रज्ञाननितामरादेव न भगवदवच्छेदुश्चाति-
रिति दिक् । तस्मादेतासां शुरुत्वादेतदधीनत्वात् तदवच्छेदुदात्तेनैतासांमगपत्तातिर्ना-
न्यथेति नि क्रयदम् ।

सादेताम् । अथ सर्वाति यतो स्वरूपमसुखरूपचलमात्मन्येव । 'रतो ने स,
रत देताप रण्यजन्दीमसी'ति श्रुत्या स्वरूपमगपत्तात्वेन वरमकत्वात् । सा -

वाग्नि'सेनेन सर्वभावेन परमानन्दमयुते' इति वादनिन्दुनिषङ्कत्वा 'सोद्युते सर्वान् कामान् सह मयमा निवर्धिते'ति त्रैविष्टीयोपनिषद्भुतेष्व सर्वगतवर्धनितत्त्वसर्वकामयोग-
रूपा । न च एषेसर्वकामयोगोनि तेषां मनस्वीमन्त्रिनीसप्तशभावेनेन, मान्दमकमावका-
नीयभावेन । एतद्विरिक्तकण्ठे मयुसेनेन, न तु पूर्वशक्यतेनेति । तथा च तत्कामनया
मनने क्रियमाणे मनस्वीमन्त्रिनीसप्तशक्येति यद्वति तत्समस्तभावगतत्वात् काव्य-
शिक्षी तस्या गुरुत्वात्तेन शक्यत्वमने कलमिदेरभावशक्यमकक्षता च स्यादिति चेत्,
अत्र हम् । परमनन्दानन्दरत्नरूपो मयवान् हि लोकेतिरहस्यतया दुष्टिहीना यत् प्रकटित-
यान् कलित्मयैविति शृण्वन् । न च 'आगाधिनि निरिषी तु जाते ब्रह्मयैवमुते ।
कल्प सारसत प्राप्ते अने गोन्धो मन्त्रिष्वथ । पृथिव्या भारते क्षेत्रे मासुरे मम कण्ठे ।
बृन्दावने भविष्यानि मेवान् सो रासकण्ठे । चारधर्मय सुयेह सुष्ट सर्वतोधिकम् । गमि
सम्वाप्य सर्वेति कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्भक्तपुराणोक्ते भुवीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम् ।
अनुग्रहश्च भुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृतिलोकेने कर्तुं शक्यतयात् । न च 'पुरा महर्षय-
सर्गे दण्डवत्प्रणमसिन् । दद्यां राम हरिं तत्र गोक्षुर्वैष्णुं सुविमदम् । ते सर्वे श्रील-
क्ष्मणा सज्जताम मोक्षुते । हरिं सम्वाप्य कामेन कतो मुक्ता मयार्णवादि'ति । 'अभिपुत्रा
महात्मानश्चपसा श्रीलक्ष्मणि । भर्तार च जगदोनि वासुदेवमज विभुम् । कृष्णस्य
रमणार्थं हि सहस्राणि च वीरव । गोन्धो रूपानि चतुश्च तत्रासीदन्त केसव'मित्यादि
पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाश्रीर्मादिपाराद्वपुराणादिवचनमिदं दण्डवत्प्रणमस्यप्राप्त्यपमहर्षीवाच्य-
महर्षेभिरिति वाच्यम् । दण्डवत्प्रणमस्यमहर्षीकामनि अनेन श्रीदेह सम्वाप्य रामरूपेनेव
न रमण कृतम्, किन्तु तदेष्टावन्तार श्रीदेह सम्वाप्य मन्त्राण्डान्तर्गतैर्बृन्दावन एव
श्रीकृष्णरूपेणैव रमण कृतम् । एव च तदेष्टावन्तारमतीकिदेह सम्वाप्य भुतिप्रदर्शित-
बृन्दावन एव कृतो वासुदेह कृतवायिति प्रत्ये वयोचयमावात्, न च स्वतथैव्यो मयया
मिति वाच्यम् । 'अनुग्रहाय सकाना मासुप देष्टयाधित । भवते तारुणी श्रीश या भुक्ता
तत्सरो मोदि'ति कलमन्त्रनीयवाच्यत्वात्कृतमनुग्रहार्थेनेष्टावन्तीत्यविशिष्टमनुवाक्यत्वात् ।
अथै नि प्रचोचनकवाक्यमन्त्रावुक्तव्यम् । न वासुदेह निवा नैवाष्टकलामिहितमनुग्रहेण
आवधिकजीवानामभ्येतदेष्टावोक्त काव्यशक्यत्वात् सर्वैव स्तिष्यः कुतो न करोतीति
वाच्यम् । मयवान् हि रसकृतसकल आधधिकजीवानामपि केवाधिरातु निवारितवान्
स्वगुरुत्वगतेन्यस्यैकलोकेष्टमा । तत्र रसकृतमनन्यास्तितु रसकृतमात्रेणैव पोष्या,
मान्वाद्यमननेन, 'ये यथा सा प्रथयन्' इति वानवात् । तत्र रसकृतमानसकृत साधन
वेदादिषु कृतानि नौकमत्र अथै बृन्दावन रसकृतसकलश्च रसकृत परिहर च तत्साधनमु-
गुण रसकृत साधन च इकं कृत्या साध्यसाधनेन काव्यसकलमपि महर्षीदीना कृत-
वान् प्रभु, तदन्तर साध्यसाधनस्याविर्भावविभाष्यनता जीवाना तदनुष्ठाने तत्सकल-

भोगस्तु वैकल्याणचन्द्रेदेवैश्च सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्षादाया भवेत्वात् । न 'चाचार्य मां विजानीयादि'त्यनेनाचार्यस्य भवनत्वेन तदात्मपूर्वकमेव अविर्भयवत्त्वं भिद्यते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भयवशात्समेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र केनैव मर्षादा, तथाहाति भविष्यतीति नान्यम् । सर्वेषां भयवद्दृष्ट्यां नित्यमेनाचार्यरूपस्य भयवद्दृष्टानुभूतभयवद्गीतान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चातीकिकसामर्थ्येन तदात्मकागत्यति सम्भवात् । एवमेव सर्वमव्ययप्रपञ्चा भवनमिति प्रमुदच्छास्त्रीनित्यविषयकसामर्थ्येन सर्वविषय-
लील्यसम्भवेतस्य भवनकर्तुः शक्तिर्यं सिद्धम् । किं बहुनाऽव्ययतारादित्यीतावान्मर्षेणैव च भक्त्योऽपि तत्तद्गीतानुसरेण करोतीति न कस्यापि लीलावधेतादृश्यकासहभावो भवतः । न वै वै श्रीनारायणादिमहात्मापि श्रीनारायणे सर्वमावप्रपद्येः कृत्वात् सर्वत्र तत्तद्भावा-
प्राप्तीं गुरोत्तममहभावोऽपि सादिति याच्यम् । 'ये यथा मां'मित्येव मामिति परेण गुरोत्तममत्वेनांगुत्या स्वरूपस्य दत्तवैभवंगुरोत्तममुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञावत् पूर्णगुरोत्तम-
नामसाधनित्यात्, अन्यथा दण्डकारण्यसर्षीनामिति तेनैव स्वरूपेण रत्नदानं पूर्णं स्यात् कोसलेन्द्रजित्तरेण । किमेतस्याः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवात्स्वरूपसम्पत्तिर्ये पूर्णत्वावस्थादिविभाषोऽपि न स्यात् । न चेष्टावतिः, तदान्यस्वरूपानावधारूपधीकृष्ण-
श्वररूपानावधि श्रीमता म्पासेनौकत्वेन चित्तामसादो न सादिति सर्वमनवयम् । एवम्पैक-
भक्तसम्पत्तिर्यथा अहि लील्यया न परिच्छेदसाहिं सर्वभक्तसम्पत्तिर्यथा लीलायाः परिच्छेद-
केन कर्तुं शक्येतेति किं पाप्मनसतामोचरादात्म्येण प्रमुदत्तरिकतद्भक्तेषु विचारयतु-
येन । किम् 'द्वितीये भगवत्कृतः के त्वां जानन्ति सर्वेति । तेषु वा तं कदापरा-
केषु वेम त्वातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्ठे भगवानुवाच 'न तथा मे विप्रतमो मया
रुद्रश्च सावित्र । न च तस्मैर्न ब्रह्मा न वक्ता गोपीजनो मम । भक्ता मयातुरकृत-
कृति सन्ति न मृते । किन्तु गोपीजनः प्रयाधिकविद्यमानो मम । न मां जानन्ति ब्रुवन्तो
योगिनश्च परन्तप । न च रुद्रदसौ देवा यथा गोप्सो विदन्ति माम् । न तपोविर्भे वेदैश्च
नापरिर्न च विपश्च । पशोस्त्रि केचलं क्रैष्ण । कर्मानं तव योगिपतेः । भन्नाह्मन्वं मध्या
मन्मूढां नमनोगतम् । जानन्ति गोपीकाः सर्वं नान्ये जानन्ति सर्वेति । विज्ञाज्ञमपि वा
गोप्सो ममेति बहुपासते । ज्ञातः परं न मे पार्यं निरूप्येभमाजनम् । मया भक्त्यस्तु मे
पार्यं न मे मातस्तु मे मताः । मम भक्तस्य मे भक्त्यस्तु मे भक्त्या मया' इत्यादि-
पुराणप्रसङ्गान्मरुतामृताभिमोकेति श्रीभाष्यतद्भवमजानां भक्तशिरोमुपगतात्
प्रमोदतिविकल्पाचार्ये म्पासां दास्यं कर्तव्यम् । एवम कति म्पासाकार्ये प्रमोदता-
मन्दातिमतेन ज्ञासायत्तमन्दाविर्भावान्नमसि शक्त्योऽपि तदनुगताम् सर्वज्ञैः फलं
भववान् ददातीति तदात्मकत्वम् । तथा वैयास्यं गुरुत्वात् प्रमोददधीनत्वाद्भक्त-
शिरोमुपगतादतिविपत्तयः सर्ववैद्यस्यभक्त्यपूर्णमेव अनुपासकत्वमिति सिद्धम् ।

कृतकृष्णारम्भादीवरमहीतापामेव, न शास्त्रसूत्रस्वीकृष्यांशास्त्रसम्बन्धिरमहीतापामिति
 सुझयताम् । यदि शास्त्रसूत्रकल्पे नवदुःखकषयः स्यात्तदा भीमानवने स्तुतस्तुतमेव ।
 उपरतमेव तु सतीत्यनेन परस्परं फलप्रकारण इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं अष्टकादुपक-
 षित्वा । अनेदे वेद्यम् । अथ फलत्रये फलद्वयमेतदेति भवति परन्तु मनसैव रमस्त-
 मयस्तन्मन्त्रेण मनसोर्लक्षिकप्रत्यागमम् । सेवीयिकदेदरूपवृत्तीयं फल त्वेतेदपातो-
 चर एव भवति सर्वथा । सर्वत्र लैकिकदेदरूपतोचर म्यालैकिकदेदस्तन्मन्त्रप्रमाण-
 दिति रिक्तः ॥ १५ ॥

अथ प्रवृत्तचतुस्रपादः । तत्र चापके गति कार्यानुदयाद्यापकाचारस्य सर्वत्र
 कारणतेत्यत्र यद्वापके तदुत्तरविषयरूपसाधनमेवाध्यायम्, तद्व्यक्त्यम्, यद्वापं सम्पद्य
 मानससेवाकार्यं तत्पर्यं सम्पादयामित्यर्थास्मादां तदुत्तरविषयरूपसाधनमेवाध्यायकमाहुः
 उक्तेनः प्रतिपन्नयो वेत्ति ।

उक्तेनः प्रतिपन्नयो वा भोगो वा व्याप्तुमाशक्तम् ॥ २ ॥

एतस्य निवर्तनं तु सेवायां प्रतिपन्नफलस्यम् । उक्तेनो वा प्रतिपन्नयो
 वा भोगो वा । अथाद्यां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यन्तम् । तत्र तदुत्तरविषय-
 रूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उक्तेप्रतिपन्नभोगा भवन्ति तस्य परीक्षायाः
 कर्तव्यः । तत्परित्यागे तत्साधनोद्देश्यापनुरवाततदुत्तरविषयरूपसाधनसेवासम्पत्तौ कस्यां
 मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः । ततोदेकः शोकदुःखदिनमितौ भवति, तेषु शोकादिषु
 जलेषु 'विचोदेन' विधायानि हरिष्यमां कर्तव्यमिति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां हुयै
 लजे'दिति नवरसोत्कर्षगकलीत्या यथा शर्मा तथेवमप्येका भगवतीका भगवतः सुपा-
 धानिकेति ज्ञात्वा शोकादिस्वागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदुःखकारणं बलः कर्तव्य इति ।
 अन्मया भवति भवितव्यमिति तदेव यत्प्रकृतं निष्कारितमस्ततः तस्य स्वकृतेन निवर्तनं तु
 न कर्तुं शक्यम्, यस्मात्तु तदुत्तरविषयकलीलापनुरागनिवर्तनेत्याद्यानि सामिदोहो नपेदत-
 प्रविष्टान् ज्ञात्वा तत्प्रकृतोद्देश्यादिषु लीलेषु सत्प्रदेशकारणाभावाद्देवानामत्र भाव-
 मानवतादुद्देश्यापनपरित्यागः कर्तव्यः । यदा, कलित्कलेनमन्त्रिण्युद्देश्यापननिवर्तने
 साधनरूपसेवासुद्देश्ये भवति यदनाद्यर्थं तत्साधनरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्ये-
 तदर्थं सामान्यपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

ततोद्देश्यापनानामनन्तलाभजन्योद्देश्यापनमप्यनन्तलाभं परित्यजता कर्तुमशक्येति
 कर्तव्यमप्युद्देश्यापनमेवैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिक-परत तदुत्तरविषयसेवायां
 वापकमाहुः अकर्तव्यमिति ।

अकर्तव्यं भगवता सर्वथा चेद्विनिर्दिष्टं हि ।

पथा वा तात्पर्यनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

एतत्तु विवरणं तु प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च,
तत्राथो बुद्ध्या स्थाव्यः । भगवत्कृतमेतत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं
न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोयं जीव
इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्वात्मन्यं शोकभावायेति विवेक
इत्यन्तम् । अत्र भगवतः सर्वथा वेदकर्तृत्वं भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति मानम्, तदा
गतिः तदभावसम्पादकस्यापि किमिति वासीति मुख्यम् । अत्र उद्देशः प्रतिबन्धो
वा भोगो वा शान्तु बाधकमित्यनेन पूर्व सेवया बाधकजन्यं बहुलं तस्य तत्रावा-
पानसम्पादनार्थमेव । अत एव त्रयाणां साधने लक्षे तदभावः सम्पद्यत इति त्रयाणां
साधनपरित्यागः कर्तव्य इति निष्पत्ती स्पष्टीकृतम् । न च बाधकजन्यत्वात् एव बुद्धौ
लोकः, तत्साधनपरित्यागः किमर्थमुक्त इति शङ्कम् । जाते उद्देशे जाते च प्रतिबन्धे जाते
च भोगे सेवानाश्रयत्तमपादन्तेदेन सिद्ध एव जाते तत्रागः कर्तुमशक्योन्मुक्तसमये
तत्राथोपि सत्यमेव वक्षिष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्यागः कर्तव्य इति बुद्धमपञ्चोपदेश इति
मनसिकृतल सेवासिद्धये बाधकजन्यं न बबोध्यत एव तदा कर्तव्यं बुद्धेर्नैवेत्यदर्शं त्रयाणां
साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तत्वात् । एव च एतत् अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा
साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तत्वात् । एव च एतत् अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा
वेदप्रतिर्नहीत्यनेन भगवत्कृतप्रतिबन्धभावात्सम्पादनार्थं गतिर्नासीत्युक्तत्वादन्यकृतप्रति
बन्धभावात्सम्पादने गतिरसीत्यर्थः सिद्धत्वादिद्विषयः प्रतिबन्धकमागतमेवेति कम्परेण
सूत्रेणुक्तत्वा विवरणे प्रतिबन्धककृतसेवाबाधकप्रतिबन्धमाह प्रतिबन्धोपि द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्चेति । अत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धभावात् सम्पादकितुमशक्यं,
साधारणस्तु शक्य इति विवरणे बहून् तत्राथो बुद्ध्या स्थाव्यः इति । अत्र प्रति
बन्धककृतसेवाबाधकप्रतिबन्धे आशयः साधारणः प्रतिबन्धो भगवद्विमुखमार्गादिकृत
प्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागसौकर्यत्वात् तत्साधनरूपो यो मार्गादि स स्थाव्यस्तदा
शक्यः । तत्रागतेन प्रतिबन्धभावात्तदभावसाधकत्वात् सम्पादकितुं शक्यं इत्यर्थो हेयः ।
अत एवोक्तं 'मार्गादिकृतमेतत् तदविवेकवद्विबन्धम् । उदाहरणे स्वयं कुर्यात् प्रति-
बन्धे एव सति इति मानवत्वात्तद्विषये ।

अत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि तत्कृतं शक्यं इत्याहुः भगवत्कृतमेतत्
प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति विवरणे अर्थ
साह । ननु भगवत्कृत प्रतिबन्धः कस्य फलसाधनसम्पादकः ? किं फलसाधनोपनिर्देशन
कुर्यात् बुद्धसाहोभिरूपनेच्छासौ वा ? अत्र नायः । 'इति निमित्तं मनसा पुण्यं
परिपरेकदे'ति भागवत्सात्वदीयकारित्वान्धारणत्वे 'दृष्टमि सङ्कल्पता परिचर्या परम
पुण्यार्थेति । परं विषयान्तेरेण नि कृत्यं तदा परिचो'दित्वाचर्यं सिद्धाप्तिरत्वात्
निमित्तकृतिकमनोवाचं मानवीयं न पतिभिरवद्वि'कृत्य भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेति परम

गुण्यार्षसामस्य सिद्धत्वादन मगवान् फलं न दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात् । अत एव
 'न ह्यगोपकमे भ्रष्टो यद्वर्गस्योद्भाष्यतीति' पक्षद्वयसङ्गन्धीयप्रभुवचनं 'सातासावेति
 वचनं 'सहृदिद्व्यादिपुरुषा गुण्यो वाति साम्यतां क्वत्तार विधिद्वयं दिव्या यद्विरचितं'
 इति पक्षसङ्गन्धीयाद्याभ्यापीत्यनुक्तवचनं च । न द्वितीयः, विना मगवत्पुत्रां मगवेच्छादु-
 दयात्, तदुदये च मगवस्य भविष्यत्प्रतिषेधेनापि निषेधस्य र्थपर्यायात्वात् । तथाप्यपि
 निषेधो मगवत्पुत्रप्रतिनये कालविलम्बेन फलद्वयेन्यत्रमेव न्यनक्ति, न तु तददने-
 च्छासिति भावः । अन्यथा मगवेच्छातुक्तपक्षपर्यायं प्रसज्येतेति । न च विवेकादुप-
 यद्वेच्छोदय इति वाच्यम् । अक्षरार्थस्यापि स्वरूपवर्धनेनेवेच्छोदयसम्भवेन्यन्यतरा-
 दक्षया सातासावीयागवत्तादिसम्भवे विना शुद्धपुष्टिमगवेच्छोदयस्यासङ्गत्वादुक्तत्वात् । यदि
 पुनर्विचारदर्शनमपवादिकमपि शुद्धपुष्टिमगवीयमगवेच्छोदयः स्यात् तदा दुष्टोत्तमानता-
 रोपि न स्यात् । अत एवात्रुपमाया मगानां यातुष देवनाशितं ह्यनुपकम्प्य 'निरीक्षित
 प्रजपधमिदिह च विन्धो, अद्यान्विमोदुग्युवाद्यं वयंपेय' इत्यत्र च इतिरेकं पक्ष-
 कक्षानि अवगमयेच्छाम्या भाति परान्वितेन यत्किमाय उक्तं, स विन्धोत्तादनपूर्वक एव ।
 तस्मात् त्वयि गवत्पुत्रकृते प्रतिषेध इत्यादिनिवृत्त्यमिति चेत्, अत्र यदाम् । गुणदि-
 न्यमायुषा केनापि प्रतिषेधेनाहतापुत्रादिनिषेधस्य कस्यचिन्मदस्यस्य गुणस्य तदनन्तरं
 नतिवृत्त्या गुणदिनेदेन वा कदाचित् तदनिषेधस्वरूपे मनसि स्यान्मग गुणदि- शुद्धपुष्टि-
 यद्वेनेन मगवन्त आगोतिविति मगस्ये मगविनेदने इत्या मगवत्पुत्रा क्वत्तवीया तदा त
 सेवा कुप्य मगो मगविनेदेन गृहीत्येति मगवे यदि तस्य ह्यन्वयोन्मुक्ताहो न वर्यते कदापि
 प्रकृत देव तदोदयेवकिन्, यदस्य भवत्कृत प्रतिषेधोति मगवान् फलं न दास्यती-
 तस्यै शेषाक्षरं किमपीति सङ्गन्धीयेन मगवत्पुत्रकृते प्रतिषेध इत्यादिनिवृत्त्यस्य
 सार्थकत्वात् । ननु कदा शुद्धपुष्टिमगवीयपूर्वस्य कृत्स्नफलं वा मगवत्पुत्रकृत्स्नसं-
 फलं तु भविष्यतीत्यत्रोदयेन एव कर्मव्यवहारेति चेदित्याशङ्क्यतु तद्वान्यसेवापि
 व्यर्थेति । अत्राशिनोरमेदाद्वत्सारास्येनलगावशित्वाप्रतिषेधेन फलदानासमर्प-
 त्यान्महाप्रकृते प्रतिषेधे सविवादेतिरेक्यं । कन्वक्षितो न कस्यरूपपदस्यतद्वै-
 किन्तु सत्यफलदानेन्यत्राहता तदोदयेन फलदानं कर्मव्यवहारं, महाराजस्य महाफलदानेन्य-
 यवेति सचित्तदिहया सत्यफलदानेन्यत्रा सविवादिनेवेति चेत्, सत्यं, यथाप्य-
 निरीयेनकृत्यनन तद्विवादेन फलदानं महाराजविनेदेन सविवादिनने सविवादिनेन,
 न तु तद्विनेदेन मगवे । तथा चेत्स मगवत्पुत्रकर्मव्यवहारपदेति कदाप्युत्तमाहवाचात्
 प्रत्युत तदेनलगावशेनापि फलदानमित्यप्येतावेवमप्येति स्याति नोदयेनेति समुक्त
 तदानमसेवापि व्यर्थेति । किञ्च, तद्विवादेन्यत्र कत्यरूपं तस्य निधारीति मगवीत्यात्
 तदा आसुरोपं जीव इति विचार इति । आसुर आसुरावेती आसुरमात्रक

निवेदितविषयभोग एव साध्यत्वेनोक्तोऽयं, स तु तदुपनिषदभोगेवापापक एवेति स एव
 उक्त्यो न तु भगवत्संयोगविकल्पेन दास्यमत्वेन च प्रज्ञो विषयभोग इति बाधकत्वात्मानेन
 पूर्वोक्तकृतस्य निःस्पृहत्वात् । अत एव 'वीनदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे शिल्पा स्वार्थता,
 अथात्पुत्रो मयेकृष्णं पूजया भगवादिभि' रित्यादिना वस्तुनिर्णिन्त्यां तदुपनिषदभोगकारणे
 गृहसितिरुता । त्रेधासत्तयभक्तारमेव च 'तावत्समाप्तिं कृतां मेहृत्वात् विनाशकम् । सर्वं
 कृत्वा श्लेषस्तु सर्वार्थकमानसः । उच्यते गुरुषां वक्तिं सर्वतोऽप्यपिकां पश'मित्यनेन
 भगवत्संगान्यविषयकव्यासंग्यनकत्वेन सर्वविषयाणि गृहस्य स्वयं उक्तः सर्वविष-
 योगापायसाधकत्वेनेति कृतं पटुवित्तम् ॥ ४ ॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेन यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति
 तदा लौकिकभोगः किमर्थं साध्यत्वेनोच्यत इत्यनतिषष्टितादृशं परिहरन्त आहुः ।

सविमोल्पी घातकः स्वादृतादेतौ सदा मता ।

एवमित्यर्थं तु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायाभावाद्
 सविमोल्पी घातकः स्वादिति । सविमोल्पी घातकत्वाच्च भोगइत्याजयः ।
 एतौ सदा प्रतिपन्थकावित्यन्तम् । लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाद्यात्स-
 र्विहो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिछिन्न इत्यप्यथ । अथ च परमफल-
 बाधक इति घातकः । एतेन लौकिकदुःखभोगस्तु प्रतिपन्न उल्लस्यो तद्विषयकं
 कस्तपिदेव प्राप्तिं सर्वमेति सविमो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयकं
 इति अत्यस्तुष्यथ । अथ च परम्परया मानसभोगावतिपन्थकत्वात् फलप्राप्तिघातकमेति
 मूले हेतुत्वमितिपमानि । अत एवात्र भाववधानो निर्देश इति श्रेयमिति मनसिकृत्वाचार्यः
 सविमोल्पीघातकत्वाद्यलकत्वाधेति हेतुत्वेनैव निवर्त्तये भ्याल्यलपन्तो भोगविशेषानि ।
 अत एव एतौ भगवत्सुखवतिपन्थसाधारणभोगौ यस्तादेतोः सदा बाधकमिति भावः ।
 नन्वेतौ भोगः एतौक्तः पूर्वमप्यनद्विष्टः, तथा सति सदापं प्रतिपन्थक इत्येकदशममेव
 यतव्यम्, न तैत्र्यापि हितापनमित्याशंसयामाहुः द्वितीयो भगवत्सुखः प्रतिपन्थ
 इति । द्विषयस्यनित्यत्वमपि द्वितीयो हितसंस्वापहस्ये भगवत्सुखः प्रतिपन्थ इति सातर्थात्
 द्विषयस्य सार्धमप्यमिति भावः ।

ननु भगवत्प्रतिपन्थे ज्ञाने संसारमात्रमितिहृत्वा तस्यागुरुज्ञानमार्गं उच्येत्यत्र इति
 पूर्वमुक्तम्, तत्रानि तस्य येन सिद्धता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्यलसंधायामाहुः द्वितीय
 इति ॥ ५ ॥

द्वितीये सर्वथा चिन्ता एवाज्या संसारनिवृत्त्यात् ॥ ५ ॥

एवमित्यर्थं तु ज्ञानसिद्धत्वाधे चिन्ताभावाधेमाह द्वितीय इत्यन्तम् ।
 द्वितीये भगवत्सुखप्रतिपन्थे आगुरुज्ञानोद्देशमर्थं चिन्ता कर्तव्या महत्तमैरतिशृता ।

तुल्यतादेस्वाभावप्रतिपन्नाभावसिद्धेयं तत्र बाधिको ग्रहतामः । द्वैततुलादिषु सख्यं
ग्रहत्वाभावात् । योगाभावात्सु लीलिङ्गयोगत्वात्तच्छेदकावच्छिन्नाभावः । स तु लीलिङ्ग-
ग्रहत्वावच्छेदकावच्छिन्नस्यामेनैवेत्याहुः ।

तृतीये बाधकं ग्रहम् ।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लीलिङ्गयोगाभावे लीलिङ्गं ग्रहं बाधकम् ।
तत्त्वग्रहे सति तत्त्वयोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वसन्तिने
अवृत्तिसम्भवादिति बाधः । अतश्चरणे इत्येवाहुः 'योगाभावात्तद्वैद्यं सिध्यति यदा
ग्रहपरित्याग इति । अत्र यत्सुखसर्गो वैष्णवीतनस्यतुलादिबाधको द्वैतः । अन्योपः सप्तः ।

ननु एतादृशेपन्नातिदुर्लभेत्वावच्छिन्नामाहुरवश्यं सदा भाव्येति ।

अवश्यं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोक्षमः ॥ ६ ॥

अत्र निवृत्ताभावदस्मान्निरेप म्याम्यावते । इयमन्यवहितक्षय एवेत्याहुः इति
मानसी सेवता 'न रोषयती'त्यादिकारणैः कस्यापि कर्मज्ञानादिरवस्थाधीना यदपि न
भवति, अयमकलसप्तसङ्ख्यामात्राधीनत्वात्, तथापि जीवसुखजनकदासपूर्वकं भाव्या
चिन्तनीया । एतादृशी सेवतां फलस्यत्यतस्तत्त्वान्निष्कल्यं दास्यन्ति, यदा भवति
चतुराणां, कदा वा पिशाचानां, कदा वा 'मगधता बहु संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।
कारणैः सेवनं याति सर्वथापि तदवस्थितः । अवस्थातुताम च योगो रोमोद्वयस्य ।
तत्त्वज्ञानायां अवस्थातुताम याति सर्वतः । तद्वन्ति कर्मनिमित्तं'मित्यादिः संकल्पः, कदा
निद्रावेदः, कदा अनुवदुता, कदा निवृत्तिरुक्तिः, कदा मगधता, कदोन्मादसुखस्य
इत्याद्युक्त्यकारेण सदा देहव्यवस्थितं भाव्या, भावयता भवति स्वतन्वीया ।
अतिदीप्तता ज्ञानविषयत्वमावदनीयेति यावत् । यदा इयं मानसी सेवा सदा
भाव्या, वैभाष्यमात्रेण वैभाष्यस्यावतुताम्यकारणैः च चिन्तनीया । तदा च मन्त्रो-
त्तरावतुतामपूर्वकं तुल्यचित्तमवस्थाकरणे 'न यदा यवेच्छकते तद्वैद्यं भवती'ति भुजे'ति
यदा मां उपयन्ते तन्मन्येन भवान्माद'मिति वीतास्यमन्यन्तात्पादय च 'यादृशी भाव्या
यस्य भिदिर्भवति तादृशी'त्यादिवचनार्थतरेदवतातोत्तरयतीति करेदवताती वा कस्यचित्कस्य
विषयं जन्मान्तरे वा पतुतामन्यतुतामाम्भित्त्वं चन्मन्यति वा 'ता मातिर्दिल्लो-
तुताम्यकारणं पतुताम्यं भवता भिदा भविष्यतीति भावः । अयता इयं रमकता
वैभाष्यचित्तमन्यायिता सेवा कदा सर्वदा अः मगधता चदयो यदा या भाव्या
हेता । एतादृशानेकानि फलनिदिष्टित्वैः । तथा चान्यवस्थातुतामं न सर्वदा
मगधतां परतो भवति, न वा वरताम्यवेद्यं च पतुताम्यमिति भावः । ननु ज्ञानादि-
सार्गवरावेपन्ने भवत यत्सु मन्यते कश्चिन्ति यत्सुवेद्य-ताद्वैद्यताद्वैद्यता-
मन्यतोऽन्यं इति । अन्यत् सर्वं यवेद्यमन्यवेद्यं । तथा च मगधताम्यताद्वैद्यताम्येद्य

गुणक्षोभेति द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणैः रसावस्थारूपैर्निद्राद्येदादिनिर्मनञ्छोभेति प्रियदोषारोपेति एतदेव भगवद्भाषी प्रतिपन्नकृतमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य । तथा च जादशावस्थाप्राप्तयि विषे दोषारोपो न कर्तव्यः । यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वाच्च दोषारोपे भाविन्यादीनां रोपे फलप्राप्तिरित्यस्य स्यात् । किन्तु भन्पोह इतिवार्थमेवाजादशावस्थामनुभवाभीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः । इदं भवान्जादशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । उन्मादावस्थाप्रादुर्भावे तु देहातुसन्धानाभावाच्च तत्र दोषो दोषारोपेभीति ज्ञेयम् । अत एवोद्वेगप्रसन्नप्रतीतिर्नास्तीति ज्ञानोद्वेगो दोषाभावावधिमेव कृतः प्रमुखा ॥ ७ ॥

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेवाजादशावस्थामाह्यान्तुल्यं इत्यर्थोऽप्यप्रादुः ।

कुसुष्टिरस्र वा काचित्पुरुषोत्तम स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

अत्र वा काचित् कुसुष्टिरुत्तमैव स भ्रमो ज्ञेयः । यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धसारा सर्वो अवि रसायत्या भगवद्भाषा एव, रसस्य विभाषा-नुभाषण्यविचारिभाषणमद्रष्टव्यनिरूपणादिति शिद्दः सर्वोत्तमोऽस्य मार्गसास कठस्य चेति सर्वं यदुत्तमम् ॥ ७॥ ॥

अत्र केचिदस्मान्भीमदाचार्यमार्गया भगवदीया पादच्छी सेवनेति सूत्रे सेवार्थं फलव्ययमिति तद्विरुद्धे च पुष्पिर्वादाववाहनेदविश्रमार्गसम्बन्धिनिविष-सेवार्तां ननेन कलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते । तथित्यम् । एव सति सूत्रे पादच्छी सेवनेत्यत्र तद्विरुद्धे च सेवार्थान्वितत्र पैक्याचन भीमदाचार्येन दत्तं स्यात् । एते कदापिच्छन्दोद्गोपेनैक्यचनदामेति विपर्यये सेवास्तु कलत्रयमिति यदुपचयनेनैव स्यात्, विपर्ययस्य सूत्राभिप्रायवच्छन्दार्थमेव सिद्धमावत्तात् । अतो मूलविवरणयोरेक्यचनदाम-न्यपातुपपत्त्या तत्रलैक्यचनदाम्या तु पुष्पिर्वासेवाफलमाननिरूपणमेवान् भीमदाचार्य-चरणानान्वितेन सौमयानेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञापय इति सात्तम् । अन्ये त्वेतन्वागीनां भगवदीया सूत्रविरुद्धोक्त्यचनदाम्योपेन पुष्पिर्वासेवाफलव्ययमेवान् भीमदाचार्यमाम-मितेनामपिजादमेदोपोषमलमभ्यस्यसाधारण्यमेदमित्यम् । तत्रोक्तं कलत्रयलीकिक-सामर्थ्यम्, तत्र सेवाया विप्रमाणायामेव वस्तुसम्पादितार्थीकिकस्योपरिनिष्ठस्वरूपानुभव-सामर्थ्यं प्रमाणानुद्गोपिष्येवसाध्यम्, यथा रासमण्डलवन्दनायमानात्ताम्, मय्यत्र कलत्रं तु सास्तुत्तमम् । तत्र सारं युवकीनि सारतुम्, सेवाया निव्यमप्याकाशेव भव्यता सह सतत-मिति सार्वादिकमयोग्यमन्वयुप इति यावत् । तथा च वसिष्ठाजीनैव प्रकारेण तुल्यपद-

१ इतः परं 'छी' शब्दोऽत्रानुपपन्नमित्यत्राचार्यैरुक्तं 'अत्र' । 'जादशावस्था' इति प्रथम-विशेषः, द्वितीयविशेषः 'भगवन्' इति । तत्र परं विप्रमण्डलवन्दनाय यावत् । 'मय्यत्र' इति प्रथम-विशेषः, द्वितीयविशेषः 'अत्र' इति । एतन्मते तु यदत्रोक्तं 'मय्यत्र' इति ।

विशुद्धयपानशुद्धया पापमौलिकं देहं निवर्तयतीति दत्ता सस्मिन्नेव स्थितिं विधाय
 को निष्कास्य प्रमुखास्तिस्त्रयीशानुसम्भरूपं प्रमाणातुरोविश्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या
 भगवद्देहागोपिकत्वात् वा । अथ मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रबोधगतलुम्बबाधाकाञ्छेयम् ।
 शास्त्राचार्यं तु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । तेषु तेषां क्रियमाणापाने-
 चतुष्टयविशेषाभावात् साक्षात्तैस्तनुपयोगेनैवैवाप्यसाक्षाद्देहानुसम्भर्तृभिः क्रियमाणायाः
 सेवया वा क्व सर्वत्र योगः शम्भुसहस्रहस्तीरश्रान्तिशङ्कम्, यथा कृन्दावनलापस्था-
 र्दनाम् । तस्य चान्तराम्भातुकुलत्वात्फलत्वं, बहिःसाधारणसम्भ्रान्तादधिकाररूपत्वं
 च शेषमिति वदन्ति । तयान्तरैरुपगतानां मध्यमे फलमिति लक्ष्म्याचार्यचरितश्रान्त-
 तिरुद्धम् । तथा हि । यद्यस्मादाचार्योपायेनैवैवविधायः साधरा कुवाति दण्डस्तनुपयोगे-
 त्स्यात् श्रीमदाचार्यैस्तद्विषयां च तदनुसर्गैः स्फुटीकृतः स्यात् । न 'चान्तरैरुपगतानां
 कांश्चिद्विज्ञेयमात्रे 'प्राज्ञां फलः प्रतिपन्नकः, पूर्वमेव भक्तिमुक्तता मनवानन्दनस्तु-
 त्वेन प्रतिपद्यत एव भगवत्साधुज्यं प्राप्तवत् इत्यने'त्यन्तस्तदनुसम्भरेण, पुनोत्तरीय
 पदस्य व्याख्यानात् 'ततो मुक्ता जाता' इत्यारम्भ 'तोय परमात्मानं वास्तुभ्यानि
 पञ्चता' इति पद्यव्याख्यानान्तरानुक्तिरुक्त्यादेव मुख्यफलप्रेषया मुक्तिरूपफलस्यैव श्रान्ति-
 कल्पनेनापनेयमिहायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरितेति वाच्यम् । अत्रत्यस्तदनुसम्भर-
 उक्तवदनां परोक्षपदरूपत्वमिति साधुज्यपदस्य भगवत्साधुपदत्वेन मुक्तपदानां
 'सदुपपन्नं देहं विज्ञेयमोक्तयुगमवैरहस्यमोक्त्याश्रयुक्तातीतसहायनिष्ठमवदसानन्दानुसम्भ-
 विज्ञेयमपरत्वेन च प्रमुक्तत्वात् । न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षपदत्वे प्रमाणाभावः ।
 'तदुपां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपशुयम् । अधिकं तु वक्ष्यामि परोक्षपदत्वात्'
 इति प्रथमस्तुत्थीपशुवोचिनीकारं प्रपञ्चकमयस्य 'परोक्षपदत्वात्' इति श्रीमदाचार्यचरि-
 ताया एव प्रमाणत्वात् । अत्रार्थः । यदि श्रीमान्पते कुत्रापि तदुपां नैव वक्ष्यामि,
 न कश्चिन्प्राप्तिः । तदुपां हि मुख्यार्थभावे मयति, तथाच प्रतिपादयन् भगवता सर्व-
 फलित्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थभावाभावात् । 'पुराणं भाव्यो धर्मः सातो वैद-
 यिनिश्चितम् । आज्ञानिश्चानि वस्तुनि न हन्तव्यानि मुक्तिनि' इति गीतगोविन्दविषयेन
 द्वायेषु तदुपांस्त्वत्वावयवस्य निश्चितत्वात् । अथ च न्यूनादुपगतान्तरकमया न्यूनात्पूर्वं
 शान्त साधुप्रधानो निर्देशो, स्वच्छेने कथ्यते । यदा, न्यूनादुपगतान्तरकमया न्यूनात्पूर्वं
 भवेन प्राप्यान्वक्तुमभ्यन्तेन पुराणान्तरकमयेति भावनेन पूर्वं श्रीमान्भवत्स्य
 भगवदीयान्तरकमया श्रीमान्भवत्स्यव्याख्यानं एव न वक्ष्यामि । यदि सा श्रीमत्त्वत्वीया स्यात्
 यदा व्याख्यानमिति निश्चयः स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः । केचित्तु न्यूनान्तरकमयादवी-
 'वन्मात्रे'ति प्रथमस्तुत्थीपशुवोक्त एव 'जीमदि' इति त्रिदशव्यवहारकमयाविनी-

साञ्चन्द्रस्य चाभ्याहारदर्शनात् सोक्तिभिन्ना, किन्त्वार्थिकं चाभ्यार्थसिद्धमेवार्थं ब्रह्मणामि
 मरुष्ठत्वेन ब्रह्मणामि । अगोष्वात्वादिति भावः । परन्तु परोक्षकथनादतो परोक्षकथनमप्रत्यक्ष-
 कथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथनं गोष्पकथनमिति वाच्यत्वं तद्विद्वादेत्यर्थः । तथा च
 परोक्षकथनेनानभिकारिण्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिरिति विद्वद्व्याजानय च न्यून क्रमेण
 प्राप्त्यान्वेन पुराणान्तरेण पुरुषं न ब्रह्मणामि परन्तु तात्पर्येणाहकतिहासिसिद्धयेन, न तु
 तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं गोष्पम् । तथैव सुबोधिनां दध्यमानत्वात् । तद्वत्कृत्वायाः
 कल्पान्तरीयत्वात् । एतत्कल्पमते तु 'गोष्पाः संस्तुष्टास्तिला अग्रेषु करयोः पृथक् ।
 न्यस्तामन्यय पातस्य पीडन्यासमकुर्वन्' इति वयं जपन्मस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिका'
 इत्यादिपञ्चदशुत्तारिरूपसिद्धिं कुमातिवचनामविकुमारत्वे, अथ च 'तमेव परमात्मानं
 आशुष्ठवानि मज्जता' इत्यवलम्बितरूपसिद्धिं सिद्धयन्तर्हृदयतायां 'आशुष्ठयेन सुखेनै
 सुखं सर्वलोभिक । ययि सम्प्राप्य सर्वेति कुतकृत्वा भविष्ये'ति पृथङ्गमनोक्तमगवद्भर-
 दानविशिष्टशुभित्ये च बयोक्तं तपोक्षमेव सादृशो ज्ञातो तज्ज्ञातकल्पीयमिति तात्पर्य-
 द्वाराणान्तरकथना पुरा न करिष्यामीति ज्ञेयम् । अथ च परोक्षकथने चाभ्यार्थसिद्धमेवार्थं
 न मरुष्ठत्वेन ब्रह्मणामि किन्तु गोष्वात्वात् मरुष्ठत्वा न ब्रह्मतादीनां तात्पर्यवृत्त्या सिद्ध-
 कथनार्थं ब्रह्मणामिति भावो ज्ञेयः । एतच्च कथनकरणीयतीतायामभिगोष्वात्तादुपक्रमे
 कथनकरणीयतुपोभिनीससाधुन्यमुक्तावदा'न्मुक्तं पुराणा'दित्याश्रय्य 'यत एतद्विशुद्ध्या'
 इत्यन्तं मध्ये प्रमुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिब्रह्मणामि, अथ च रासरीलोपसंहारे च 'मधुराज
 उपलभ्य' इतिपद्यव्याख्याने 'यतो नमवान् मोक्षदाता ताभ्येदाशुन्यमन्तःस्मरण करि-
 ष्यन्ति तदा मोक्षविकारिण्यो भविष्यन्तीति वागुरेवानुबोधिता' इत्यत्रसमोक्षनर्दं च न
 लोकप्रसिद्धलभ्यरूपसाधुन्यपरत्वेन लभ्यरूपमुक्तिविशिष्टन्यपरत्वेन लभ्यरूपमोक्षपरत्वेन च
 न प्रमुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन मकरसद्वितीपरत्वेन मुक्तावपदेष्टव्यामोक्षप्रसादीतिरु-
 देतनिब्रह्ममगवद्साधुन्यविशिष्टलभ्यपरत्वेन निब्रह्मोक्तप्राप्तमगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रमुक्ता-
 नीति ज्ञेयम् । यथाभ्याधीन्यास्त्वानलसाधुन्यप्रमुक्तमुक्तिमोक्षदाता परोक्षवाद्दरूपापीति
 आपगितुमेव यथाभ्याधीन्यामिहोक्तव्याख्यानीयधीमदाचार्येतातुनरसकृतप्रकरणोक्त-
 पोभिनीतिव्याख्यां व्याख्यात 'दिवा निब्रह्मोक्तमोक्षं मत्तं दिनान्ते निब्रह्मत्वे च आनन्दे, न
 स सर्वदा दर्शन इति मोक्ष मोक्षवदेत्येव' इति मोक्षप्रदस्य तात्पर्यान्तरपरत्वेन । एतच्च
 साधुन्यमुक्तामुक्तिमोक्षप्रदायां परोक्षवादार्थं सिद्धम् । अन्यथा 'न वैव दिस्त्वय' इति
 पद्यव्याख्याने 'एतत्सर्वव्याप्यं यज्ज सर्वमेव कर्तो तिसृतिं वासति, भावनया मोक्षुले
 स्तिष्ठ भवत, आगच्छता वे'त्यत्र तिसृतिप्रदसोपवद्वत्सोक्तव्याख्यानि धीमदाचार्यचरणी-
 मोक्षप्रदस्य 'मोक्ष'मद्वयमन्तःस्मरणमगवद्दर्शनं च लोकप्रसिद्धमोक्षमिति विशिष्टव्याख्ये व्याख्य-
 यीप्रसङ्गे 'तथैव त्रिपदा मये निब्रह्मव्याख्यातुमोधिना'मगवदासा मुक्तिः सिद्धे'त्युक्तमग-

कल्पतया विद्यमसदनं स्त्रीपुंसं वाच्यम् । दस्यैर्षेणुवराभयानि दधते तत्कल्पसर्प-
निधिम् । प्यायामि स्मितशोभितास्त्रकमलं गोचरलभूषणमणिं मिलितुन्दरीमोषात्मप्रसन्नविभु-
ष्यानप्रतिपादकगण एव प्रभाष्यमिति वाच्यम् । 'अर्षो वा एष वात्मनो यत्सत्री'ति
श्रुतौ दक्षसम्बन्धसुकायाः स्वविवादिताया द्वापैत्यसुक्तमिति लक्ष्म्या द्वापैन्दारीत्येव
स्थितिरूपेण प्रतिपाद्यते न त्रेतायाम्, स्वविवादितात्वात्वेन पञ्जीत्याद्यादित्यस्या अपि
भवदुक्तोक्तवक्तव्यम् । वाच्यलक्षः । तेषामपि केनतनीचरूपधामनेव खोदरे पुनरा समा-
पनम्, न तु पातकदेहसहितानाम्, यदनन्तरं भगवतामि तदशुचकृता एव तावदात्मनेव
खोदरे समापनम्, पश्चादपस्त्रीरामाणावेत्याम मत्तपर्यायसक्ते त्वर्लीकिकदेहे दत्ता तद्वीर्य-
श्रद्धेनं कारितव्यमिति निश्चयसा एतदस्तेनास्त्राणि दृष्टान्तस्याभावात् । शरीरविशिष्टानामेव
तेषां खोदरानवनमित्यस्य कण्ठशेषाधूपमानत्वात्, वस्तुतः पाददक्षमस्तन्वीषाभ्यापमुचो-
चिन्त्या 'तथा सस्मितानीता ये पातकानां लीकास्ते स्त्रीलीकमर्मास्त्राणि स्थाविताः सन्तीति
कारं सस्मितानेतुं भगवांस्तस्मिन्पीडनमेव कृतवानित्यभिहितेर्षे' इत्यनेन केवलस्त्रीरना-
मेवानवसक्त श्रीमदाचार्यैकतयाच । न च सात्मनद्रुद्धयवलीलश्रद्धांशसुखसत्त्वसर्वमे-
वगच्छति देहसहितानामपि स्थितिरस्यैव, एवं चार्लीकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्ना-
सम्भावितेति वाच्यम् । सगुणसर्वविन्दप्रदमित्यसर्वमेव रात्रन्मृदन्मृदनापमानानामपि
स्थितत्वाद् तावदानपि वाच्यमकृतप्रकृतेर्षु सन्त्यत्यारिति न किञ्चिदेतत् । अप यद्यपि
सगत्तोऽपिच्छादकित्वाद् केनापि प्रकृतेर्षेतासां भगवति स्थितिः सम्पदेदपि, तथापि
यथेतासां वाच्यमकृतं स्यात् तदाऽपिच्छादकित्वात्त्वसर्वमेव भावना समञ्जसा स्यात्, तदेव
तु सगुणायमानम्, यत एतासां सगुणदेहत्वागोचरं निर्गुणदेहत्वात्मनन्तरं तु सर्वमाव-
प्रपित्कृतत्वावयवस्य सर्वगतत्वपक्षितम्यस्यैव च कृत्या शक्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्ति-
रूपेण । तथाहि 'कृण्वे विदुः परं कान्त'मित्यप्युच्येतीगुचोचिन्त्या प्रथमस्याव्याप्ता-
विशेषविशदीकारकद्वितीयस्याव्याप्याने 'उक्तं गुरुराज'दित्यप्यव्याख्यायां 'यथा नापति
गुणादीन् एव परिनिताबुद्धितेति देवस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्षणे,
अथ च रक्तः सर्वमावप्रपित्कृत्याः । नहि कारतबुद्धी सर्वमावप्रपति । प्रथमगु-
कलेनेव तत्कल्पमात्रम्, अथ च सगुणत्वस्य प्रतिपन्नप्रकारावयवा येषादीनां स्वाधि-
कारानुसारेण तावदावरीत्याशे तत्त्वदमिति स्वाधिन्यायानुसारेण, तथैतत्त्वमपि साधि-
कारानुसारेण तत्त्वार्थे सगुणत्वोपरमेव सर्वमावप्रपत्यैव, ततो निश्चयितमनन्तरि सर्वमाव-
दावत्, अन्वया 'ये यथा यां प्रपन्ते ज्ञानधैर्य मज्जन्मद'मिति यथोक्तं 'अप्येते'त्युक्त्या,
अथ च ननु तथापि तत्त्वप्रपत्तेरेव दृष्टत्वात् कथं सर्वभावप्रवृत्तिमात्रं तत्तं भविष्यतीत्या-
गात् दत्ता 'द्विपञ्चमी'त्यर्द्धिप्रतीकस्याव्याप्याने 'बोधसुखजननी'सुखादिश्रद्धेयकथां च येष-
लक्ष्ये दत्ता आदितापति दुर्लभां मुक्तिं दत्तामेव तावत्प्रपत्तिगुणत्वावयवासां तावत्

(अथ एकं पदं द्रुतिमिति प्रतिभाति)——तन्नामन्तर्दृष्टतानां रासाशुभयोर्धं भवन्त्ये
 कुट्ट स्थितिर्भवतीत्यन्ते, अस्मन्त्ये तत्कृतानामन्तमस्थाने लयान्तरगता सह न न एव समा
 यमनम्, पुनः रासलीलाक्रमेण भवन्त्या सह तत्र गमनम्, तदा ललीतिकेदहशाला
 रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र मूयः । नावद्वन्वीरैरलक्षितत्वेन केवलमप्य-
 नागविर्भावितलीलादर्शनमात्रविशिष्टत्वेन चरित्तरेण अनेन्तर्दृष्टगतां स्थितिः । न च
 भिन्नोपपद्यविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव अने तस्मां स्थितौ किं भानमिति वान्म्यम् । 'वा मया
 लीला रा'चा'मिति प्रसङ्गीतपद्यगुणोपवीचीकधीमदाचार्यकृतव्याख्यानसौत्र प्रमाणत्वात् ।
 तथा हि, यदि मन्त्रस्तिन्तर्दृष्टतानां सशुभदेहलक्षणोचराश्रयनिर्गुणदेहसम्पत्तिनी लीला
 इत्येव तदा रासमण्डलमण्डनावमानाः प्रति रासार्दृष्टतारविषयकसकृत्लीलाव्यभिचि-
 कदनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिप्राप्तये बोधयेत्, स्वप्राप्तिप्राप्तनमात्रेण तु बोधयेत्,
 साकृत्लीलाप्रमदशिलोक्तु तद्विस्मयमात्रवादतो नैतासां ललीलादर्शनमिति वाप्यत्तासां
 सलीलाव्यवस्थितौ अति बोधयेत् इति वापद्वन्वीरैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवत्-
 मनागतः अन्तर्दृष्टता सह एव स्थितारससदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्सः ।
 अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यत्वात्माहर्षी श्रीनलसापनमिति पक्षो निरर्थकः ।
 अन्वया सनागानां भगवतीनां पुनः हेतो न भवेदनुभवसिद्धय हेतुः । ननु ताः प्रति-
 पत्त्येन तथानुत्तः कथं तदुत्ता इत्याद्यनयाह कथमाह्य इति । तासां महाशायनलीला-
 वस्यप्रतिनान्यरूप द्रुति सह एतेनधीनमिति कष्टत्वेन कष्टकोटारजद् देहविराकरव एवो-
 पधीनम्, भवतीनां तु तद्रुतिविषयवस्थां प्राप्तवत्, अतो महत्प्रयत्नेन दोषं परित्यज्य
 तामनसा प्राप्य मां प्राप्त्यमेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानकर्षातोचनेन्तर्दृष्टतानां
 नाहुतात्मनरूपमपुरोदेश्यकमगनप्रवचनरूपप्रपञ्चमात्रनिर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि
 तदर्थेन स्यात् तदा भवतीनां तु तद्रुतिविषयवस्थां प्राप्तवत्, तदुत्तु महाशायन-
 पल्लभासामवस्यप्रतिनान्यरूप द्रुति सशुभदेहनिर्गुणोपवीचीकधीनमस्ति इत्यामपत्तां न
 प्राप्तिवदिति भगवत्प्र कथयेदेष । अतुसावमनमगनप्रवचनदर्शनोत्पत्तितासामवस्य-
 निद्धरत्वात् । तस्यादन्तर्दृष्टतानां न प्रवचमात्रनिर्गुणोत्पत्तितादर्शनमित्यपि निद्धम् । उचित
 देवदेव भवत्, द्रुतिरूपमितन्तर्दृष्टताभिर्धवा एतत्तेकरामिन्यः भवत्तरेण गौरिका ।
 भवन्ति रमण मर्या पिच्छेयं जमिता तथै'त्यनेन प्रहृष्टलीलाधुरमवस्यव्यापितशुभदान-
 केनप्रदानावकाशायान्तर्गतमुत्पादये कृतलक्षणारागगौर्भवत्तयोर्धं कृत्यकमानभवत्लीला
 अनेन भवन्त्या नह एवमेव प्राप्तिवत्, उपदि तासां प्राप्तिवत्तदावैदमेव स्यात्, तदा
 प्रपञ्चान्तर्गतमुत्पादये तासांभावनेन भगवता सह रमण न प्राप्तयेव स्यात्, एव च 'ने
 पया वा प्रवन्ते तांमनैव भगवत्तद'मिति मर्यादासंगः स्यादिति न तासां प्रवचमात्रा
 निर्देवलीलादर्शनमिति साधीनपी पूर्वोक्तौ । एतेनचित्तरेण अने ता आस्थिता इति

भयतीव्रमपि निर्वन्धनेपात्रं स्यान्नमित्तमेवास्मिन् न च आसिता इत्यस्य व्याख्याने-
नास्मिन्नेव मने स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवास्मिन्नेव पूर्वमेवोक्तं यत्प्रतीपसंगे विंशा-
ध्याने, 'तत्रैका विज्ञता भव्या भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विनष्टो देहं कर्मातुषन्धन'-
मित्येवमप्याख्यायामुच्यते-विन्धां भगवत्प्रज्ञायाः स्थानान्तरं न सम्भवं, तच्छब्दहीनामिव ।
अत्र यम भगवांस्तत्र तच्छतकः श्वाद्यो गोश्वाद्यो गेहपौ श्वेयः । एवं पात्रं भगवान्
मने तिष्ठतीति ना अपि मने एव चेति मने स्थितत्वमावासेवेति दिक् । एवं च सिद्धा
निशेवमद्वयविशिष्टत्वेनापि मने स्थितिरन्तर्हृदगतानाम् । तथा च गोपसाक्षित्वेन
गोचरगतीत्यर्थं भगवतो यमने प्रकटीकृतान्तरं भगवतो ब्रह्मणे च दिवा विप्रयोग-
रसालुभयः, सार्वभौमे पराश्रय भगवद्व्यगमने रात्री च सुन्दायन एव महानन्दसन्दो-
हस्तुपपत्तेस्तात्पर्यातीति लोकोपरसम्भवाद्युभय एवैतादृशमिति कथं वक्तुं शक्यत इति पूर्वं
विस्तरेणेति सर्वं चतुरश्रम् ।

स्मादेतत् । यत्तन्मन्तरैर्हृदगतानां यन्मध्यमं फलं यदातो न हृत्तन्मन्त्रम्, तत्र यतो-
न्नाहिते भगवतीति फलप्रकरणोपदेशोवाच्यमस्यप्रारम्भः, यस्याख्यायामुच्यते-विन्धां सन्ति च
सिद्धास्तथा च कल इति श्रमिदाचार्यसकम् । व्याख्यातं चेत् तत्तदुपरैः सङ्गतद्वि-
धस्याभ्यन्तारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थं इति, तत्रापूर्वविप्रयोगसंयोगात्मकं पूर्वावतारं सनात
इदानीं पूर्वविप्रयोगात्मकपूर्वसंयोगात्मकपुरुषोत्तमवतारो जात इत्युच्यते, तदन्तर्हिते
भगवतीत्यनेन पूर्वविप्रयोगात्मकसद्वन्तरं 'जातामाविरम्'दित्यनेनैकोनविंशत्याये पूर्व-
संयोगात्मकपुरुषोत्तमवतार उक्तः । एवं च पूर्वसंयोगात्मकसद्वन्तेर्दं भगवत्सकृत् परम-
काष्ठमन्त्रम्, एतत्तु अन्तर्हृदगताः प्रति न प्रकटयेत्, अतस्मात् नैतादृशमपरसकृत्प्रवृत्तिः,
किन्तु मूलसंयोगमिवमोचस्मात्मकत्वेनात्मसम्पूर्वत्वात् तादृशमपरसकृत्प्रवृत्तिरिति न सम्पूर्ण-
फलमाप्नोतीति तस्मात् मध्यमकलयादित्युच्यते । न चेद सकृत् पूर्वं न प्रकटमिदानी-
मेवापिर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'नागमस्य तत्रै'मित्येवमप्याख्यायामुच्यते-विन्धीस-
ङ्गो हि पूनवतोऽह इति श्रीमदाचार्यतन्त्रप्रकृतश्रीमदाचार्यकारिकादिप्रमाणं 'अनेदमा-
ह्वरम्, एतावत्प्रकृतमर्पये भगवत्तु सङ्गतसन्दो न प्रकटिक । तस्य सङ्गतमकलेन
तत्प्राकट्यं विना तदनुभवसम्भवत्, 'तथा परमहंसाना'मित्यत्र वाक्यान्तर्ध्वेन भक्तियोगेन
तत्प्राप्तिसाधकं तत्प्रकृतमभाषुनेन पुनश्चोपगतात्तद्विस्तारितवतुतत्प्रवृत्तिपादकान्तर्ग-
तैतावत्तात्पर्यानुपादयाभ्यान्तर्धानप्रकृत्यदधिकरयक्तुसङ्गतसङ्गतोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति
चेत्, अत्र वदामः । आमाविविधिविधयुक्तमिति विविधरूपसङ्गतकले भगवतो
मने गोप्यो भविष्यति तत्र पूर्वविप्रयोगात्मकसंयोगात्मकपुरुषोत्तमवतारो नैव
भवतां श्रेयान्तासमकले भविष्यातीति प्रकटतीत्याद्यभ्यान्तःस्थानन्दव्यवस्थाविहितप्रकले-
कसङ्गतद्विस्ताररूपश्रीमद्भोक्तृवर्धनयुगाद्विज्ञानावासरसोन्मात्तयोदीकद्व्यवस्थितिकेतल-

दीक्षायां शुद्धपुष्टिमात्रं फलं दिव्यमुर्मगत्वा प्रपद्ये लीलासहितं नाविर्भवति । अन्यथा जन्-
 भावप्रवृत्तिरूपसाधनायाः सर्वभावप्रवृत्तिरूपफलस्य प्राप्त्याप्तमानत्वात् कथमेतन्मात्रमपु-
 ष्तेच्छाफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मात्रं साधनं च ज्ञातं स्यात् । तत्रैतन्मात्रं फलं
 तु भवभावसाक्षात्प्राप्तये भवने भवतीति तस्यावानुसारेण भवने क्रियमाने भवफलज्ञानेति
 तासां दोषादप्येव न साधको जायते, एवं भवति न भविष्यतीति कदापिच्योमं भगवत्
 फलादपि तदुत्पत्तिवशमेवाकरणात्मक एव भवति दोषादपि कुर्वाण्यन्यथा लेतावदुत्प-
 नमुत्पत्तेर्येवाकरणे, भगवांसत्यतिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भवति
 येन फलं साक्षात् भवत्येव निर्दोषवर्षगुणत्वेन तत्र दोषादपि तस्य फलप्राप्तेरिति तत्फल-
 सादृशो भवति कस्यान्यवस्थायां दोषादपि न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं पञ्चतर्कद्वयज्ञानां
 कारणभावोत्पादनेन तत्फलमण्डलमण्डलावमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां
 कारणभावमुत्पादितवानेवमेव तत्फलमण्डलमण्डलावमानानामपि कारणसत्त्वसाक्षात्प्राप्तेरिति दोषा-
 दोषादपि नापि दोषतोमात्साधनपक्षीमदुद्भवमुत्पत्तेरिति सर्वं सुखात् । तस्यान्तर्यामि-
 नापि गुणमेव फलमिति सिद्धम् । अन्यथा 'कारणमेव सुखे' सुखं सर्वतोपिकं इति
 सम्मान्य सर्वेति कृतकृत्या भविष्ये'ति श्रुतिः प्रति भवदुत्पत्तिज्ञानज्ञानकारणमुत्पा-
 दयता इति फलमकरणीयवचनस्यानुसृष्टिसद्वत्त्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्यामि-
 इति ज्ञायते । एवं च श्रुतिद्वयमुत्पत्तिमुत्पत्त्युत्पत्तिप्रमाणमभ्यस्येन श्रीगुण्ठावन्तदोषवर्ण-
 नमुत्पत्तिनारायणोन्मत्ततोषीकदम्बमिति शिष्टेन किञ्चिदुत्पत्तिना भवत्येव किं करवाणी-
 सुखे 'कर्त्तव्योदितारम्भे' एवमिति नः । कामिनीभावमात्राद्य स्मरप्रवृत्त्या-
 संक्षयम् । यथा स्वतोक्त्याशित्याः कामलासेन गौतिका । भवन्ति रम्यं मत्वा पित्रीर्षी
 वनिता तथे'त्यादिना श्रुतिभिः सास कामिनीभावपूर्वकः स्मरप्रवृत्तिरूपकस्य वा कदा-
 पिद्वयवर्णनं यागादु पदेतासां लीलाकल्पामिताय इति वृद्धां वारयितुं यथा स्वतोक्त्या-
 पास्तव्या गौतिकाः कावत्त्वेन कामस्य तत्त्वं वरमकाशावन्न रूपमापेक्षितमिति यावत्
 तावत्प्रवृत्तिविशेषेण रूपेण रम्यं रम्यकर्तारं मत्वा त्वां भवन्ति तथा भवनेत्यादि
 चिन्ता वनितास्तादिता त्वदुपदर्शनेति श्रुतिभिः शायितम् । तत्र भवतोक्त्यासित-
 शिष्टोपेक्षाभावरसादीपमात्रेण भवन्निर्दोषमिच्छाम् । तत्र भवतोक्त्यासितश्रुतिद्वयोपे-
 कतां न भवति कारणः किन्तु सर्वभावप्रवृत्तिरूपो भावः । एवं च यद्येतासां भवने
 फलं भवत्युत्पत्त्यात् तदा 'ये यथा वा'मिति सर्वादा अन्ये । तस्यादपि न तासां भवने
 फलं किन्तु तममेव । अथेति 'दुर्लभो दुर्पत्यैव गुणकं सुमनोरथः । मयापुनोदितः
 कल्पन् ततो भवितुमर्हतीत्यत्र मनोरथस्त दुर्लभत्वं दुर्पत्यैव चेतम्, सुमनोरथ इत्यनेन
 मनोरथस्य गुणस्य चेतम् । यदि कारणमेव भवन् एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं
 दुर्पत्यैव च चेतम् स्यात् । अदभ्यन्तं तदानीं श्रुतीनां निवृत्तिरित्येवापत्तं स्वयम्

कारणात् दुर्परीत एव दुर्लभमेति दुर्लभत्वदुर्परीतत्वोक्तिः- सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरम
इतन् मनोरमे सुदुल्ल तु न सङ्गच्छेत्, जारभावेन मननमनोरमस्य ह्रस्वेन सुमुत्ता-
मसत् । तस्मात् सुमनोरमपदेन सर्वभावप्रवर्तिपूर्वकमननलोकवास्तव्यगोपिकाभावात्सवा-
लमभावमनोरम एकोक्तोनेति निश्चितम् । अत एवापि मयानुबोदित इत्यनेन पूर्वं मलोक-
नमित्येतादिवर्तिदिते अनु पञ्चान्मया बोधितो अत एव सम्पन्न समीचीन- सत्ये भवितु
योगो भवति । समेतदधीनत्वादेतासां बोधन रिता न सयो भवितु योग्य म्यादिति
नन । अन्यथा तावा बोधन बाधेभवेत्, निरुत्तमनोरमस्य सत्त्वात् । एतदपि तु 'आमा
मिति निर्दिष्टो नु ज्ञाने वृत्त्यर्थमुपलब्धे । कस्य आरम्भत ज्ञान्य ज्ञाने गोप्यो भविष्यति ।
इतिन्या ज्ञाने ज्ञाने माधुरे मम मण्डले । कुन्दावने भविष्यापि वेदावने रासमण्डले,
गतपर्वेन सुखे सुखे सर्वलोकिकम् । मयि सम्पन्न्य संवेदि कृतकला भविष्यदे'त्यनेन
मण्डलेनैतानिप्रवर्तित इतिवत्सर्वापि आरम्भतो मननत्वेन दत्त इति प्रतीक्षो स्फुटमेव ।
कदापि मननद्विधापि । मया त्वावामिभिरिभिरिदिरूपस्यारम्भतकल्पे वृत्तिवीर्यभारतधेनस्य
माधुर्यमन्त्रान्तर्गतकुन्दावने सर्वभावप्रवर्तिस्तत्कल च प्रकटनीय जीवनिक्षेपोक्तार्थम् ।
एव सर्वभावप्रवर्तिर्निर्गुणा, तद्भावयता देहादिक च निर्गुणम्, तदधीना भगवत्तत्त्व
निर्गुण्य सुख दुःख च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा एतन्मन्त्रमन्त्रनादमानाना
वापदिदु सगुणसमुद्भवा सर्वेषां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च सदस्यतोपि व्यर्थे सादृत्य
या एव क्षुतीशस्मिन्कल्पे अवतारविधेतासां भावादिक च सगुण विधाय सगुणभाव
सुखदेह सुखदुःखादिक च सर्वजन्यमिति ज्ञापनीयम् । एव सर्वोदासा तद्भावदेहादि-
काले क्षीयितव्यविशद्वीर्यास्ते सर्वभावप्रवर्तिरूप साधन तत्त्व्य फल भविष्यति, सुखयाना
मानदेर्निर्गुण्य च ज्ञापित भविष्यतीत्युक्तमपि कर्म सेरस्यति । अ-पथा तद्भावनार्थ
मननान्नकारणमावदेति कारणतो मनपरीत इतो, न तु तासां जारभावमिति सङ्-
गच्छेतापि बोध्यम् । एव च वृत्त्यन्तपुरावीर्यकवाविशारेणापि मैताया मध्यमकलमापति
मिन्तुवकलमापतिवेति कृतमधिकमितिभिधेन । अत एव गुणेतिन्यासुत तुरन्ता
दितस्त द्वितीयत्वात्पाने जीवदाचार्यक 'ज्ञाना राधावपत्तमन्त्रमन्त्रासा मर्षिता
मेव एतन्मन्त्रमन्त्रनादमानाना मरितमपि शुक्लीर्यमेवेति ज्ञापयितु मनवानेव कतिपय
गोरी सगुणदेहा साधयित्वा पूर्वोक्ताना बाधेति निर्गुण इति ज्ञापयितुतासा सगुण
भावगुणद्वयविशद्वीर्योपि सगुण्येव नाम्ने इति ज्ञापयितु तद्विधुति विधावापि मायि
सगुणदेहादु लक्षसङ्गमगुणतो मर्षितमन्त्रमपि ज्ञापयितु कर्मसमप्रकारेण न्यायाति विधान
मस्याप्येव सर्वे ज्ञानमिति निबन्धे । अत पुनित्वाज्जिगरान्तर्वादावाग्यया अनुप
पत्तनीयमन्त्रनादता इति सर्वजन्यमिति । न च तासां यदा सगुणदेहासङ्गदेव
मण्डलेनैतानिप्रवर्तित इति सर्वजन्यमिति । न च तासां यदा सगुणदेहासङ्गदेव
मण्डलेनैतानिप्रवर्तित इति सर्वजन्यमिति । न च तासां यदा सगुणदेहासङ्गदेव

(अथ एकं पत्रं द्रुष्टितमिति प्रतिपत्तिः)——शान्तमन्तरर्हद्वयतायां रात्रालुपयोर्वा भवन्त्ये-
 कुञ्च स्थितिर्यकोच्यते, अस्मन्मते तुक्तस्यानान्यतमकाले लयाद्भगवता सह यत्र एव समा-
 यमनम्, पुनराससीत्यसमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा स्वकीयिकदेहस्या-
 रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अथ नृमः । वागद्वयीदिरक्षितत्वेन केवलरूप-
 गताविर्भावितसीतादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव प्रवेष्टर्हद्वयतायां स्थितिः । न च
 निश्चयपद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव मने तासां सीता किं यानमिति वाच्यम् । 'वा यथा
 पीडाया राण्या'मिति भ्रमरकोतपद्युषोधिनीस्वधीमदाचारैकतयाख्यालस्यैव प्रमानत्वात् ।
 तथा हि, यदि मयीवैरन्तरर्हद्वयतायां समुपदेहताद्योत्तराशक्तिर्मुगदेहतमप्यन्विता सीता
 दृष्टेता तदा रात्रमण्डलमण्डनाभगानाः यानि सन्तरर्हद्वयताविषयकत्वरूपपीडाप्रवृत्ति-
 कथनपूर्वकं किञ्चित् स्रग्वाशित्वाथने योपयेत्, स्वप्नप्रतिष्ठापनमात्रमेव तु योपयेत्,
 मङ्गलमण्डलाभजस्थितोऽस्तु तच्चिरैवममानस्यारक्षो नैतासां तद्वीलादर्शनीमिति मङ्गलतासां
 मङ्गलीताभजस्थितौ भवि योपयेते इति वागद्वयीवैरक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भक्त्या
 मन्नागत्य भन्तरर्हद्वयता सह एव स्थितास्यालार्देव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भक्त्या
 भवेद्वैर निदर्शनेन भक्ततीक्ष्णत्वदे प्राप्तमप्यलस्यालवद्वै जीवपस्यानमिति पक्षो निरर्थकः ।
 अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः हेयो न भवेदनुभवसिद्धय श्रेष्ठः । ननु तदा प्रति-
 पत्त्येन तयाभूत कथं रात्र्या इत्याद्यनपाद कथाम्ब इति । तासां महद्भाग्यमसीत्-
 पश्यतिपश्यन्स्वरूपं दुर्मितं च प्रोचयधीनमिति कण्ठकेन कण्ठकोद्यालवद् देहविराकरम एवो
 पधीनम्, भवतीनां तु तदुर्मितमिमागवसां आश्लिषत्, अतो मङ्गलप्रकारेण दोषं परित्यज्य
 तामवस्थां ज्ञाय मां ज्ञाम्यथेति भाव इति धीमदाचारैस्याल्यलपयोर्हीनत्वेनान्तर्हद्वयतायां
 गाक्षुताभजनरूपमधुगैरेवकममपद्यवनरूपमवयमात्राविर्भावितसीतादर्शनमिति । यदि
 तदर्थेन स्यात् तदा भवतीनां तु तदुर्मितमिमागवसां आश्लिषत्, तास्तु महद्भाग्य-
 वत्सम्पत्त्यानवयवमपिपश्यन्स्वरूपं दुर्मितं समुपदेहनिवृत्तावेवोपधीनमतया इमागवसां न
 आश्लितवदिति भगवता कर्मवेदेव । अकृतममनमवयवमप्यनर्हद्वैरसीतामममवयव-
 निद्रतात् । लस्यान्तरर्हद्वयतायां न प्रपश्यन्नाश्लितवैरक्षितत्वेनमित्यपि सिद्धम् । उचितं
 योपयेत यतः शुक्तिरूपानिरन्तरर्हद्वयताविर्वेशा ल्पेक्षेककामिन्त्यः कामतरेन गीतिवतः ।
 भजन्ति रमयं मरता विहीनो जनिता उपेत्येन प्रकृतजीनाधुनमममव्यादिरेमुल्लान्त-
 वेनजन्तान्तरमप्यमाकलमंतद्वृत्तासे लमप्यनानागमलमोक्षमनोर्षीहृदम्पकमात्रमजानीव-
 भावेन भवत्या मह रम्ये आश्लिषत्, तद्यदि तायां आश्लिषत्तदर्थेदानीं स्यात्, तदा
 त्वायानन्तरैवतद्वृत्तासे दास्यभावेन भवत्या मह रम्ये न प्राप्तयेव स्यात्, एते च 'वे
 यमा मां ज्ञामन्ते तांनयैव ज्ञाम्यद्'मिति यथोदाश्रयः स्यादिति न तायां प्रपश्यन्ना-
 दिर्देवसीतादर्शनीमिति कार्यत्वमी पूर्वोक्तमिति । एतेषांविषयेन मने ता भागिन्या इति

सुमाररसानन्दचयेन सारसतकल्याणुज्जारीभीषमनवीयकृष्णस्तु भगवान् स्वपनिविषय-
 सिद्धपरमकाष्ठामश्लेन भगवता वेदान् प्रति परो दत्तः । एवं च मक्षकलसादारम्य सार-
 सतकल्याणपर्यन्तं न पूर्वपुरुषोक्तमाप्ततातो जातः, सारसतकल्याण एव न जात इति सिद्धम् ।
 एवं वेदे प्रपञ्चमेव मनसिपुन्रैकात्मकतापुनरापदे उक्तो । तथा चैतानकलात्मपर्यन्तपदस्य
 मक्षकलसादारम्य सारसतकल्याणपर्यन्तमित्यर्थोऽयुनापदस्य च सारसतकल्याणे इत्यर्थः सम्पन्नः ।
 तथा च पान्यसारम्य कृता जीव्य सर्वाणि रसात्मकमाप्तयेते । मक्षकलसादारम्ये त्वेतादवतार-
 पूर्वज्ञानमिषी सर्वाणि शीत्य स्वरूपान्तरसादानयेन कृतः साक्षात्साभासलानामिच्छतेति । किम् ।
 राक्षमण्डलमण्डनानिः कृतं 'कस्यमित् कृतानामन्या' इत्यादिलीलातुकरमपि न गृह्यन्ते ।
 इदानीमाविर्भूतिप्रबोधसंयोगात्मकस्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात् । सन्निपकृत-
 जीलातुकरमप्येव जीलाज्ञानरूपमिति रसज्ञानसिद्धान्तात् । अपरम् । विषमज्ञानमिष-
 कन्दसुखैतो इत्या रासातुनो गतिनीन्तं, गोविन्दचरणस्थिते इत्यादियु नन्दसुखक-
 मस्तुनवोक्तुलेन्द्रादिनमकमनस्याय च 'निन्दकान्यथाऽज्ञातप्रभृता'दिसातुकरकावीयादि-
 मपरिहितमनोपारमभवनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्तत्प्रवक्तव्यस्वरूपे सम्भवाभावेन प्रम-
 कृततात्तात्तात् । न चास्तु अनकृतमिति वाच्यम् । तथा सति राक्षमण्डलमण्डनप्र-
 मानार्थं भावातुसारोपैदानीन्तनमननकर्तृमिदाराक्षममनसिद्वान्तस्य ज्ञापमानत्वेन नन्द-
 रूपादिनामप्रवक्तव्यस्य फललीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तः ।
 अन्यम् । भीषमनवीतमिषीमिद्वैवर्धनोदरमस्वरूपमननप्रसक्तेश्च महानमर्कः प्रसज्येत ।
 न च तदन्तर्वीतमिदमपि स्वरूपे पर्येत एवेति वाच्यम् । तथा सति तत्तल्लीलमिषिद-
 स्वरूपानां तत्तल्लीलाप्रवक्तादीनां तत्तत्स्वरूपमननस्य च बीषमलीलाप्रवक्तादिस-
 बीषमस्वरूपमननप्रवक्तव्ये । अपरम् । 'जानीत परमं तत्त्वं पञ्चोदोस्तद्व्यतिरिक्तम् ।
 तदन्वदिति ये मादुरागुर्गच्छान्तो दुषा' इतिप्रयेन भीमदाचार्यैर्योदोस्तद्व्यतिरिक्तं
 सिद्धान्तिगताः परमवत्त्वताया महामतद्वयम् । न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे पञ्चोदोस्तद-
 व्यतिरिक्तमनवीति तद्विषय मक्षकलसादारम्यः कथं भवतातुपेयात् । यम् च 'तसि
 वसि तासि सज्जति परिवर्ति किन्तु मक्षमिषकस्या । या नन्दसुखसुखीतरत्वं चेता
 तमादम्भ'इति तत्तुनवतनोक्ता कस्य तत्तत्वेतस्त्वे नन्दसुखसुखता हेतुव्योक्तिरिति कथं
 मन्यथा साद् । भीमदाचार्यैर्योदोस्तं तत्तुनवतानां च प्रमकतन्मात्रात्मकमननप्रवक्तव्य
 एव निश्चयत्वात् । ननु तर्कवतातन्मूर्तिगतं हस्तसाधनपुनरापदस्य काल इत्यनस-
 बातनदम्भात्मकस्य का गतिरिति चेत् । अयौच्यते । नू पावनचतुस्रयोरितिपालमर्जु-
 सातत् सम्पुर्विगुण्डस्य सम्पुर्वेता कार्यः, सा च केनचित् प्रकतेन न्यूनस्य भवति ।
 तत्रास्तदाचार्योक्तानां द्वि फलप्रार्थः । तत्र फलरूपे भगवानोप साधनम्, फलरूपो
 भगवानो न च फलम् । तत्र परमकाष्ठमण्डलस्य फलरूपमप्येतो 'रसो वै त' इति श्रुते

प्राक्ते काष्ठानो मृत्तिस्यतीति न सम्प्राप्ते, यतो भववान् यत्नकर्तृतादिप्रयत्नरूपी-
 लोचने काष्ठानाः स्विताग्रेऽभिमिश्रित्यथा चाक्षोपाविशन्पन्थाभावे निश्चित्कालिन्त्ये, एवं सान्ता-
 सितयत्नपरमभिमिश्रितरि तद्विस्तारकद्रव्यसम्बोधोपादिप्रयोगस्यैव सार्वकालिकरवादिप्रयोगस्यैव
 फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आविर्भूतेन नियोगस्त्वित्या-
 देरयमर्थः । यथाविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा यद्युक्त आगमनज्ञानेऽस्मात् निराप-
 गत इति निश्चयननित्यमहादुःखेन देहपाकः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सद्यस्त-
 न्तोऽयं विद्योतो दितकारीति भावः । पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः । राससामयिकनियोगोत्तर-
 सञ्जातसम्बन्धेर्देहाः स्वस्यात्मनित्यमहादुःखेन स्वरूपवयनतेनार्थदग्धाः, अतएवनिदामी-
 न्तसम्बन्धे सपुराविपपकनमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः सादिति हेतुस्यै
 सद्योऽर्थ इति वदन्ति । तथापि वदामः । भववद्वत्स्यो ह्यधिक्यः । तत्र यथावित्तात्मनः
 शीतलतात्मनश्चेति द्विविधः । तत्राद्यादिरिषाफजनकोजिस्तु तावज्जनकः । दिवादि-
 रूपोऽपिस्तु शीतलतात्मनः । तत्र यावत्सर्वन्तं देहादिषु आपत्तावत्सर्वन्तं दिनरूपोऽपि
 ससम्बन्धेन देहादिसिद्धिकारकः । सर्वथा ससम्बन्धेन देहादिनिष्ठतावनिष्ठौ शीतलता-
 तुमेव देहादिनामकरम् । एव रसरूपो भववद्वत्कोटिरपि निप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः ।
 तत्र नियोगोक्त्युक्तो रसरूपो बन्दिस्त्वात्कारकः, संयोगरूपो बहिस्तु शीतलताकारकः । तत्र
 यावत्सर्वन्तं देहे निप्रयोगनित्यज्ञानसम्बन्धज्ञानसर्वन्तं तावन्निर्देहसञ्जातलतातुमेव देह-
 जीवात्मनोः स्मृतिकारकः । स्वसम्बन्धेन सर्वथा तावन्निष्ठौ संयोगरूपो बहिस्तु जीव-
 कवसम्प्रादयस्तत्मावत्वात् ससम्बन्धेन सर्वथा जीवस्तु त्वे सम्बन्धे स्मितोपि भक्तिमार्गीय-
 जीवात्मना रसाद्रुभवाभावात् एव भवतीति तत्राश्रयकारकः । अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्त-
 सर्वदाह एव सादित्यतलदाहपदेन स्वरूपमात्र एव सादित्यस्याप्याचार्योक्तताव-
 पदेनापि तत्र एव द्वेयः । जीवस्यानिष्ठतावद्विस्तारत्वात् काष्ठदिहादयराद्वत् देहादिनाम-
 यथावत्त पाञ्चकमवदात् । एव च सति यदि मययावेतामि सद संतुल्येव तदा पुराणद्वन्द्व-
 मन्दात् कोटिगुणानन्दसाहुर्भावे सर्वथा आपनिष्ठौ यत्नत्वात्मा तत्र एव भवेद्, एवं च तत्र
 मार्गीयपलायनाः सम्पद्येतेत्यभिधीतेन निषेधस्तु दितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचर्याः । न
 च तत्तत्प्रमाणमात्रेण पुनरपि निप्रयोगनिर्भावे पूर्वोक्तफलमप्यत्र इति बाध्यम् । यदि
 पुनरपि बहिरानिर्भूतद्रव्यसंनिप्रयोगविशेषवत्प्रयत्नत्वात्, तदेतदेव निप्रयोगेन चरितार्थात्
 निप्रोपन्यायप्रयत्नकैः । न च सुप्रानुमयार्थं बहिरानिर्भूतस्वरूपेण संयोगी देय एवेति
 पान्थम् । अन्तःस्वित्तामभिमिश्रितरदन्तःस्वित्तमयद्रवमिश्रतया सुप्रानुभवमिद्विदिनि
 श्रीमदाचार्येयोक्तत्वादिप्रतिर्भूतस्वरूपसंयोगेन निप्रयोगनपत्तादिति दिक् । यद्वा ।
 बहिरानिर्भूतस्वरूपेण निषेधस्तु दिव्यवरीलसामयिकः । प्रयत्नप्रादुर्भूतसपुराणसमय-
 सम्बन्धे महासुप्राणुमये जाते पुनरपि रसरूपवयनस्याभावादिप्रयोगे जाते यथा यथा

संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा तथा विप्रयोगे तादात्मिकम्, यथा यथा विप्रयोगे तु
 ह्यधिक्यम्, तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुमानादुपरागात्तरूपेण विप्र-
 योगे पूर्वतापादनि कोटिशुभे ताने आत्मे देहनाथ एव सात्, फलान्तस्य प्रलयाभिलाषादपि
 श्रवतत्वात् । यथा काराधिक्यसम्बन्धे काष्ठनाथः । अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवैता
 अर्पदन्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्वादित्यवलयपूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धे-
 नेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः । तस्मादद्वि-
 विर्गुलस्वरूपेण भावाच्च सम्बन्धते । सुखाद्युपपत्त्यन्तरानुसंधानेनाऽस्तितान्त्रयमित्यकि-
 यदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपानिर्वाणान्तरावर्तिरनुसन्धाने मन्यस्तत्रावाकाङ्क्षापामप्यन्तःस्थितस्य
 पादप्रकटादेव पद्विपि भविष्यतेति पद्विपिर्गुलस्वरूपेण विद्योने हितकारीत्युक्तं
 श्रीनदाचार्यैः । न चान्ताःसास्वरूपमात्रत्वेन तत्सम्बन्धवित्तुसातिद्वयोपपत्त्यातविप्र-
 योगादपि देहनाथस्यसक्तिर्भवित्येवेति वाच्यम् । पाद्विपिर्गुलरूपोपाविस्मन्धामानै
 मयनाविर्गुलकाङ्क्षान्ताःसाहिनं काष्ठदहनसमर्थः, यथाय चाधोपाविरूपसर्पमुक्तिदानसम्ब-
 न्धामाने पद्विपिर्गुलस्वरूपमप्यस्तिवाच्यं देहनाथकारम्, नित्यं प्रपञ्चातीत्यापत्तेरुपाय-
 रूपरसपर्वपुरस्कोटीय प्रकटमिति ज्ञेयं कोटीति भगवत्समप्रकटैः । यथा । आविर्गुलेन
 विप्रयोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः । अन्त्याविर्गुलसकलं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्,
 तत्र सर्वमप्ये गोपितानावपि सत्त्वादेजातावपि तत्परूपमुक्तिमेव प्रतिष्ठनं दृष्टति महाशयः,
 परं तस्मात् प्रकटत्वा भयानानन्दसमुपावपति । 'ये यथा गा'मिति प्रतिज्ञातः । अथो-
 पपन्नकस्या 'यत् फलदियुम्बत' इतिफलप्रकाशोपपत्त्यापावीचपत्त्याप्यालमुपोपिनी
 प्रष्टव्या । एवम् तस्मात् इवप्रकटमहेतुः प्रतिष्ठनं प्रयोर्भवतीति प्रज्ञातमादि पद्विपि
 न्यायादद्विप्रयोगाविर्गुलस्वरूपेण भगवात् न सम्बन्धते, तेन गोपितत्वात् तपनिपूतेर्दितं
 भवतीति प्रपञ्चाविर्गुलस्वरूपेण विद्योने हितकारीत्याचर्चितम् । पाद्विपिर्गुलसम्बन्धेनु-
 सन्धाने वा भावमेवेत्यान्तरावर्तिःप्रकटस्वरूपसंशयोऽपि तु यत्तेत्येव प्रमुः । तादात्म्यविनि-
 ताद्विप्रयोगीयपरमप्रकटत्वम् । तस्मात् विप्रयोगस्य परमप्रकटत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव ।
 संयोगसाधनत्वात् पूर्वोद्वेगवन्निप्रयोगस्य संयोगोपापकत्वात् संयोगानन्तराविर्गुलस्य
 विप्रयोगस्य च परमप्रकटत्वमुच्यते । अन्त्या मयवत्संयोगोत्साकं भवतितीत्योदप-
 यत्त्वमकानां भगवद्विप्रयोगोत्साकं भवतितीत्योदपेति सीमावपते श्रुतः स्यात् ।
 इदानीन्तनां मयवद्विप्रयोगोत्साकस्तु मयवत्संयोगसाधकत्ववैपकत्वकाङ्क्षादेव भवतीति
 न कल्प्यतुपपत्तिः । यवपि मयवत्ते स्वरूपत्वात् संयोगविप्रयोगावकत्वात्प्रकटत्वमयवत्ता-
 विप्रयोगोत्साकादिकते तन्वीयादिवदन्तरावर्तिमयति तथापि तन्वीयादिव्याप्या यथाप्रकट-
 रसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्वत्प्रकारा तु तन्वीयाकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगव्याप्या
 संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगव्याप्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परम-

फलत्वं वाङ्मयं धनमने । इति सति साधुवित्तवैषम्यात्फलत्वं फलत्वात् । न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्त फलत्वम् । अत एव फलप्रकारणीयप्रथमाध्यायमुपोधिनीप्रारम्भस्याभा-
 'मत्तो हि भगवान् कृष्णः श्रीपु रेवे सदाविशम् । वाङ्मयान्तरमेदेन स्यान्तरं तु महाफल'-
 न्तिविचारिकायां रमणपदवाच्यवाङ्मयान्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च कमेवोक्तम् ।
 एवमेव 'स्वाध्यान्दस्यानार्थाय लीला भगवता कृता । स वाङ्मो वणितः पुनो यमानान्वितिये-
 लुनः । तदर्थं भगवान्तास्तु लीलया संहितोविश'दिलेखद्वितीयाध्यायमुपोधिनीप्रारम्भ-
 कारिकायां विप्रयोगस्य संयोगस्यैव फलत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत
 एव 'अपि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ' इति अमरगीतजयभ्याख्यायानुपोधिनामपि फलतापकत्वाद्-
 छिन्नार्गे विरह एव दुःखार्थं इति किमिति विराक्तिपते तमादेत्याभासे विप्रयोगस्त फलसाध-
 कत्वमेवेत्येवं श्रीमदाचार्यवर्यैर्न तु फलत्वमिति भवतिस्त्वान्विता विप्रयोगस्यैव परमफल-
 कृत्तया कार्यं सङ्गच्छेततत्ताम् । अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतममरसङ्गच्छाकृतं तद्विज्ञानान्
 किमिच्छातिक्तेन भवति, अन्वया देहवाशः सादिति बहुकम्, तदपि न विचार्यमम् ।
 वापिः किमिच्छातिक्त्तसंयोगस्याभाववद्विज्ञानताम्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षामिद-
 तात् । इदं तु दशमस्कन्धीपकर्मिज्ञानाभासे 'अतो निवृत्तस्तत्र न कश्चिदपि संयोग
 सैन्या प्रणयेन देहिनाः । तदाङ्गुल्यापां निवृत्तद्वयार्थकं विवेक्षितं तैर्बलवैक्षितं यमे'-
 लारम्भः श्रीकचमुह्ये 'निवारणामः समुपेत वाच्यं किञ्चो कश्चिप्यङ्गुलमुद्रयान्धवाः ।
 मुद्रुन्दसद्विधिनिर्वाहमुद्रुल्लकारेण विवेक्षितदीनचेतनाम्, कस्यामुद्रयललितसितमधु-
 मधलीलजलीकारिरमणपदस्योद्वाचम् । नीताः स्त न धनमिष धनदा निना तं गीष्वा
 कमे न्वितितरेन तयो दुरम्भ'मितिछोकरये च प्रकटयेन । एवमपि सति यदि किमिच्छा-
 तिकमेव संयोगं दद्यात् तदा 'वे यया वा'मिति भगवत्प्रतिज्ञादिति स्थात् । तद्विज्ञान-
 देतायां संयोगो यवतीयादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यैवचतुर्वारस्यैव कण्ठरयेन सुभाष्यमुद्र-
 स्थाय । तस्मादन्तर्हिदिवा रात्री चातुष्टिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगोपार्थं विप्र-
 योगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति चरन्तरा मोति-
 कानिः सदा श्रीरति मकचमिति पुनं निवृत्तेन । ननु तपार्ति वात्तदेह्यतामानमेवविप-
 लम्पूरतस्मान्नयनजातिरिजायां पुनःपकचमेवैवात्तसद्वितीयायाकत्वादिति तत्त्वामफलस्य
 मय्यमकचत्वमस्माधिकमत्त इति चेत्, अतोभवे । सगुणशरीरत्वाद्यौचरत्तत्त्वममात्र-
 गुणातीतदेहेन भगवत्किञ्चिदप्यजानामन्तर्देहमात्रमपि 'अकिः सपेताविरुद्धारचेष्टि'
 इत्यादितीतालीमगजान्यमद्वान्तीतायास्तुचरतामविज्ञानतर्पीकडीतामात्रम् 'कामपादु-
 कृत्यमपयोले'तास्तु कपुनरणीयातीत्यन्तसर्वेतीतामपि प्राप्तितामपिमिति श्रीमदाचार्य-
 तत्त्वचरतायां हि निवृत्तः । अत एव 'अ एङ्गुलित्वायाता' इतिफलप्रकारणीय-
 पदभ्याख्यायानुपोधिनां 'यास्तु समान्ताः समानताया न विचार्यते, याः पुनः सगुणा

अन्यस्यान्यनिन्दस्तः शुन्दस्यवनात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया मयनमनुकमिति । करिष्यद्यापलीला तु सर्वभाष्यप्रवृत्तिस्तथा, अतो निवारणार्थं यजमाहे'ति श्रीमदानार्थैर्वास्वातम् । विभूते चैतन् तदनुवर्ततेः स्वकृतदिष्ण्यां 'यदन्तर्दृष्टता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शङ्काविरासताहुः याः पक्षो-
क्तानां व्याख्याः, तयोपपत्तिमाहुः समागता इति । अन्यथा तथा न सादिति भावः । वेदस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे गैलायां यदामावात् तस्य मयनं साधितमिति न निवार्यते' इति । एवं चान्तर्दृष्टयस्य न निवार्यन्त इति स्फुटमेव प्रतीयते, तस्य तन्निवारणं च भगवत्प्रियतायां सति सम्भवति । भगवन्निवृत्तिद्वयाने लैलायाभिधानी तस्य इति तन्निवारणपरिणामावान् श्रीमदानार्थोक्तिरापनुनरलोक्तिराद्यमश्रया सात् । तस्मादन्तर्दृष्टयानां गुणातीतदेहमात्राया भगवत्प्रियतामने विद्वन्, तदा तन्निवारण-
वृत्तज्ञानं च विद्वत् । एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वाणि लीलायां शिदेति न मयनकल-
त्वेतत्कलस्य, किन्तुसमफलत्वमेवेति व्यर्थं एवेतत्तत्तत् मयनकलताविरिति विद्वान्या-
मिनामः केनामिदिति सर्वमवदातम् ।

श्रीवत्सलसुखारविहृत्वायाहिरेगुलवयलतः ।

अमगोपालः कृतवान् सविभूतिरोपाकलन्यास्याम् ॥ १ ॥

रेण्णैककिं ननु निषाय निषाय म्यो

भूयः कृताहुतु महसु निवेदयामि ।

वक्तिमिदं लिखितं वयस्य मयकिः

तत् पुष्टिमार्गविकिः परिशोक्नीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीवत्सलभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महामनुश्रीविहृलेश्वर-

कृपाकटाक्षोद्भूतपुदिना सुपुदिना मध्यपतिजयगोपालेन

विरचिता सविभूतिरोपाकलदिष्ण्यां समासा ॥

॥ श्रीकृष्णार्चयामस्तु ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मण्डेशश्रीलक्ष्मणभट्टचिरचित्तसेवाफलविशुद्धिविवरणसमेतम् ।

विचार्य श्रीमदाचार्यश्लोकं सेवाफलविषयम् ।

मन्यं तद्विदुति चापि विदुषोऽपि ययामति ॥ १ ॥

शोकलपोषावभेदार्थं तक्तिर्भेदकरी इती ।

सेवाप्रतिपत्तिनिनी तद्विदुः साहनिषया ॥ २ ॥

व्यसनं मानसी तेषां बाह्यात्मज्ञानमकितः ॥ ३ ॥

अथतः श्रीवत्सभाचार्यः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यादिना
महत्वादिसिद्धान्ततः सन्ने जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तद्विदुः शुभं फलं सपरिचरं
निरूपयितुं कामातः सेवाफलनिर्णयश्चन्यं सविवरणमाहुः ।

पारशी सेवना प्रोक्ता तत्तिसद्वी फलमुच्यते ।

सेवना च प्रायुक्ता त्रिविधा, अन्तरात्मा अन्तरात्मा बहिरात्मा चेति प्रथम्येन सूच्यते,
या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरात्मा स्वस्वामिनः शुभोपपन्नस्य 'प्रतिद्वितिरूपस्य' काश्मीर-
चन्दनमुपपन्नस्यैताम्बुजश्यापनपूर्वकगुहारादिव्यानकिवारूपा साक्षादज्ञेयु बहु श्रेष्ठस्य
लोकवत् सुखेहं मित्यवाया सेवा प्रथमा । मन्दिरापरसम्पार्जनोपदेयनविषयकरनपूर्वक-
सिद्धान्तगदिसम्पान्तरात्मात्मानोपसकरनरीठसम्पत्तिभूदारादियोजनाशादिकषः साकसामग्री-
साधनज्ञानकिवारूपा परिचर्या द्वितीया । शुभवन्पताम्बूलफलचन्दमूलशाकमातरस-
शुशोषनपन्नसन्पन्नसम्पन्नसम्पन्नज्ञानकिवारूपा परिचर्या बहिरात्मा तृतीयेति पारश्वपदसाधैः ।
तेषु फलमुच्यतेति तयोक्ता । तत्तिसद्वी 'तत्र वेमाप्रतिकल्पयनात्मना परिक्रमार्थां मानस्यां
रत्यां' श्रेष्ठस्य पारक फलं तदुच्यते । ययति तत्र 'तत्रः श्रेष्ठारुद्रास्य निरुतिर्ग-
योपनमिति फलमुक्तं तथापि तद्व्याप्तमेवेति शुभं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि व्यायः शिष्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा तदधिकारी वा न फालोच निवामयः ।

विपरजय सेवायां फलअयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोप-
नोनिदेहो वा वैकुण्ठादिधिषति । अलौकिकसामर्थ्यं प्रथमायाः फलम् ।

एवं बोधं निरूप्य प्रतिपन्नं निरूपयन्ति प्रतिपन्नोपीति । स च साधारणोऽ-
साधारणश्च । साधारणः तेषामन्ये औचित्यनैदिककर्मात्रोपस्तृप्त्यान् एव, साधीन-
त्वात् । असाधारणो भगवत्कृतः, स सदा एवेति भावः । ननु कर्मभेदेषां सिद्धान्त-
स्याद्वा इत्याशङ्क्याहुः श्रवणात् साधनपरित्यागाः कर्तव्य इति । साधनमयं तत्तदन-
देतुष्वतो यत् तत्परित्याग इत्यर्थः । नन्वावस्थकस्य क्षेत्र्येदमित्यद्वयत्वात् अवस्थकस्यागत्यात्
कर्म त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं निरूपयन्ति तत्राद्यो नुवृत्त्या व्याज्य इति । सेवाया
अवसरे स्वाज्यः, अवसरे विधेय इति चातुर्वैमल्यकं ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिपन्नं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिपन्नं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेदतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

प्रचोरेष अकर्तव्यं तत्त्वोपाकारवचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य गतिर्न हीति
निश्चयः । तदा ज्ञानमार्गेण स्वातन्त्र्यं प्रोक्ताभावायेति । वक्ष्यन्ति चात्र
तद्दान्यसेवायि व्यर्थेति भावः । नन्वाहोरेवेवं न तु र्वै तथेत्याशङ्क्याहुः तदा
आसुरोऽप्यमिति । एवंविधप्रतिपन्नरूपविज्ञेन तत्साधनसमनुभेयमिति भावः । तदा-
हुरलमायन्तुं वा कदाचिकमिति निर्धार्य विवेकः, सांख्यज्ञानमिति चेदित् । तेन
शोकाभावात्, न तु मोक्षः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेव विगमयन्ति ।

पापकामां परित्यागो भोगेभ्योऽप्येवं तथा परम् ।

भोगयोरपि पूर्वसमस्यामाशङ्क्यैतद्व्युत्पत्त्याहुः ।

निःस्पृहं महान् भोगः प्रथमे विज्ञाते सदा ॥ ४ ॥

प्रथमे अतीतिःकामार्थं भोगो भजनतन्वदुत्पन्नरूपो महान् सदा स्वरू-
पः साधनतः कृतार्थः । कृतान्तरे अन्तो भोगः सविष्ट एतद्विषयः ॥ ४ ॥

सविमोल्भो धानकाः स्वादिलादेस्तौ यदा मता ।

सविमोल्भो धानकाः स्वादिलादेस्तौ यदा मता ।

अत एवेताविति मिथ्या । भगवत्कृतप्रतिपन्ने अन्यकृतचित्तवा शोकः कदाचिद्
तस्य सादिति उदपाकारं विन्ता न कर्तव्यतामेनाहुः ।

तिनीये सर्वथा विज्ञात व्याज्या संस्कारविशेषात् ॥ ५ ॥

भगवत्कृतप्रतिपन्ने । अत देतुः । स्वस्य संस्कारविशेषादिति । शंकातोऽहंम-
तया जन्मकर्मवशादन्तर्गतरूपः, तस्य निर्धारितादित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रतिपन्नं निवार्य उद्योगस्याप्रपन्नं प्रतिकल्पेन भगवतो दायुष्याभावं
देतुत्वेन निरूपयन्ति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अत्र आद्यफलभाष्य इति विज्ञेयम् । आद्येन वा प्रतिपत्त्येव फलभाष्य इत्यर्थः । नन्विदं विरोधोऽस्ती । आद्ये उद्देशरूपप्रतिपत्त्ये, मग्नतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया समानशीलेन कृतप्रतिपत्तिशीले तत्त्वशुक्तः प्रमोः फलदातृताभाव इत्यर्थः । एतदेव विदुष्वन्ति तदा सेवा नास्ति चेच्छीलादि । तृतीये लौकिकमोमे गृहमेव बाधकम् । गृहमत्र पञ्चदशिकं विष्णुपरिमुक्तमेव स्यान्मम् । अत एवोक्तभाष्येतिपत्त्ये 'गृहं सर्वोत्तमा स्यान्' इत्यादि ।

एवं फलवर्ष प्रतिपत्त्यकवर्ष च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमत्रव्यफलेन वस्तुशुपसंहरन्ति ।

अथइत्येवं तदा भाषया सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

(इयं दातृता इहे गदा भक्तिः बहुकिर्षा) । सेवा पूर्वोक्ता तपनी वा निदिन्येत्यर्थः । एतदतिरिक्तं सर्वं मनोभ्रमः । भक्तिप्राप्ते विविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलवर्षं नान्यत्, प्रतिपत्त्यकं बोधेगादिकमेव न पापादिकं । 'स्वरादमृतं भजाः विप-
क्षे'ति भाष्यतत्प्राप्त्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु मग्नपदीर्घेनैव कथ्येरुन्मन्त्रां किन्त्वन्वैरेत्यश्रयशुः तदीयैरपि तदित्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं शुद्धी नैव विलम्बयेत् ।

कस्ती देशादीनामसाधकतात् तथा । शुद्धी सितः प्रयुक्तु नैव विलम्बयेत् ।
व्यपसैरेवेह तथेति भावः ।

एतदेव निमित्तमन्ययास्तुतदित्यति ।

सुपाक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

एतद्व्यपनेन मनसो मग्नवचनतायां शुपक्षोभेति न भवित्यति भावः । अत्र
साधनमतिरेव मानसाहुः इति मे मतिरिति ॥ ७ ॥

नन्वात्र काचित् सुखमन्यया उत्पद्येत तदा कवं विचारणीयेत्यामदायायाहुः ।

कुमुदितरय वा काचित्पुन्ययेत स नै भ्रमः ॥ ७ ॥

एतार्थः ॥ ७ ॥

इति लीलाचर्यचर्यमतपार्थानुवर्तिना ।

सेवाश्रयं समिवृति विवृतं च यथावति ॥ १ ॥

इतिमद्देशाश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं
सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीमदाचार्यचरणान् ।

सेवाफलम् ।

विवरणटिप्पणीसमेतम् ।



श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसकलत्रदानम् ।

नमानि तद्व्योतेःकलत्रस्यार्थं समीहया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यचरणैरिष्या सेवा कलत्रपथम् ।

विधीतं तत्र मे योषस्तथाहि कृत्योन्मते ॥ २ ॥

पारदशी सेवया प्रोक्ता तत्सिद्धी कलत्रमुन्मते ।

पारदशी सेवयेत्यस्य विवरणे सेवायां कलत्रपथमिति । अयं भावः । भक्तिमार्गे
दुष्टिभरीदण्डबाह्वेदेन जीपेण भगवद्ग्रीकारलिषा । तथाहि दुष्टिमार्गफलार्थं मङ्गरणं
कस्तुरी मर्षादायामेव, न तु प्रवाहयार्थमिति विवरणे स्फुटीकृत्यत इति । तेषां साधनरूपा
सेवाति विषया प्रोक्ता । अतस्तत्कलत्रकारकसेवासिद्धी कलत्रमुन्मते । तत्किमिहा-
प्यह्वायानुक्रमलीलिकारसामर्थ्यमिच्छति । तत्र दुष्टिमार्गादीकृतस्य साधनदशाया-
माचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतसिद्धी फले साध्यात्मनस्तत्कलत्ररूपं भवेदिति ।
तस्मादेव अलीकिकसामर्थ्यं यदापुनिकजीवस्य तद्व्योतेःलीलिकैर्मर्षवीर्यादिगुण-
युक्ता समं ज्ञानेन रतिः रसोद्भवेन भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तद्व्योतेन
महता समेतत्तु कर्तुं शक्यम्, रसामासेतुलात् ।

यत्तु पूर्वं मानससेवायां सिद्धिः कथं तथातुः अलीकिकारोति ।

अलीकिकारस्य ज्ञाने हि चात्मा सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

‘मानसी सा कदा भवेत्पुनश्च सा सेवा सातवपुमस्यैकलेखलीकिकस्य प्रयो-
दने परमसाधनस्य कलत्रसम्पत्तिरहितस्य कलत्रमप्युतेः सः श्रवणः दुष्टिमल्लस्यः सयो-
स्तुते मनोरथः सिध्येत् । मनोरथवेदेन त्रेधातद्व्यवसन्तं कल्यादिभ्यः सन् सिद्धिं
प्राप्नोति, कलत्रगुणो भवतीत्यर्थः । आ एव मनोरथपदमुच्यते । इत्येव मानसीतसिद्धिः ।
तदुक्तं ‘चेतस्यस्यार्थं येने’ति । ययति मानससेवासिद्धौ तनुया विजया च द्वे भवे,
तथाहि सुखमर्द्धं दानम्, कलत्रस्यैवेति कदा दानं भवति, तदेव तद्व्योते वा भवति,
अन्यथा मर्षादायार्थमन्यथासमिति निरन्तरं कलत्रमेव दुष्टिरुपायां तथा चो विधेय इति

१. मानसीतसिद्धिराहं कलत्रं न ज्ञानेन एवतरेण यदलीकिकस्य कलत्रमुच्यते तदुक्तं तदुक्तं तदुक्तं ।

तन्नामोदये नैव सा भवेदित्यर्थः । तेन उत्तरत्वेनेति दग्नेनेन तादृशभावात् सिध्येन्नान्वयेनेति
त्रेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकारणे भावः क उत्तरेद्, विषयाभावाद्,
अत एवाद्भ्यते ते उक्ते ॥ १ ॥

ततः किमित्यत्र आहुः फलमिति ।

फलं वा साधिकारो वा न फललोच्य विषयामकः ।

तादृशमपुनरपि सति फलं सारूपसम्बन्धरूपम्, अधिकारः मतीयकितदेहवयो-
वृणादिक भवेत्, तत्राहुः न फलत्वं इति । अत्र फलत्वं वयोवृद्धादितमपररूपः
निषयामको न, भयवदिच्छादिव सर्व उल्लेखयोगि रदेव भवेत्, न फलत्वेष्टा । तादृश
प्रति भगवतोऽपि विद्यमानमस्तिमुत्पत्त्या ।

एव पुष्टिपक्ष निरूप्य मर्षादाफल निरूपयन्ति । तथा हि, मर्षादभावाद्भीतीकृतस्य
बाह्यात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भवन्ती महात्म्यभावनतिरिक्तोदेन तदात्मनो वा सायुज्यं
साक्षात्सुखोत्पन्नरूपे भवेत् त्वष्टी । तत्र तदातीकितदानैच्छाभावात् सारूपसम्बन्धा-
त्मक फलं न भवेदित्यर्थः । यदा पुन भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा साक्षात्-
त्वात् उपपद्यते तादृश प्रयत्नभावश्च कृत्य फल प्रयच्छति, वतीयसिन्नाभेति दातुल्लभि-
यायेनैव वरनकार्यत्वात् । एव भक्तिरसं स्फुरीकृत श्रीमत्पुत्रपरपै'मतिनामीवमकृतो-
त्थारम्भ, भगवत्पर्वपरलैनी'सन्तान् ।

प्रवाहमतिनामोत्पन्नरूपमेव व्याप्तिरुक्तस्य लोकलोकाधाराभक्त्यादधुतुष्टिरेव
फले, न तु पुरुषोत्तमतादुत्पत्त्यै । अधुतुष्टी तु आपफलदानैच्छाभावात्तदर्थं वरनमेव
नास्तीति साक्ष्यकलमन्माननेति मर्षादातो हीनत्वमुक्तम् । पुरुषोत्तमसामुप्ये तत्सम्भाषना
कर्तव्य इति प्रवादमतिमानंसेवाफलदुत्कृष्टत्वात् । यत् एतत्फलदानैच्छया बहिरण तन्मागी-
हये एव, न तु प्रवाहमाने, तदप्युक्त भक्तिरसं विषये चासि वक्ष्यते'मिति ।

एव सेवासत्त्वं साधनफलमदित मर्षादयेति निरूपितनिदानां तादृशदेवातिर्ही
प्रतिनम्पकतय निरूपयन्ति उक्तेः प्रतिषन्धो वा भोगो वेति ।
उक्तेः प्रतिषन्धो वा भोगो वा स्यात्सु बाधकम् ॥ २ ॥

श्लोकविषये सेवायां प्रतिषन्धकृतप्रयोजनं । एतद्विषयविषये प्रयाणां
साधनपरित्याग इति विषये निवृत्त्यै । ततोदेनसाधन लीकितलोच्यु जादिकम् ।
तत्त भगवदिच्छादीनस्य ज्ञात्वा तत्प्राप्तेन तन्मति त्यागो भवत्येवेति । 'विषोदेग'मित्यु-
क्तत्वादन न विषयो निवृत्त्यै । तथा अपर प्रतिषन्धः । स न विविधः ।
साधारणो भगवत्कृत्यस्य । साधारणो बुद्ध्या स्वाध्यायः । बुद्धिस्तु वसिष्ठेन सेवा
प्रतिषन्धोऽभूत्येव स न कर्तव्य इति विषयरूपमुक्त्वा त्वत्त्वम् । भगवत्पुत्रपैवे परिष्कृतम् ।
लीकितभोगस्तु विषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनपरतुष्टान्तरागादेव उत्पन्न इति
उदेव त्वत्त्वमित्यर्थः । एव नभय त्वत्त्वमित्युक्तम् ॥ २ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगोप्येकं तथापरम् ।

एतत्प्रयासां साधनरित्येतेषां बाधकानां परित्यागो यस्तीति शेषः । ननु सेवायां यस्तुमावोपयोगावस्थाने कथं तन्निर्वाह इत्याशङ्क्यामाहः भोग इति । तज्जाति भोगे एकं लौकिकं सत्येदपरं नेति शेषः । यत्सेवां स्मार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भग-
दर्पमुपयोगे भौतिकत्वम्, यतः स्मार्थं ते लान्याम, भगवदर्पमुपयोग्या इति भावः ।

तदन्तर्गतापकत्वमाहः निःशत्रून् हन्मिति ।

निःशत्रून् बहून् भोगः प्रथमे विद्यते सदा ॥ ३ ॥

निःशत्रून् हन्मिति प्रतिपन्नपरिहृतं शत्रुतु साधकम् ॥ ३ ॥

एवं बाधकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिपन्नत्वात् न हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिपन्ने हेतुं निरूपयन्ति अवर्तक्यं भगवत्त इति ।

अवर्तक्यं भगवत्तः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा या तत्त्वनिर्धारो विधेयः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

तस्य विद्यते भगवत्कृतश्रेयादि विधेय इत्यन्तम् । यस्यावयवैः । यदि भगवत्तः तत्फलदानं न कर्तव्यं भवेत् तदा तत्त्वसेवायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गति-
र्नभवति । तत्र यथा तथा प्रतिपन्नकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः । ननु स्वार्थसेवायां
तस्य भगवान् प्रतिपन्नं करोतु, परन्तु अन्यगार्थसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं
विद्यते तदा अन्यसेवायां कृता कथंति । प्रजादादिमार्गेण कृतापि कथंति ।
यतः सकलार्थेषु फलदाता भगवानेव । तस्य तत्कर्तव्यमेवेतीति तथा । यदा यत्ने
कृतेति प्रतिपन्नं भवेत् तदा यथा तत्त्वनिर्धारो भवेत् तथा कर्तव्यम् । तत्त्व-
निर्धारः कथंतिस्वादायां विद्यते निश्चयम् । आस्तुरोचं जीव इति । एवं तस्य
विवेकेन ज्ञानस्मिन्निरूपणेव साधनं मतम्, यतः पूर्वमातुर एव जीवः । यथातुरदेह-
सुकन्तेन्द्रियेषु कलविदेवजीवनात् भगवत्परायणो, यथातुरजीवस्यति यदाविदेव-
वशाद्वयवत्तस्येन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आतुरे भगवतो दातृत्वाभावात्
प्रतिपन्नकमेव साधने । यत्सेवायाम्भवेय फलम् । यदे'यामुदी योनिमाधना' इत्यादिनो-
क्तम् । तथापि भगवत्कृतसाधनसाधनं ज्ञानमार्गेण स्थितिपदा ॥ ४ ॥

यैवापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्त्वार्थकृतनिष्पत्तिं विन्तापि सर्वथा त्याजे-
त्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा विन्ता त्याज्या संसारनिष्ठायात् ॥ ५ ॥

विद्यते ज्ञानस्मिन्निरूपणे विन्ताऽप्यवयवैः द्वितीय इति । तत्र हेतुः ।
संसारनिष्ठायादिति । सुख पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्य निष्ठायात् सा न कार्या,
पुनस्तदाशब्दे एवेति सविस्तृतम् ॥ ५ ॥

ननु यथा द्वितीयप्रतिपक्षे पूर्वोक्तप्रकारेण बभूवुःश्रीवत्स तर्पणं फलविपक्षिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिपक्षेऽपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्कान्निरासनावाहुः न त्याज्य इति ।

न त्वयाद्ये दातृता नास्ति तृतीये याधकं गृहम् ।

आद्ये साधारणप्रतिपक्षे दातृता भगवतो नास्तीति न किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य क्रियञ्जन्मानन्तरनास्तित्वात् तद् भवति । तदपि प्रतिपक्षकं साधारणं निवारयितुं शक्यम् । तेन भगवत्फल एव तस्मिन् दातृताभावो, न साधारण इति शेषम् । अतो वक्ष्य आद्यफलदानार्थं मर्यादवाद्भीकारः तस्य तथैव सेवाकारणे साधारणप्रतिपक्षस्येदं भवेत्, यदा तन्निवारणेन सेवानिर्वोहात् पूर्वं साधुन्यफलं तदगन्तारं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । वक्ष्ये पुन्ये अङ्गीकारस्तत्र तन्निवारणेन तत्फलं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । वक्ष्ये पुन्ये अङ्गीकारस्तत्र तन्निवारणेन तत्फलं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवाभावेन सेवायाः साधनस्यमादयान् भवेदिति सा तथेत्यर्थः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवाभावेन सेवायाः साधनस्यमादयान् भवेदिति सा तथेत्यर्थः । साधारणप्रतिपक्षे दातृत्वं भविष्यतीति गृहानिरासाय आद्यफलत्वाभावात् इति विवृतम् । आद्यफलत्वाभावात् यथासाधये प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाप्यफलसम्भावनापीति न दातृत्वम् । सा सेवापि नाभिदेविकी, तत्र पूर्ववत्तत्त्वेति नाभिदेविकत्वम्, किन्तु विवृतिकृतत्वमिति महद्वैतसम्भवात् पुनः साम्यमिति शेषम् ।

एवं साधारणप्रतिपक्षस्य भवतामुक्त्या प्रथमपक्षे मर्यादा लौकिकभोग्यानासम्भवात्, तथापि भगवतो दातृत्वभावमाशङ्क्य तन्निवारणात् तत्फलसम्भवाद्, तृतीय इति । तृतीये लौकिकभोग्येति दातृता चेति न, यत् पूर्ववत्तत्त्वे इत्येव साक्षात् एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र तत्फलं साधने महद्वैतं तद्वैतमिति तत्त्वत्यागमिति शेषः । तस्याग्रे सर्वथा भोग्याभावात् प्रतिपक्षस्याभावेन तत्त्वत्यागमप्यङ्गीकारेण सेवानिर्वोहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः । एतदेव विवरणे विवृतं भोग्याभावस्तद्वैतेति ।

अथ कथमिहोपपत्तिरुच्यते । तथा हि । स्वार्थान्वेषयित्वास्तु प्रेमात्मकव्यसनान्तरक-
मकी कृत्यां कर्तव्यो, न तु साधनमपि । तदुक्तं कन्यासन्निधौ 'सव्यासवरणं मत्तो'
'अतोऽपि साधने मत्तो नैव स्वामः सुखाय' इति च । तत्र कर्तव्ये विपरीतफलमपि भवेदि-
त्यपि । प्रकृतौ तु तत्त्वमपि भोग्याभावात् सेवानिर्वोहात् च साय उच्यते इति कथमेक-
वाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

ततोऽप्युच्यते । प्रथमं स्वमार्गीयवक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा । सा सेवा 'पदे खित्वा
अप्यातृत्वा पदव्याधुपभावे न, प्रत्युत पुनःफलवादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वार्थतः
कारणे सिध्येत्, तदेव तदुक्तं भवेत्, नो चेत् भगवत्प्रतिपक्षत्वात् सर्वसामान्यं तस्य स्वाय-
च्छेदितः । अन्यथा तत्त्वमपि पुनःफलवाधुपयोगेन स्वस्य भगवत्सम्भवे कारणमिर्मज्जेत,
कदा सेवादभावे प्रेमात्मकव्यसनान्तरक्य वक्तिसिद्धि न भवेत्, तदभावे स्वमार्गीयवदि-
त्याद्येति न, तदभावे चलाभावात् एव च सादिति त्वार्थं एवोच्येत इति । ततोऽप्युच्यते

सिद्धये तथा ततोनासिद्धये च कथनम्, तदनुकूलवद्वद्व्याभिप्रायेणेति, न तथाभम-
सीकार, सेवाभावानुपपत्तेः, साधनमन्तो निषेधाय । एतदेवैव वत्पार्थदीपेति 'अति
कृते एव त्वे'दित्यनुकूलव्यावासाभिव्येष्ट्यान्ते त्रेमि जति शब्देति इतिवित्
मोगस्यापि कथकत्वात् तैरेव तत्रासे सति कतो यथा साधारणव्यतिपन्ननिवारणेन सेवा
अथ तदा न च, तथा तैरिक्तमोगत्वायेनापि निमित्तासेवाकृतये सति तत्कृत भवेदिति
हेतुः । तत्र पुष्टिमर्थादाया भवति त्रीत्यन्ताहलम्पुणादिमावेवेन येन भवेत्, न उदि
रीत्येति तादृशस्य तादृशेन्या कमेय सर्वनिष्कलाये, ततो तदाभावेन तदात्मकत्वा
श्रीकृष्णे साधुन्य भवेत्, ततो यदा दानेन्य तदा स्वरूपात् एवमुक्त्य तत्रानदाने तत्र
त्वात्तुमय कारविष्यतीति मर्थादादीकारे आघकलदानप्रकार उक्त । तदुक्त तदापार्थदीपे
'सर्वलोकेनन्यभावे कृष्णमादेवमानते साधुन्य कृष्णदेवेन क्षीमोव भुव कल'मिति
साधुन्यानन्तर एव कल तरेवेतिभावार्थ । यथा शुद्धशुद्धवर्गीकरत्वात् तदाभ्येन पूर्वाक
मोगादिप्रतिफलपदत्वायोगेनानुपपत्तेः शिवा सेवाकृतये भावश्रितैव प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो
यदा मेमासतिस्वसन्तानि भावात्मकत्वा दुष्टानि भवेत्, तदा तत्र शितो यत्किमिदो
सम्पन्नेत्यपि भावना इति तदभावेन तद्विगतभाववोपादिना पूर्वादिशुद्धमवार्थ सन्वास
निर्बपोक्तप्रकारेण परित्याग सम्पन्न आवरणक उक्त । सन्वास आवृत्तान भावान्तरसम्पन्ने
भावश्रित्याद निरहातुमवाभावात् फलमान इति । तत्तत्तत्प्राप्तभवे दशमावसथा प्रति
पन्थकदेहनिपुटी अतीरिक्तव्याख्या तत्कलानुपयो मर्थाति शुद्धिभावार्थीकृतये फलदान
प्रकार उक्त । अत्र एव मर्थादाया 'नदर्थ्यर्पपरित्याग' इत्यादिना योगाभावाद् मगवाप्राप्तये
च सर्वसमर्पनरूप एव साय उक्त, न तु सन्वासप्रकार । यत् सन्वासे तस्य पुण्याया
इतोपि तादृशेन सम्मोणे भवतीत्युक्तवाचकत्वात् । अत्र कले स सन्वास पश्चात्ताप
इति निषेधोक्तमिदं एव । अनेपि त्वयोक्तुमेति निरोधो भवतीति । सन्वासश्च तादृश
महापैवेत्युक्तम्, 'सन्वातावरण मका'मिति मर्थादपभेदेन विलिख्यमिद्व्याप्त कमे
निरोध इति ज्ञापितम् ।

एव मर्थाजपसेवाकृतभेद स्वाभेद च निरूप्योपसद्वन्ति अयद्वेषमिति ।

अनद्वेषेय सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं पूर्वाका सानुपपत्तिरुक्त्या मनुक्ति आवद्धा भाव्या, सर्वेय सदा,
भाव्या कौन्या । अथवा आवद्धा यवति साधनेन शर्तु न शक्यापि नयापि
भाव्या, साधनितु मनसि चिन्तयितु योग्या । अत्र एव नरं मरिष्यतीति सर्वेय
वर्तुत्वानुक्तम् । आवरणकले हेतु एतद्वत् सर्व मनोभ्रम एव न तु फलम् ।
मनुक्तप्रकारादिरित्यत्रये शर्तुत्वकलमात्रे न, प्रकृत मनसो प्रव एवैतर्था ।

ननु कथं मनः ? सर्वेयदेव निवृत्ति तदाह तदीपरपीति ।

तदीपरपि तत्कृतये शुद्धी नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसुष्टिरथ वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

तदीयैः दुष्टिमात्रेतिरिक्तदीयैः अमसम्बन्धिरपि कार्यं तदेव, सर्वलाभसर्वकं
मनुकरीत्यैव भयनं कार्यम् । न विमते चेत् तदा अज्ञानादय एव, न तु कृतम् । यदि
तदीयेरपि तदेव कार्यं तदा यः पुन्ये शितः कोऽपि मनुकजनसंसारोपायनित्योपायक-
व्यसनादिभाषणात् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विसम्भवेत्, मनुकजनसंसारोपाय-
न कुर्महि । यदि विसम्भवेत् तदा दुष्टिमात्रान्तरस्यापानाये विनाशोपसंभवेन भावसं-
वदात् फलाभाय एव भवेदित्यर्थः । यत्तस्यादृष्टस्य स्वरूपान्तरिरिक्तपदुपायसंसारस्यापि
फलप्रतिपत्त्यफलम् । तदेवाहुः गुणक्षोभेपीति । अयं भावः । तादृशदुष्टिमात्राविस-
म्भसंसारान्तरं विरहादुपसंभवे लभे कृते स्वरूपसद्व्यभिचारिण्युपायः प्रादुर्भादिज्ञानाभावेन
देहमात्रेन्द्रियाणां करणानि स्वरूपमकान्तेन भवन्ति, कतः विकलस्यासात्त्व्यादिकं
निरन्तरं भवति तदा तादृशसंसारं मध्ये कदाचित्तस्य भगवतीत्यनुनादिरूपीति भवेत्,
तदा मनुःस्थान्मयेव भावसंभवेत्यात् स्वरूपान्तरापो भवेदित्येव गुणक्षोभः पुन्यः कृत्वा
मनुःस्थान्मयकोऽविकारस्तस्मिन्नि एतदेव द्रष्टव्यम्, कृते प्रतिपत्त्यफलम्, द्रष्टव्यमिति-
र्यं कृतध्यानभावनेनोक्तम् । एतेन सीतागुणसंसारस्य पापकर्म कर्म वस्तुतः
मिथ्याज्ञा निरस्ता । एतदेव सङ्गतनिर्णये 'ज्ञानं गुणान्मे'ति पापकर्ममुक्तम् । एवं सति
यत्र स्वरूपगुणसंसारस्य फलभावः, तत्र यदादीनां प्रतिपत्त्यकत्वेन स्वावदित्तम्ये फलाभाय
इति किं वाच्यमिति भावः । यत्त एव सर्वथा बोधभावस्यापि एतेत्याशयेन विमुक्तानुक्तं
भोगाभावस्तद्वैवेति । अयं प्रमाणं मे मतिरिति । एतदेव तादृशप्रकारकगुणवात्
स्वमतिरेवोक्तम् । यदि यन्मतिप्रमाणत्वेन न एव कतिपयति यदि तस्य सर्वं सुष्टेव मति-
सीति भावः । यकतमे पापकर्मद्वयः कुसुष्टिरिति । यत्र एतत्प्रमाणसंसारोपाय-
नमनुकरीत्यैव कर्म किमिच्छादिरुक्ता कुसुष्टिमेतदुत्पद्येत वै विमतेन स भ्रम एवेति
य न कार्यसर्वः । कर्ममे सर्वसंज्ञानिरिति नियमः ॥ ७ ॥

एतद्विमुक्तयोः भवति विमुक्तो महारथैः ।

तदपि तदेव हि यत्तं यथा भावः सुखीकृतः कृत्वा ॥ १ ॥

सोऽपि तदेव वा नो जाते सद्विद्वत्प्राप्तम् ।

कृत्वा च मार्तण्डाद्येन ततोऽहं विमुक्तप्राप्तम् ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यवरणे सतोऽपि भावमेव यम् । विमुक्तो विकल्पे निर्ले तत्प्रमाणोऽहं भावना ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यपूजासेवाफलभिरुपपन्नविमुक्तो दिग्गोपी समाप्तः ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सेवाफलविवरणत्रयम्

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मनुष्यदिवात्मनः सेवा श्रीकृष्ण उवाच सुतः परिवारवर्तिभ्योः ।

शुभेत नो विपद्ये न च हते वदामाँ गो सेवाभाजनमय तदर्बन्धम् ॥ १ ॥

वदित्वैवमुवाचो दितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पद्मधनरा ।

यः सुखमोर्गियमसंशयमप्रापयत्य संक्षिप्य च प्रकराणि सुमन्तामीशम् ॥ २ ॥

किद्वान्तमुक्तावस्थादिपूजस्तु विपन्नेषु सेवाया कृतत्वेति तत्कृतव्यां इतिपन्पात्रं
वेतस्ततो विपकीर्तनेन तत उद्धर्तुमशक्यत्वात् स्यात् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं
प्रतिपात्तये यादृशीत्यादि, नीच्यत इति । तत्कृतं तु शेषनिगुणीकृत्य निरूप्या-
कृतं पापतः प्रतिज्ञैतिवत्, नलोक्तेरुक्तेति तु न शंसवम् । यतः कृतमेव प्रपन्नं प्रति-
पन्नकं तु तद्विपद्यकत्वात् साधनार्थं निरुक्तिमिति नन्वेत्यस्य न पदमवतिष्ठानम्, यत्त-

पानत्वेनानिरुद्धमात् । फलमिति पालैक्यपनम् । वाच्यं वक्ष्यपरिभा उक्ता सिद्धान्त-
मुपपन्नत्वादी, अक्षरमेव फलभावः शार्कः । स च एवम इत्येतादि निन्दया बोध्यः । त-
त्तिद्धौ तस्या पादवीच्यनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमात्र-
पक्षेण बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन वक्तव्यमन्यमनुपपन्नमित्यर्थकनम्,
तत्तु केवलप्रीतिरामिषायेव, प्रक्षिप्तप्रीदास्तित्वा तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं
योग्यम् । दुस्सोक्तमसौ च साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतापक्षेदपक्षेव परं गौणम्,
फलस्य ब्रूते एतत्पादप्रथमादुक्ते विवरणे सेवायां फलव्यपिति । अतीतिक्रमार्थम् तु
व्याख्येयसः फलदित्वायां सतीतत्वं इति श्रवणे ह्यनुपपन्नमर्थम् । अमानुषवत् स-
नसा तदप्यक्षीकरवत् । न प्रीत्येतन्मरीचि संनति, अक्षय्य मनसा सदेति वचनात् ।
तदर्थं च तत्प्रीत्यर्थमप्यतीतिक्रमं सम्यक् । तत्र संपाते अतीतिक्रमपातस्य विज्ञाने
वान्मन्दमयस्य श्रवणात् स्वर्गसंयम-पेक्षयावीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च सम्येकसंयम-
मित्याहुः अतीतिक्रमस्य क्षामे हि चाद्यः सिध्येत् मनोरथ इति । यस्तथैव ।
हि मुक्तव्यापमर्कः । 'यदेवैव कृत्यते तेन सम्य' इति श्रुतेः । 'यदेव विदित्ये'ति तु मार्गदि-
कसः । तथा चोक्तम् 'तैरर्थवस्तुमुपपन्नं ननुमा हि विशेष' इति । साधुत्वं सन्तर्पित्युक्ता-
नामिव भाष्यं फलम् । तत्र द्वितीयम् । बाधमात्रम् न च । बाधमात्राधिककरीणाधिक-
रम्, आन्तरं तु व्युत्पन्नमात्राधिकरिभिरात्रान्तरादिमत्येन अत्रुत्वेन च विशिष्टस्य फल-
मिव तथा । अत्र एव च निरालम्बस्य फलमिव तत्परत्वात् कैवल्यशब्देः । न च मत्तस्य न
तथा । इतिनोऽप्येव मत्तस्य दुस्सोचने तच्छादिते मात्स्योक्तः । एतच्च 'सीडधुते सर्वान्
कामान् सह' 'निरञ्जनाः परमं साम्यमुपैते'ति वाक्यार्थान् सम्पते । परं मत्स्योपेति तद-
नन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्यबोधनां कुलाख्येर्वाचीः कतिपयैवेति श्रुतिश्च 'न तत्तत्' इति
निषेधादप्येवः साम्बासंमत्वात् कतिपयैरेव साम्यं निमित्तम्, न च कतिपयैरेव धर्मैर्नाप्यत्र
साम्यं तदपेक्षयाव्यतिरिक्तं 'कुलाख्येऽष्टाशुपानवदि'ति सूत्रव्यपयोदनावामान्तरसाध-
कस्य 'दानीं त्वात्मन'द्युपपन्न एव साधनात् । श्रुतेः सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठ-
दिषु । सेवाया उत्र सतीति नोक्तम् । अतिरिक्तमित्यत्र, पक्षपादीनामिव । यत्तु सम्येकस-
माप्यपूर्णफलसाधनाधीनत्वेति साधुव्यपयोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमभ्यभाषा-
नारपक्षयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् फलकर्तृताप्यस्य भवेदिति नेत्याहुर्द्वैते फलं वा
वाधिकारो वा न फललोच्य निवाम्यम् इति । फलं साधुव्यम् । कतिपयतः सेवो-
पयोगिदेहः । यत्र एतद्व्यपयोः काले न विषयकः, फलस्य प्रतिपत्त्यो वा नेत्यर्थः ।
यत्र बाध्यं फलतदधिकारयोक्तमप्येति भाष्यसामर्थ्यात्तथोपपन्नम् । यत्र, बाध्यं नित्याह्वयवत्,
फलं वा सादधिकारो वा साधु । कालेनेति नेत्याहुः वाक्यपौरुषनिवाम्यम् इति । यत्र
एतयोः । उद्वेगः प्रतिपत्त्यो वेति कालं विवृणुतेति सेवायां प्रतिपत्त्यव्यपयव्यपिति ।

उद्वेकः सेवायां कियमायायां मनोज्ञमेरुस्त्रिरुता । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु व-
क्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धान्तं सेवायां दुर्निवार्यत्वात् यथायां साधनेत्यादिना तन्मात्रमी-
त्यादिभेदोपदिष्टं पाठकनमनोभेदं चरमेदिष्टमपि योग समिद्धितरत्वेन लौकिकालौकि-
कभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य साध्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना
निर्दिष्ट्य प्रतिबन्धभेदविधेयं वाहुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्सत्त्वं निर्दिष्ट्य द्वयं
विचरन्ते साधारण्यो भगवत्कृतश्चेति । तत्र साधारण्ये दुरप्यवन्धः, भगवत्कृतस्तु
उत्तम मार्ग इहा सदाकः प्रवृत्तातुष्टावविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रा-
गतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वाद् भगवत्कृतस्यापि वक्तव्यत्वात् तत्सत्त्वरूपमात्रं निर्दिष्ट्य साधारण-
माद्यनदेनोक्तिस्य सुखः स्यात् इत्याहुः । नात्रत्यं तु प्रतिबन्धत्वे, दुष्टिस्तु सेवाया-
मायतनस्य लौकिकैरेदिकभेदरत्वावस्थानसाधारण्यं, आनन्दकस्य तु भगवत्सरे प्राप्या क-
रणम् । निःप्रत्ययं महान् भोगः प्रथमे विज्ञाने सुदेवस्य व्याख्यातमलौकिक-
भोगस्तु फलानां गम्ये प्रथमे विद्यतीति । यत्तु व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात्
तदर्थमात्रकाशकत्वाचाशेषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपकः कृतः साधनतमेति ।
स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवाः । साधनं सम्बन्धतुमहः । निष्कालान्दमशानन्दानन्दैश्चया स्वरूपा-
नन्दसौलुह्यत्वात् । फले तु 'श्रीरुद्रो' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकतामर्थक्ये फले विद्यते ।
किमत्रपूर्णं किमपिशेषमप्येतत् । जायमान इति कियत्तादार्ज्यत्वा । विद्यान्ती विशेषण-
रानस्याप्रयोजकत्वात् तस्यापि विशेषणस्य संभवार्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारीति ।
एतस्मिन् भोगे नवतर्कादीनामविपाककत्वात् । अकर्तृत्वं भगवत्तः सर्वथा चोद्भूति-
महीत्यस्य व्याख्याने भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धत्वादा भगवत्तः कार्यं न दास्य-
तीति सन्नतक्यमिति । अक्षरार्थस्तु भगवत्तमेत् फलदानमकर्तृत्वं सर्वथा न तदा
गतिः प्रमुशतिः । अकर्तृत्वज्ञानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वन्तत्वापिच्छित्तसारि लौकि-
कैरेदिपदेर्दुष्टाकतनात् । ननु भगवत्तेजसिद्धी इत्येतेना भगवत्प्राप्त्या कर्तृत्वेसाध-
नमनुविनये तदानीमेति । भगवत्प्राप्त्यपत्तयेतरसाधनसाधनत्वेन अनुमहनाप्रसाधनत्वेन
च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहानिषयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधनत्वात् अर्ज-
केत्याह्वयः । अत एवोक्तमाहुरोर्षं जीव इति निर्धार इति । यथा या तन्म-
निर्धारो विवेकः साधने मतयेतत् तत्रत्य तदा ज्ञानमार्गेण स्वतन्त्रं को-
पतत्तावापेति । निष्क इति । ज्ञानमार्गेण जीवजन्मभोगभेदानां जगन्निष्कालज्ञानं नि-
स्तानित्यपसुविष्ट इहाहुनपत्तन्मोक्षितान् इत्यादिः । साधनेन चोत्तेन वा सिद्धिः, गीत-
निषदः, कस्मिन्मात्रमपि कस्मिन्मात् । कृते वा कन्तोनादरे । श्रोति न ज्ञानमार्गीया
मुक्तिरपि तु श्रीरुद्राया एतेसाहुः श्रोताभावापेतिषयेन । कर्ममेवमिति चेत्, निष्कपाया-
गुरी भोति वानपादिनि प्रदान । भगवदर्थिनः कर्म्येन निस्तानमुक्तिरम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपयमित्याद्यं च त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्यादुर्वाचकानां परिश्राम इति । परित्यागस्तु
 साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । अन्येनमर्थैकिकमोक्षसाधि त्याग्यत्वमागतं, नेत्यादुर्वा-
 चेत्येकं परं विहाय । कोऽपि त्याग इत्यर्थः । वाच्यत्वमिति वाच्यं कृतमन्वयव्याख्याय
 निष्पत्त्युद्भवमिति वाच्यस्य च नवीकिकमोक्षविवक्षादिना पूर्वमेव व्याख्यातव्यात् तत्त्वती-
 क्तमपि अगुह्य सविप्रोक्त्य इति वाच्यं व्याख्यानमुक्तमाप्तवन्ति साधारण्ये भोगः
 कथं व्यक्तव्य इत्याकांक्षायांमादेति सविप्रोक्त्यो घातकः स्यादिति प्रति-
 कृतदण्डम् । तदर्थस्तु सविप्रोक्त्यादस्यपत्त्याद्भोगस्त्याग्य इति । परलभ्येती सदा
 घातानिति वाच्यव्याख्यानं एकी सदा प्रतिकल्पकमिति । एते लौकिकमोक्षसाधारण्य-
 त्वमपी सविप्रोक्त्यादस्यपत्त्यादिविद्वेषताल्लेखकत्वात्तुक्ती । द्वितीये सर्व इति वाच्यं
 विवृण्वन्ति । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिपन्न इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिपन्नत्वमेव बोद्ध-
 व्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रे व्याख्यानं कृत्यं वाच्यं व्याख्यातुमपत्त्यारमणि ज्ञानसि-
 द्धभावे विन्ताभावापेक्षादेति । द्वितीय इतीति स्पष्टवत् न व्याख्यातम् । भगव-
 त्कृतप्रतिपन्ने वाच्यभावे संस्तेरवगमनमित्येव कृतान्तरस्यार्थकत्वात् तद्विषयिणी विन्ता
 नैव कर्तव्या, ध्वस्त्यदिदर्थः । नन्वात्र दातुता वास्तीति वाच्यव्याख्यानमायक-
 त्वभावे कथमत्र दातुत्वं वास्तीति । श्रुते आपत्तं प्रतिपन्नत्वमप्ये आपत्तम् । तथा चात्र
 उदेये वाच्यभावे सतीत्यपी बोध्यः । विवृता तु आपत्तत्ववत् इत्येव कृतमापत्तदोः प-
 रीतस्तुत्वं विभाव समस्तस्य आपत्तेन कृतीचातस्तुत्वे बोध्यः । आपत्तस्य अभाव
 इति तु न प्रतिपन्नम् । कृतमापत्तत्वत्वमेव दातुत्वाभावे सिद्धतासंभवात् । तथा च
 सेवायां किममानायात् वस्तु उदेये वाच्यभावे अनन्तवीत्यद्वयविद्विशीत्येवानी शी-
 तित्वाय कृतजनकत्वेन भगवतो दातुत्वायः स्पष्ट एव । प्रमेः क्व वा सतिमान्तेदे-
 यनित्यारणे वतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाजन्यविद्विशीत्युक्ते भवतीति । तृतीये
 वाच्यत्वं श्रुतिमिति वाच्यस्य वाच्यं सिद्धमिति । भोगाभावास्तदेष सिद्धमिति
 पदा गृह्यदित्याग इति । तथा च श्रुते प्रतिपन्नत्वमूलीयानेन तृतीयपदं बोध्यम् ।
 तदर्थमेतावन्निरूपितं तत्त्वयोजनमाहुरवश्येति । एवं परलभ्यी प्रतिपन्नत्वमपी आपत्ता,
 न आपत्ता, वाकिमाव्यक्तव्यप्रतिपन्नमिदृशोक्त्यवश्यमप्युक्तवत्, तथापि निरन्तरं वाच्य
 कृतप्रतिपन्नयोः सहेयताहेयत्वम् । अन्तिकेति किमिच्छत्यन्तरं प्रतिपन्नान्तरं वा प्रतिपानं
 स्यादिति नेत्याहुः सर्वमन्यव्यवनीक्षण इति । मोक्षपापादेः कृतत्वप्रतिपन्नत्वकथोर्य-
 म्वादिदि वाच्यः । तथा च 'क्षमाप्यवर्जनरत्येवपी'ति 'निकर्षं बबोलादिति'मिति च अकिमार्थीय-
 स्तेतदेव कृतम्, उत्तमकथ्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तमवसाविदेये कथं तारत-
 म्यमिति वाच्यम् । एतद्विन्न लौक्यपुण्ये । तथा चोक्तम्, 'यद्ये वापत्तुता निष्पेता-
 कर्तव्यकरीत्या । निद्वीपत्वं तत्त्वमेव बुक्तानामपि बोध्यते' । 'तुल्य अति लौक्यमिदं

कृत्वा भवन्त' इति च । सद्यः कैदाकरे । प्रमुसमर्षितादेहादेः फलनैपत्यात् न केनैत-
द्भाष्यमिति नेत्याहुः नवीर्यैरपीति । तत्प्रतिपन्नत्वमप्यस्य फलमप्यस्य च भावनं कथंम्, पु-
ष्टिर्भर्तादात्म्यस्य साधनद्वारेण फलनैपत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चित्कालोनेत्यारम्भे तुषां
वर्षे त्वेव सर्वत्र परिपन्तीति न ज्ञातुं क्षमम्, यत्ने भवदिया तद्व्यवस्येव सर्वेषां क-
र्तव्यत्वेन शेषमिति दिवित्यनेन । न 'चलं बुद्धिस्त एवेति वाच्यम् । तस्य फलमित्येवा-
रम्भवादिति आहुः पुष्टी वैच चित्तमप्ययेदिति । फलं प्रभुरिति शेषः । एवं सत्तरत्वात्
मसां परस्परतामिमपनोद्वेकनिमित्तमनःकेदेभि फलदात्ममेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे
विषये जायमाने मन्त्रोपनिबृतेः । श्रोतव्यार्थं फलविरलभादेव, नान्यस्तात् । अतस्तत्प्राप्ति
नान्यत्साधनं, किन्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः शुणक्षोभेभि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मति-
रिति । ननु भगवदीयस्य फलापसंभावनिवमात् फलनिरूप्ये च भगवदीयत्ववैप-
र्यात् प्रतिबन्धानामन्तमेव एव, तदर्थैतद्विरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, एवं नाशंका, नहि
तु सिद्धान्ताद्योपपन्नजन्यत्वा क्लृष्टश्चिरमेवाहुः क्लृष्टश्चिरं वा क्ताश्चिरुत्पद्यते
स वै भग्न इति । अत्रार्थं तु स्वतन्त्रेण्यस्य प्रयोपेतनैविष्यं विना लीलाशुपदेवैविष्य-
त्वापस्यपान्यतया सर्वोदाशुपदेवतोषत्वात् तद्व्यवस्यस्य च श्रुतिव्यक्तफलमिदम्भावाभावरि-
हायत्वात् तस्य तथा निरूपयमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तान्वयोपविमुक्तिव्याहृष्टुष्टी
नैव निरूपयैदित्यादिनोपपेयर्षोक्तयोः स्मृतिः ।

पुण्यवनवासपञ्चलपिण्डविभूतचन्द्रचन्द्रवर्तीसमवर्तीसहस्राध्यायः ।

रापागनेन्दुमुखापुताभमशो नन्दस्यजो हृदि दगौहृत्तमे स मेडस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीविद्यापलनीया ।

श्रीहृष्याय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

बलभक्त्यार्मबलयाः प्रसीदन्तु कदा मयि । कदाभक्त्यावभयेऽप्यदिलाः मुक्तिमिदम् ॥१॥

वसन्तीशरणकपार्थः शतोज्ज्वलाशरणम् । सेवाश्ले हिमर्षं वत्सलया वत्सलाश्ले ॥२॥

अथ श्रीकृष्णार्चनविधिरिति केनोक्त्याह—प्रकृतं तद्विस्तृतं चैव टीकया सहितं
शुभमस्तु त्वं विनियते । ग्राह्यमिति । याज्जी सेवा कथा सुकृतसेवासाधनीमूला तद्वि-
धा मिथ्यास्तुत्यादित्यदिषु प्रसंगेषु ता तत्तः सिद्धीं परिपाद्यद्वारा इदामुन च व-
स्तुत भावि तदुपपत्ते । अथ कृतमिति बालविधायेनेकवचनम्, तेन कृतमवशुक्तं य-
थेति । तदेवोक्त टीकयां सेवायां कृत्यवधिरिति च । यन्महात्मा ह्य सेवाया विमर्शं
कृतमव यथ मरिगुणैर्मिति चेत्, इत्यम्, भगवानस्मिन् मरिगुणैः सुखयुक्तिर्भावा-

[illegible]

यः । अथ बाहुभिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं कृते । अत एव नि-
 यन्थे विहितमन्त्राणां साधुसमुत्पत्तिं, परमफलत्वेन, अनिहितमन्त्राणां शौचिकादितुल्यानां भव-
 नानन्दरूपमेव । फलदेहिभ्ये कथम्, सर्वोत्तमफलदितरभावसम्बन्धप्रदाकर्तारतम्यज्ञापनमेव ।
 अथ कथमिदं हिताफलमस्य द्विविधत्वे लक्षणीयं चान्वेत्येव वा मिश्रमन्त्रा कारणा-
 मित्येति वदति चेत्, तथाहुः अलौकिकस्येति । इदं फलवक्यालौकिकं भवति, अत-
 स्तद्व्यपत्तिर दीपते चेत् शम्भवे, नान्वयः । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति,
 इत्येव साधुः । तद्व्यपत्तिरद्वयस्य प्रत्येकं सूत्रम् । ऐदिकफलेति देहिभ्यमाहुः आद्य
 इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथस्य सिध्येत् । अथमर्थः । यथा साधुस्य क्वचि स भाग्यो
 दुःखः अधिकारिभ्यस्तत्फलसाधनसंयुक्तो भवति । यथा दुःखः साधुस्योत्तमसंयुक्त-
 रपरसाधुस्यो भाग्यो तस्य संन्यासनिर्णयोत्तमकारणविविधवैकल्यादिसाक्षात् परमाति-
 रूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । अत्यय इति कृते मत्स्यसुक्तो दास इति वाच्यः । तथाच
 माहात्म्यपूर्वकेन तदासमाधुसुक्तो भवतीत्यर्थः । अथे पूर्वम् । एवमवन्तःफलद्वयं
 निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं साधुस्य वा दुःखसंयमस्य । अधिकारा
 सेवीपरिच्छेदो वैकुण्ठसिद्धिः वा । अथ वैकुण्ठस्य लोकादेशमसिद्धिभिमिदेन ।
 वस्तुतस्तु महात्मके स्थापयति । तथाच 'यस्य गान्धे मृगिहः अवासा' इति
 श्रुतिनिरूपिते परमभेदे दुःखाधिकाररूपसाधाद्वयनामन्दलुभययोर्मन्त्ररूपावतिरूपः ।
 सिध्येदिति सर्वसाधुप्रज्ञः । आदिपदाद् गवैर - साधुत्वात् सुविपुलसंयमसंनिध्यं
 तस्य सेवां कुर्वन् सिद्धीति ज्ञानितं भवति । यथा । आद्य इति । आदिपदेन अ-
 ग्रिमफलधिकारनकचित्तोत्थमा प्रापयितुं सपोलुभ्यमानं जन्मोत्पत्ते । तत्सम्पन्नी यो
 मनोरथः समाधिकारमग्रिमफलविषयकानिष्ठारूपः स सिध्वातीत्यर्थः । यत्नान्तरे तु पूर्वी-
 र्यम् । इत्येव सर्वमर्थस्तुल्यभावात् दीयमानसुखलौकिकसामर्थ्यमिति । साधुस्यप्रार्थ-
 नविनामीकसाधनसमर्थविरूपं स्वरूपप्रापके तद्व्यपत्तिरप्युक्तारूपं चेति । अथ साधनरू-
 तपोः सम्पत्ती साधनार्थद्वयो निवामका मविभ्यन्तीत्याद्युक्तानाहुः न फालोऽयेति ।
 सर्वोत्तमत्वाद् फल एवोक्तं । तेन मन्त्रदिन्यामतिरिक्तं फलेति न निवामक इ-
 त्युक्तं भवति । तद्वयं सन्तर्द्वयमितं मन्त्रिभ्योत्तमस्य तद्व्यपत्तिरुत्तमं साधनान्तया
 सिद्धिज्ञानाय मन्त्रे फलसामर्थ्यादिकम् । एतेन इति । तस्य विवरणं सेवापामितारम्भ
 योगो वेत्तव्यः । एतद्व्यपत्तिरपि साधनमिति । यथा तदनुसर्गविषयति तथा यत्नीयवि-
 त्ताद्यः । यत्नु तदेवमतिप्राम्थ्येकं कमेव मनोकन्धत्वात् वैराग्यत्वात् शुद्धादिनिर्वा-
 क्यतावयवपरिहारायो कथं साधनम् इत्याद्युक्तानां व्यपप्रकारमाहूयते साधनान्तर्वा
 परिहाराय इति । तदीयं यथासां साधनपरिहारायः कर्तव्य इति । सिद्धयेत् व्यक्तुम-
 चाया एव । अतस्तत्साधनरूपानां तामे तदनुसर्गविषयतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं स्वा-

न्यासाभ्यमेदेन द्विभ्यवधीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं न्यासपञ्चमस्तुत्ररूपमाहुः अ-
कर्त्तव्यमिति । व्याकृतिः भवन्त्युक्तमेतत् प्रतिपन्न इत्यारम्भ निषेध इत्यन्ता । सर्वेषु
पक्षार्थं सर्वेषां भवत्वात् कर्तुं चेच्छति तत्र यादुकिज्योदेवं जीवैः दृष्टाद्योपायैः प्रवृत्ते कृतेति
प्रतिन्यपरादित्यर्थेकं तत्कार्यं न विध्यति, तदा समस्तज्योदेवं प्रतिपन्नोऽयमित्यर्थेयः ।
तदा भवत्वात् फलं न दास्यतीति वन्त्यम् । तदा अन्यं तदनन्तरं कृत्वा वा येन सा
ज्या । यतः पञ्चभूतानां । तदा किं कर्त्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदर्थं परिच्छेदना-
द्येव यत्तदर्थो वा जीव आसुर इति वदन्ति निर्धारं ज्ञानमार्गेण वेदोक्तैः सेवम्, तत्र मन्वेष्टान्
प्रवातः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्नोति इतिरूपवेदाभावात् इतिः सर्वं निवेष्ट-
यैव करोति कर्त्तव्यति अस्माद्धितेन निषेध कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्रासुरत्वमपेक्ष्यत्वं
येनम् । अन्यथा सार्वभृत्तस्य ज्ञानाप्रवृत्तिरित्येव श्रीमदाचार्यास्तथा कर्त्तव्यत्वं
नोपदिशेयुः । तेनानुरक्त भवेत्तद्विज्ञानमेदेन द्विभिर्भवेत् । द्वितीयमेवेत्यर्थं
द्वितीयेत्येव । अन्यथा पूर्वं निषेधः साधनं सर्वं इत्युक्तम्, नये सर्वेषां पिना
त्यामेति वदन्ते तेनान्येन विप्रदायकमर्थमेव वदन्त्यापातः प्रसज्येत । तथा च स-
र्वेषां भवत्वात् परकर्तुं चेच्छति तस्यापार्थक्यमेतिर्यमपदीयद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो
भवति तदा कृत्वा सर्वेषां अस्माभ्यन्ते ज्ञाने तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु निषेधपूर्वकं
कोपमित्यर्थः । नन सान्यासस्याभ्यमेदान् तत्त्वकृत्तानि न विविच्य प्रकटनस्तुः भोगे-
न्यैकमित्यादि तृतीये पात्रार्थं गृह्यमित्येव । तद्व्याख्यानं भोगो द्विभिर्भवेत् इत्या-
रम्भ आह्वयपरिच्छाति । अर्थस्तु भोगप्रतिपत्तौ लौकिकालौकिकमेदेन साधारणमन-
स्तुत्रमेदेन च प्रत्येकं द्विभिर्भवेत् । तत्र लौकिके भोगे सान्त्वयित्वा यमेष्टं सर्वेन्द्रियकर्त-
व्यदिरूपः । स सर्वेषां सान्त्वयः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'सावनिन्द्रियकर्त्तव्यं', 'विषया-
मानन्देहान्'मित्यादिवाच्यैः । साधारणप्रतिपत्तौ नैवर्गिकापासासप्तसादिरूपः, सोमि
तथा । एतदा समस्तमनसिप्रातिप्रतिपत्तौ नैवर्गिकापासासप्तसादिरूपः । तदुक्तं
'तावत्कर्त्तव्यं कुर्वति' 'मत्कर्त्तव्यं कुर्वतां पूजा'मित्यादिवाच्यैः । ननु तर्हि
पलादिशास्त्रमनवैषम्यं स्यादिति चेत् । न । पलां पुच्छोपपुच्छ टीकापात्र । लौकिकपदा-
नैवर्गिकप्रतिपत्तौ । तदेव गीतापात्रार्थं 'सत्ता कर्त्तव्यमिदं' इति । अन्यथा तत्प्रतिपत्त-
कारणकमेव फलं स्यात्, नैवर्गिकप्रतिपत्तौ । अस्माद्धितेनान्येन अस्तुमात्रस्य समस्तपु-
त्रोमे तदपेक्षिते च ज्ञाने तदवसादनेन सोमयोऽदिरूपः, स न सान्त्वयः । यतः स
भोगः कृतानां मन्वे प्रथमकृतेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रतिपत्तिः, तद्वर्त्तां यद्योति । यद्य-
वाप्यन्योपपत्तौ, साधनं सान्त्वयः । तदुक्तं 'त्यजोपपुच्छमन्ये'त्यादिवाच्यैः । 'यत्क-
रोति वदन्ति' 'कानेन पात्रं मन्वेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्मोक्षं यथाकथंविन् कर्त्तव्य-
तामुक्तं । द्वितीयो मन्वेन्द्रियप्रतिपत्तौ, स सत्त्वकः फलतश्च पूर्वपुत्रादितः । नन्व-

सामर्थ्यरूपं कलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्याद्वा इमे सति तदुपनिवृत्त्या-
सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः समान्मया सेवया मानसीहेतुया सिध्यत्येवंरूपः स सिध्येत्,
अत इदं फलमद्वयमुच्यते । अथवा साधुत्वं फलमद्वयमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयो-
ग्यधिकाररूपदेहोद्भवत्वं फलमुच्यते । यत एतयोरेषा इमे प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्,
नान्यथा । तस्मादेतयोरेषा मानसीहेतुयावाच्यमूलत्वात् । अस्मिन् फलप्रये काले न निवामकः
संसाधको न भवति । यतः पुष्टिवाचीषदेववीये मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेतत्फलमवश्यम् ।

एवं मानसीसेवावाच्यमूलत्वं फलमवश्यमुपपाद्य मानसीसेवार्थां प्रतिबन्धकव्ययमुप-
पादयन्ति सेवापार्थं प्रतिबन्धकव्ययम् । तदेव निवृत्त्यपन्ति उद्वेग इति । मानसी-
सेवार्थां तु उद्वेगः पापकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः पापकं भवेत् । भोगो वा पापकं
भवेत् । एवं पापकवर्षं सेवार्थां प्रतिबन्धकव्ययम् । तुल्यदोषव्याप्त्युत्तर्यम् । पापकान्तां
परित्याग इति । पापकव्ययात् साधकपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिक-
कोऽलौकिकश्च । द्विविधेति भोगे एकं लौकिकभोगरूपं पापकं तथा ज्ञातम् । अपरं
क्षीप्यमलौकिकभोगरूपरूपं निष्पत्त्युद्दि निर्विशं भगवत्येव निर्वाहम् । स अलौकिकभो-
गस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भववत्प्रज्ञात्मा । फलमवश्यां गन्धे
प्रथमं फलमलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । यतो न सत्तु योगः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः ।
साधारणो जगत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धप्रये जायः साधारणः दुःखा उपपन्नो ज्ञातः ।
भववत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धकदा भववान् फलं न दास्यतीति गन्तव्यम् । तदेवाहुः अक-
र्तव्यमिति । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वेन्द्रियेण गतिर्नहि ।
फलं नेति नियमः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रति-
बन्धनिवारणार्थं कृता वा भव्यदेवतासेवा छानि न्वयी । अन्यकलराहणमपि देवानां
भगवत्प्रीत्यायां भगवत्कृतप्रतिबन्धनिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भागवत्कृतप्रतिबन्धसादा
वास्तुयोगं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो देवः पुष्टिवाचीयजीवनम् सेवादिना प्रती-
कमानोभ्यासुर इति निर्धारः । देवजीने भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवत् । ननु यदा चरित-
मार्गीयमजने भगवत्कृतप्रतिबन्धकदा जीवमानाश्च तेन किं कर्तव्यमित्याशङ्क्यामाहुः
तथा चेति । तेनानादरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तव्याख्यादिना अन्येनापि येन केन-
चित्प्रकारेण तद्विनिर्धारः साफल्यनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य निवेकः प्राप्तं संभक्तम् ।
निवेकस्वरूपं तदेव निवृत्तं तदा ज्ञानमार्गेण स्वतन्त्रम्, लोकाशास्येति निवेकः । यदा
चरितमार्गीयमजने भगवत्कृतप्रतिबन्धकदा जीवमानाश्च ज्ञानमार्गेण यथा स्वातन्त्र्यमिति
निवेकस्वरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं स्वतन्त्र इत्यार्कश्यामाहुः । सविमोल्भो
पापकः स्वादिति । सुविमोल्भस्य स्वादिति स्वातन्त्र्यमिति साधारणो भोगस्तथा ।
स्वादेति सदा मती । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगद्वयम्-सदाप्रतिबन्धनी संसारत-

[illegible]

इति श्रीसेषाफलविश्रुतिप्रकाशः ।

निविद्यमुल्लासी पशुरेवेति न्यसेन साधारणो भोगः किमर्थं लक्ष्यः, तथाहुः सचि-
तेति । अत्र दीक्षा सचिप्रस्तादादिप्रतिबन्धेनान्ता । अर्थः सचिप्रस्तात् बहुलरागवत्यात्
तथापि साधारणः साधारणः स्वतन्त्रात् साधारणेन तान्त्र्य एवेत्यर्थः । तन्मय साधारणमो-
दमनवस्तुव्यतिरिक्तं प्रसन्न फलसाधनमस्ति । यतस्तौ मत्तौ संमत्तौ न, प्रतिबन्धक-
त्वाद् । अथवा मत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन संमत्तमित्यर्थः । तत्र तयोरेकः स्वाध्याप्यत्वात् तान्त्र्य
एव । इतरोपाध्यत्वात् मन्त्रोदात्तात्वेन त्वित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'महृषि च
निवृत्ति चे'त्यादिमन्त्रदानेनः सहसाशुरेषु मन्त्रोदात्तामिति साधारण्येन न सिध्यतीति
ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानुत्तं तेषां कार्यममाहुः द्वितीयेति । द्वितीये वापके साग-
रकप्रतिबन्धे, यस्या द्वितीये आध्याप्ये सादृश्ये जाते फलविषयिणी भिन्ना साधनान्ये-
कं न कार्यम् । यतः फले तस्मैतन्मात्राधिकं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने
आहुः संसारादेति । तन्मन्त्रिणस्तोऽस्मत्कालकः संसार एव भवति, यत्नेन तदनुसारैव
फलम्, नाप्यदपीत्यर्थः । नान्यन्तसाधकत्वे द्विरुक्तं निविध्योक्तं नस्तदिनेतत्कृतः ह-
त्वाहुः मत्तवाच्य इति । तद्वीक्षा आच्य इति । वायो वा फलसामागौ पस्मादिति फला-
वाता प्रतिबन्ध यदेन इति वाच्यम् । स यवति सादृश्यदुःसाङ्गतत्वेन निविध्योक्तिं त-
द्वाचनं पितृशुद्धभावेन कदाचित् साधर्म्यलाभमिन्द्रादिकमनि भवति, तथानि द्विविधेति
साधारणं सर्वान्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिद्व्यापिकं भवत्येव । यत-
स्याम यवतोऽनुगतत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्तु निमित्तमवस्थान्तोऽस्तु फलमुत्पन्नं भव्यं वा
भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निषण्णे 'अत्रापि वेदकिन्दापाद्यपर्यंकरणादया । नरके न भवेत्ततः
किन्तु क्षीणेषु सापये । पूर्वोक्तसाधारण्यं नस्तप्येत्येव जन्मनि' इति । तर्हि तद्यस्य
किं भवतीत्यात्मसाधनमाहुस्तर्हि । तदा तनुविषया भेदा बाधिरिति न भवति ।
यत्नां कदा कदाचित् साधारण्यरूपास्तुतः सर्वदा कृतज्ञभावे परमातीत्य विवता तावती
साध्यते न यवतीत्यर्थः । अथ त्वेतिभक्तोक्तसाध्यकारमाहुः तृतीय इति । तस्याकृति-
मौलमान इति । एदे तस्मै तदधीनत्वात् कोति तस्मै भवतीत्यर्थः । अथ कान्येसाध-
यतिशङ्कान्यात्वा श्रीगदाधरैवमुता न लभ्यत इति तदसाध्यत्वे । एवं सेवा सदा
नवस्था जीवन्मुक्तसाधयेति साधनीया । अथमाद्योऽयम् । तस्याः कृती सत्यं चतुर्वि-
धत्वे जाते कृताभ्यस्तुत्यस्य भवतीति यवत्वेन सर्वं भारं निश्चिन्त्य तदिच्छेदेन सर्वं सम्प-
द्यत इति निमित्तं तत्तत्तथा कैवलिनि । उदुक्तं 'नयनये वा मुञ्चये चे'त्यादिवाच्येः ।
तददन्त्यमवस्थां नयना मनोद्वयमुत्था । यदा । एवं सेवा सदा अवस्था, जीवन्मुक्तसाध्या
माप्या च, माध्याम्यनिवृत्तिं उत्पद्यता च ज्ञेयेति शेषः । यत्तस्मादन्त्यजीवसाध्यत्वविषयिणी-
मत्तज्ञानं मन्त्रो प्रथः । इति संक्षिप्य सेवासङ्कल्पसाधना उक्तम् । एवं साध्यमुत्पत्त्या
तस्या एतत्त्वसंगतैव ज्ञानं मनोवतां साधनमस्ति तदीयैरिति । अथानुसारैव मतीय-

मानोपनिषद् एतत्प्रकारमज्ञानविहितमस्ति । तस्यापेन ज्ञानपूर्वसि तन्मदुक्तमेव
कार्यम्, नान्वदित्यर्थः । नन्वन्तर्मात्रेण यथोक्तकरणं शुक्तं, लोकलेदानुसारिणात्, न तु
शुद्धशुद्धे, लोकलेदानुसारिणात् । अतस्तत्र यथोक्तकरणे नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः
शुद्धाविति । एवकारेण विचारान्तराभावात्पूर्वकमन्यकार्त्तमत्वं सूचते । तथा च शुद्धि-
कारेण एतदुक्ताचरणे विद्यमाने न कार्यः । अतस्तत्र मायाकार्यशक्त्यान्मयोक्त्यर्थः, तदेव च
निर्वेदति । तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्वया । अतस्तत्पक्षेण दुक्तकरणे सर्वथा
विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्प्रतिपत्त्यन्वये तत् सोऽहं सेवमिति, तत्र
शुक्तम्, अतस्तपोऽन्यथादेहविपत्तादिविरामदे कियमाने देववत्तादेरिवास्यापि प्रतिशा-
सकत्वं यद्वान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः शुद्धेति । शुद्धाणां सत्त्वादीनां शोभेऽतिशयान्त-
र्भावोऽनेनोक्तो यथोक्तं शुद्धाविषयेन कोषमदस्तात्तार्थोदिकाराद्यन्वयेन सामानिकं समस्तं
यदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । इत्यन्तर्मात्रेण ज्ञानं दृष्टा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रज्ञानं मे
व्यतिरिति । पूर्वं वदामि तत्तार्थं समुपमावपकृतकृत्यम्, करीवार्थं निर्गुणमात्रा इति
तैवेदुक्तमेव विधेयम् । तथाज्ञानमन्यथाज्ञानं च वारयन्ति कुमुदितिरिति । तत्र यदुक्तं
या कुमुदितिरुवादादिरुवादेन स मे विद्यमानेन ज्ञेय एव । श्रीमद्वाचापौनदिरुवादेण यत्त-
वासावन्तर्मात्रेण तद्वत्करणेवेति विदुः ।

इति श्रीसेवाफलद्विष्यणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

अथान्यं पुरिमाणीये राक्षसं पातयेत् यत्तु । सेनाकालम् निवृत्तिपरायः मित्रो भवति ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यः इतिभार्यैदेवजीवानां मानसीसिवादिज्ञानवृत्तं फलवत् प्रतिप-
त्त्यकत्वं तद्वर्णनं च प्रतिपादयन्ति शेषाचार्यः फलवत्त्वमिति । मानसीसिवादिज्ञानवृत्तं
तदुपनिबन्धनासेवाशब्दं फलवत्त्वम् । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वेन्द्रियाणां मन्वत्त्वतात्पर्य-
त्वेनैव फलम् । सामुज्यं च तदुपनीतिं वस्तुम्, तदुपये वाचः सामुज्यम्, अज्ञानमा-
नान्तर्गदेदवस्थितेन निमादवासेनाज्ञानवृत्तौपादितवृत्तैः मन्वत्ता तद् वीर्यः विज्ञानं
फलम् । शेषोपपद्योमिदेहो वैकुण्ठादिषु । यच्च वैकुण्ठमज्जदिषु बाधात् शेषोप-
पद्योमिदेहव्यापदेहो मानसीसिवादिज्ञानवृत्तौपादितवृत्तैः फलम् । एतत्फलवत्त्वमेव सार्य-
कत्वेन प्रतिपादयन्ति पादचर्यादि । यावत्प्रवर्तित्वा मानसी सेवा 'या वाविद'श्रित्तादि-
वाच्यैरेववत्ता सेवा प्रतिपत्त्यवृत्तम् । यच्च विना यच्च संभवति तदवस्थितेतावत्त्वमीदृक-

परिशिष्टम् ।

४४म्	पङ्क्तिः	पाठाः	पाठान्तरम् ।
५	३९	सद्विषयकः	सिद्धिविषयकः
६	८	दर्शनेनेषाणाम्	दर्शने सेनाणाम्
६	२२	बलीकिकसाधन	बलीकिकयोगसाधन
७	५	द्विषिष इत्यनन्तरम्, त्रीनिकोऽतीकिकम् । तत्र त्रीकिकसामान्य	एव । प्रतिपन्नो द्विषो ।
८	२५	इत्यादयः	इयथा
१९	३	प्रपन्नसम्भवेन ।	प्रपन्नासम्भवेन ।
२२	१९	तद्वैषम्य-	तद्वैषम्य-

अथैकमदोषाभिनां टीकायाः पुनरानन्तरं प्रमुक्तपञ्चास्यभिस्तेषां टीकायाः द्वितीया भविः प्राज्ञः । सा टीका अथैकमदोषाभिभिः पुनरिद्वितीया, इति प्रतिभाति । तन्मध्ये तैः प्रपन्नटीकापेक्षया केचु केचु स्थलेषु किमिदं किं दधिकं दितितितम्, तदप्यत्राप्यत्रां विज्ञासा-
त्तुमर्थं अन्तराध्यायार्थं पाठनायेति ।

४४ २३, पङ्क्ति १२, सर्वानोपयोगिपदानन्तरमिदमधिकं वाचनीयम्—‘फलरूपापीर्य
भगवता साधनामात्रादिति वैकुण्ठे निरूपितमन्त्रोऽतीकिकम् ।’

४४ २३, पङ्क्ति २४, सेवोपयोगिदेहो—इत्यनन्तरं ‘इति यस्त देहस्त
सेवापयोग्योपयोगः, अन्यदादयः अप्रकृता एव स इत्यर्थः । यत्र सारूपानन्ददानम्,
तत्र फलप्रदानम्, यत्र धर्मसुखानन्ददानम्, तत्र फलप्रदानम्, यत्र
साक्षात्प्राप्तेन धर्मसुखानन्ददानम्, तत्र सेवोपयोगिदेहमात्रदानमिति ज्ञेयम्’ इत्यधिकम् ।

४४ २३, पङ्क्ति २७, तन्मध्ये—इत्यनन्तरं ‘इत्यन्त्येव फलरूपात्मनिदेहनसम्भ-
वात्तानि ज्ञेयमिति’ इत्यधिकम् ।

४४ २४, पङ्क्ति ३, मोनाः—इत्यनन्तरं ‘यस्यद्वययोगिवस्तुपराध्यायः प्रति-
पन्नकल्याणादाय पर्यन्तुनायेतिस्तेष्वन्त्याख्याः सर्वथा भगवन्नामपन्नः भगवन्दायां
ज्ञेयः । यद्यप्येवमुक्तं भगवन्नुपयोग्येतीति पाठः । नवरत्ने विरोधेरेगमित्यस्यापेक्षे निरूप-
यत्तानि ज्ञेयम् ।’ इत्यधिकम् ।

४४ २४, पङ्क्ति ५, मूलार्थः—इत्यनन्तरं ‘तत्र इयं साक्षात्प्राप्तः प्रतिपन्न-
रूपः, एतं च तदापारम्भ साधनस्य साधने साधकमिति भेदो ज्ञेयः । साधनार्थस्य
साधकपदेन साधनार्थोऽसौ दुर्भेदात्तन्मन्त्रे साधनार्थं बोधयेति सिद्धयेति यावः । नवरत्ने

तद्वानिर्गुणत्वाविनेदन्पदार्थनाशमायेति तदापस्तु स्वादिति तुल्यम् । तेन जन्मान्तर-
व्यवधानं भवतीति निष्पत्तेः निरूपितमिति भावः । सामर्थ्यमापद्य तदेतुभूताभ्यासमायेन
सेवान्मत्या भवतीत्यर्थः ।' इत्यधिकम् ।

श्रु २४, पङ्क्ति ७, लौकिकमोक्षानाम्—इत्यस्यानन्तरं 'वाचकत्वात्तत्वापनपरि-
त्यागः कर्तव्यः । मनोदेहेन्द्रियाणि च भगवदसम्बन्धिषु न स्वर्तनीयानि । तथा सति तेषां
तत्परता भवति 'विपद्यान् व्यापतधितं विषयेषु विपद्यत' इति वाच्यमिति भावः । साधन-
परित्यागं निवृत्त्यतो' इत्यधिकम् ।

श्रु २४, पङ्क्ति १२, शेषः—इत्यस्यानन्तरं 'लौकिककल्याणम् इति । किञ्चान्त-
रहस्योक्तप्रकारेण यथासम्भवं भगवदुपयोगं सम्पाद्य शेषः कर्तव्य इत्यर्थः । प्रतिपन्नम्
इति । भगवत्कीर्त्यादिना हरिभेदद्वयं निर्विकले तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । एवं जाते
तदा परर्पितरचनाप्राप्ता तनोरन्वयस्य साधारणः प्रतिपन्नः । किमप्येति भगवत्कीर्त-
नादी हरिभेद निर्विशेषताम्पातो न भवति । तेन जाता तनोरन्वयपता या ह भगव-
त्पूजाप्रतिपन्नः ।

श्रु २४, पङ्क्ति १३, निरापनीयेत्यर्थः—इत्यस्यानन्तरं 'तुष्टिर्वा तप न स्वाप-
नीया । पराकरनेति तदनुचितान्न न कर्तव्यमित्यर्थः । लौकिकमोक्षो न स्वाप्य इत्या-
शयेनाहुः अनौकिकेति ।' इत्यधिकम् ।

श्रु २४, पङ्क्ति २०, प्रतिपन्नः—इत्यस्यानन्तरं 'श्रुतं गता भक्तिः पुनरेव
शिवेति चतुर्थस्कन्धे निरूपिते तवाद्याम्प्राप्तौ नेत्याहुः तदेति' इत्यधिकम् ।

श्रु २४, पङ्क्ति २२, पोष्यम्—इत्यस्यानन्तरं 'अनु दुरच्छतामार्थं ब्रह्मापनी-
पयेति कात्यायनीयद्रुतिरुक्ती सुमोषिन्यां निरूपितम्, दुरच्छतं भगवत्पूजाप्रतिपन्नार्थं च
तमेव निरूपितम् । यदि भगवद्भिन्नमैवेति । क्षेत्र्यामप्येतदनुमुनां करिष्यतीति च ।
तथा च कथमन्येहानिषर्म्ममिलन आहुरप्यिति । क्षेत्र्यामप्येतदनुमुनां करिष्यतीति च ।
तथा च कथमन्येहानिषर्म्ममिलन आहुरप्यिति । क्षेत्र्यामप्येतदनुमुनां करिष्यतीति च ।
तथा च कथमन्येहानिषर्म्ममिलन आहुरप्यिति । क्षेत्र्यामप्येतदनुमुनां करिष्यतीति च ।

श्रु २५, पङ्क्ति १७, वाचकत्वाप्राप्तम्—इत्यस्यानन्तरं 'विपद्यान्मप्यरहं तस्य
दुर्पतम् । मय एव शान्तिमोक्षमार्थं यत्तुभेदितम्पद्य इत्युक्तम् । लोभवेदस्यारम्भं हरिर्न
करिष्यतीति शोक्तम् ।' इत्यधिकम् ।

श्रु	२२	पङ्क्ति	११	व्यस्य	दशम्
"	२२	"	२८	वा	स
"	२५	"	२१	विपद्ये	वत्ये